

ॐ

सर्वज्ञ वीतरागाय नमः

# गुरु कहान : दृष्टि महान

( भाग-९ )

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के  
द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

: गुजराती संकलन :

जीतुभाई नागरदास मोदी

प्रशम जीतुभाई मोदी

सोनगढ़

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा ( राज. )

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान मोक्षार्थी परिवार

सोनगढ़, जिला-भावनगर ( गुजरात )

मोबा. 09722833143

प्रथम आवृत्ति : प्रति 1000

प्राप्ति स्थान :

1. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट  
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),  
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
2. श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट ( मंगलायतन )  
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
3. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,  
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
4. श्री परमागम प्रकाशन समिति  
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
5. चिन्तन जीतुभाई मोदी, क्रमबद्ध निवास, 45 कहान नगर सोसाइटी, सोनगढ़ - 364250 (सौराष्ट्र)  
मोबा : 09662524460
6. पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन  
द्वारा मुकेश आयरन स्टोर, गुरु कहान मार्केट, बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)  
मोबा : 09461768086
7. श्री प्रदीप मानोरिया, मिल रोड, अशोकनगर, (म.प्र.), मोबा : 09425132060
8. श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट,  
पंच बालयति जिनालय, एरोडूम रोड, साधनानगर, इन्दौर (म.प्र.)
9. श्री अश्विनभाई ए. शाह,  
बी-21, रुस्तमजी आदर्श हेरीटेज ऑफ मार्वे रोड,  
आदर्श काम्पलेक्स विहार, मलाड (वेस्ट) मुम्बई-64 , मोबा : 09820124378

टाईप-सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रक :

## प्रकाशकीय

तीर्थकरदेव का जन्म जगत के कल्याण के लिये होता है, इसी प्रकार अनन्त-अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का जन्म, इस निकृष्ट काल में यहाँ जन्मे हुए और भविष्य में भी यहाँ जन्म लेनेवाले अल्प संसारी जीवों को भाग्यशाली बनाने के लिये तथा उन्हें संसार-समुद्र से पार उतारने के लिये हुआ था। अन्तिम सैंकड़ों वर्षों का जैन इतिहास कहता है कि भव्य जीवों के तारणहार ऐसे महान सन्त यदि कोई हुए हों तो उनमें कृपासिन्धु पूज्य गुरुदेवश्री ही प्रधान पुरुष हैं। उन्होंने इस भौतिक युग को अध्यात्मयुग में परिवर्तित करके पंचम काल के अन्त तक टिका रहे - ऐसा अध्यात्मयुग सृजित किया है।

ऐसे अध्यात्मयुगसृष्टा, अध्यात्म क्रान्तिवीर पूज्य गुरुदेवश्री की 45-45 वर्ष प्रवाहित अध्यात्म गंगा का अमृतपान करनेवाले महान भाग्यशाली भव्य मुमुक्षुओं को तो उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आज भी पूज्य गुरुदेवश्री साक्षात् रूप से अनुभव में आ रहे हैं, परन्तु उनके दर्शन-श्रवण और सत्संग का जिन्हें साक्षात् लाभ प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे भव्य जीवों को, इन महापुरुष ने जो द्रव्यदृष्टि प्रधान दिव्यदेशना का प्रपात बहाया, उसका साक्षात्त्व लाभ मिले, वह इस **गुरु कहान : दृष्टि महान** के प्रकाशन का हेतु है।

यह जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक जा आया, अनन्त बार नग्न दिग्म्बर द्रव्यलिंग धारण किया, अनन्त बार समवसरण में जा आया, तथापि कोरा रह गया, उसका मुख्य कारण यदि कोई हो तो वह एक ही है कि द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना को इस जीव ने कभी ग्रहण नहीं किया—ऐसा पूज्य गुरुदेवश्री करुणा से बारम्बार कहते थे और इसीलिए उस द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना का उन्होंने जीवनपर्यन्त प्रपात बहाया है। पूज्य बहिनश्री भी कहती थीं कि 'मानो कोई बड़े आचार्य उपदेश देते हों, वैसे दृष्टि के विषय का अपूर्व स्पष्टीकरण होता था' .... 'दृष्टि का विषय आवे, तब उछल जाते थे।' यद्यपि उनकी सर्वांगी उपदेश गंगा में न्यूनाधिक योग्यतावाले सर्व जीवों को आत्म-लाभ हो, ऐसा निश्चय-व्यवहार का सम्पूर्ण उपदेश बोध बहा है। मुमुक्षु की पात्रता कैसी हो, अशुभ से बचने को शुभ में जुड़ाना कैसा हो, इत्यादि उपदेश देने पर भी कहीं किसी को मुख्यता न हो जाये तथा उसमें जोर दिये बिना उस व्यवहारमार्ग प्रकाशन के साथ मुख्यरूप से तो द्रव्यदृष्टि मार्ग प्रकाशक निश्चय की ही मूसलाधार वर्षा की है। जिससे भद्र जीव अनादि के संस्कारवश मन्दकषाय आदि व्यवहारमार्ग में न अटककर, निश्चयमोक्षमार्ग को यथार्थ समझकर उसका ही ग्रहण करके यह भव सफल करने के लिये स्वानुभूति का सत्पुरुषार्थ अपनायें।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्मयुग का सृजन किया ही है परन्तु बहुत स्पष्ट कहें तो वस्तुतः वे द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक हैं क्योंकि जिस द्रव्यदृष्टि प्रधान निश्चय के बोध से जीव निश्चयाभास के डर से भयभीत होते थे, उसके बदले आपश्री के प्रताप से भव्यजीव दिन-रात उस निश्चय का घोलन, चिन्तन श्रवण करने में ही जीवन की धन्यता अनुभव करते हैं।

द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक पूज्य गुरुदेवश्री की उपदेश अमृत वाणी को श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट के तत्कालीन प्रमुख श्री नवनीतभाई झवेरी की दीर्घदृष्टि से टेप में संगृहित करके चिरकालपर्यन्त सुरक्षित बनायी तथा लगभग 9000 घण्टे की इस गुरुवाणी को स्वर्गीय श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह परिवार ने अद्यतन टेक्नोलॉजी द्वारा मात्र 16 डीवीडी में तथा तीन वीडि (Blueray Disk) में (जनवरी 2010 तक में) प्रसिद्ध करके मुमुक्षु जगत पर परम उपकार किया है, जिस कारण भावी के भव्य जीव भी आत्महित के मार्ग में सरलरूप से प्रयाण कर सकेंगे। ऐसे होने पर भी, पंचम काल के प्रभाववश कितने ही तत्त्व के अभ्यासियों द्वारा द्रव्यदृष्टि प्रधान तत्त्वज्ञान के पुरुषार्थ में भय प्रकाशन करते देखकर पूज्य गुरुदेवश्री के 9000 टेप प्रवचनों में से द्रव्यदृष्टि प्रधान विशेष पुरुषार्थ प्रेरणादायक प्रवचन चुन-चुनकर **गुरु कहान : दृष्टि महान** रूप से सीडी प्रवचन मुमुक्षु समाज को उपलब्ध कराने की हमें भावना जागृत होने से हमने भाग 1 से 11 तक प्रसिद्ध किया, जिसका श्रवणपान करते हुए गुरु-भक्तों का ध्यान गया कि सीडी प्रवचन का श्रवण करते समय हाथ में अक्षरशः गुरुवाणी की पुस्तक हो तो प्रवचन का भाव विशेषरूप से समझना सरल बने। इसलिए गुरु भक्तों की भावना को साकार करने का निर्णय किया और हिन्दी भाषी समाज भी इन प्रवचनों का लाभ ले, इस भावना से एक मुमुक्षु परिवार द्वारा इस प्रकल्प की नौवीं पुस्तक प्रकाशित हो रही है। मुमुक्षु परिवार की अनिच्छा के कारण उनका नाम प्रसिद्ध नहीं किया जा रहा है।

इस पुस्तक प्रकाशन के दो मुख्य प्रयोजन हैं - (1) जिन्हें करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रत्यक्ष दर्शन-श्रवण का लाभ नहीं मिला, ऐसे भव्य जीवों को गुरुदेवश्री के द्रव्यदृष्टि प्रधान अन्तःकरण समझने का सौभाग्य प्राप्त हो तथा (2) पंचम काल के प्रभाव में आकर प्रमाण के लोभ में अटककर द्रव्यदृष्टि के मार्ग में निःशंकरूप से प्रयाण करने में हिचकिचाहट न हो, इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री की भव्य जीवों को संसार-समुद्र से उभर लेने की करुणा सफलता को प्राप्त हो।

अन्त में, पूज्य गुरुदेवश्री 91 वर्ष की उम्र में भी जिस द्रव्यदृष्टि की प्ररूपणा करते हुए अन्दर से उछल पड़ते थे उस द्रव्यदृष्टि प्रधान उपदेश को **गुरु कहान : दृष्टि महान** के माध्यम से शीघ्र ग्रहण करके भावी अनन्त काल गुरु के सान्निध्य को प्राप्त करे - ऐसी भावना के साथ....

संकलनकार / अनुवादक

## अर्पण

जो वर्तमान युग में क्रमबद्धपर्याय का शंखनाद करनेवाले के रूप में जैन जगत् में प्रसिद्ध हैं; जो जैन जगत् में समयसार के प्रखर प्रचारक के रूप में मशहूर हैं; जो द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जनहार हैं; जिन्होंने शास्त्रों के शब्दों में छिपे हुए आचार्यों के गूढ़ भावों को खोलने की अद्भुत शक्ति द्वारा भव्य जीवों पर वचनातीत परम उपकार किया है; जिनकी शीतल छत्रछाया में जीवन व्यतीत करने का परम सौभाग्य हमारे पिताश्री को प्राप्त हुआ था, उन असीम करुणासागर, पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति धर्मपिता पूज्य गुरुदेवश्री को, उनके ही द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचनों के अमूल्य खजाने में से चुने हुए 25 प्रवचनों के संकलनरूप यह 'गुरु कहान : दृष्टि महान' भाग-9 अर्पण करते हुए हम जीवन की धन्यता अनुभव कर रहे हैं।

- संकलनकार





## श्री समयसारजी-स्तुति



( हरिगीत )

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,  
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;  
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,  
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

( अनुष्टुप )

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साधिया अमृतने पूर्या,  
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

( शिखरिणी )

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,  
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;  
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,  
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोडे परिणति।

( शार्दूलविक्रीडित )

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,  
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;  
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,  
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

( वसंततिलका )

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,  
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;  
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,  
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

( अनुष्टुप )

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;  
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।



## श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,  
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;  
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,  
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।  
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,  
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;  
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,  
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,  
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;  
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,  
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,  
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;  
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,  
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,  
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;  
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,  
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

## अध्यात्म युगस्त्रष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

( सम्पूर्ण जीवनदर्शन, संक्षिप्त में )

ऐवा ए कलिकालमां जगतनां कंई पुण्य बाकी हतां,  
जिज्ञासु हृदयो हतां तलसतां सद्द्वस्तुने भेटवा;  
ऐवा कंईक प्रभावथी गगनथी ओ कहान! तुं ऊतरे,  
अंधारे डूबतां अखंड सत्ने तुं प्राणवंतुं करे।

वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थकरदेव के पूर्व के भोगभूमि के एक भव में, सम्यक्त्वप्राप्ति की इनकी काललब्धि पकने पर आकाश में से दो-दो मुनिराज उतरते हैं। अन्तिम तीर्थकरदेव के पूर्व के सिंह के भव में, सम्यक्त्वप्राप्ति की उनकी काललब्धि पकने पर, आकाश में से दो-दो मुनिराज घोर जंगल में उतरते हैं। उपादान तैयार होने पर मानो कि निमित्त को स्वयं उपस्थित होना पड़ता है—इस न्याय से, लाखों भव्य जीवों की तत्त्वजिज्ञासा-तृप्ति का काल पकने पर, सीमन्धर सभा में देशना का श्रवण-पान करके स्वर्ग जाने को सक्षम ऐसे राजकुमार का जीव, मानो कि भवीजन भाग्यवश अपना मार्ग बदलकर गगन में से यहाँ भरतभूमि में उतरा!

भगवान श्री महावीरस्वामी द्वारा समुपदिष्ट तथा आचार्य शिरोमणि श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव आदि निर्ग्रन्थ दिगम्बर सन्तों द्वारा शास्त्र में सुरक्षित वीतरागमार्ग जब रूढ़िगत साम्प्रदायिकता की देहाश्रित बाह्यक्रिया और अध्यात्म तत्त्वज्ञान शून्य भक्तिमार्ग के अन्धकार में डूब रहा था, ऐसे इस कलिकाल में वीतरागमार्ग के अखण्ड सत् को प्रवर्तन करने के लिये भारतदेश के गुजरात राज्य में भावनगर जिला के उमराला गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा के गर्भ से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज दिनांक 21-04-1890, रविवार को प्रातः सबेरे तेजस्वी कहान सूर्य का उदय हुआ।

सात वर्ष की उम्र में पाठशाला में लौकिक शिक्षा ग्रहण करना शुरु किया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि प्रतिभा, मधुर भाषीपना, शान्तस्वभाव, गम्भीर मुखमुद्रा तथा स्वयं करने का स्वभाव होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों में तथा विद्यार्थियों में प्रिय हो गये। विद्यालय में तथा जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था परन्तु विद्यालय के लौकिक अभ्यास से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ और गहरे-गहरे ऐसा लगता था कि मैं जिसकी शोध में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में मातुश्री के अवसान से पिताजी के साथ पालेज जाना हुआ। चार वर्ष पश्चात् पिताजी का स्वर्गवास होने पर सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यापार में संलग्न हुए।

व्यापार की प्रवृत्ति के समय भी वे किंचित् भी अप्रमाणिकता चला नहीं लेते थे। सत्यनिष्ठ, नीतिमत्ता, निखालिसता, और निर्दोषता से उनका व्यवहारिक जीवन सुगन्धित था; इसके साथ ही उनका आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध की ओर ही था। दुकान में भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते। वैरागीचित्तवाले कहान कुँवर रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते, तब उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते, जिसके फलस्वरूप सत्रह वर्ष की उम्र में उज्ज्वल भविष्य की सूचना करता बारह लाईन का काव्य — 'शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव' की रचना की थी।



उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि के आहार-पानी तथा अथाणा (अचार) का त्याग किया था। सत्य की शोध के लिये दीक्षा लेने के भाव से बाईस वर्ष की युवावय से दुकान का परित्याग किया और गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया था। पश्चात् चौबीस वर्ष की उम्र में (विक्रम संवत् 1970) जन्मनगरी उमराला में लगभग 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय के वैरागी साधु हीराजी महाराज के समीप दीक्षा अंगीकार की थी। दीक्षा के समय हाथी पर बैठने जाते हुए धोती फटने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक गुरुवर को शंका हो जाती है कि कुछ गलत हो रहा है।

दीक्षा लेने के पश्चात् सत्य के शोधक इस महात्मा ने स्थानकवासी तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में ही पूरा किया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चाएँ चलीं—कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र तो प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व के संस्कार के बल से उन्होंने दृढ़तापूर्वक सिंह-गर्जना की कि 'जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म और पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुलटे पुरुषार्थ से नाश करता है।'

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन उद्धार का और लाखों मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय सूचक एक मंगलकारी पवित्र प्रसंग बना :

बत्तीस वर्ष की उम्र में विधि की किसी धन्य पल में दामनगर में दामोदर सेठ द्वारा श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित समयसार नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के कर-कमल में आया और उसका अध्ययन तथा चिन्तन करते-करते पूर्व के संस्कार के बल से अन्तर में आनन्द और उल्लास उमड़ने से इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — 'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी हुई परिणति ने निज घर देखा अर्थात् आपश्री को वैशाख कृष्ण आठ के दिन सम्यग्दर्शन हुआ।

विक्रम संवत् 1982 के चातुर्मास से पूर्व राजकोट में श्री दामोदरभाई लाखाणी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री को प्रदान किया। जिसे पढ़ने से स्वयं के हृदय की अनेक बातों का समर्थन इस ग्रन्थ में से प्राप्त हो जाने से वे उसके वाँचन में इतने ओतप्रोत हो जाते थे कि उस समय उन्हें खाना-पीना और सोना भी नहीं रुचता था। तत्पश्चात् अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेश कुछ ऐसी स्थिति उन्हें असह्य हो गयी; इसलिए अन्तर में बहुत मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय छोड़ने का निर्णय किया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थल की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में 1991 के फाल्गुन कृष्ण पंचमी के दिन निवास किया और महावीर जन्मकल्याणक के दिन (विक्रम संवत् 1991, चैत्र शुक्ल तेरह) दोपहर सवा बजे भगवान पार्श्वनाथ के फोटो के समक्ष सम्प्रदाय के चिह्न मुँहपत्ती का त्याग किया और घोषित किया कि — 'अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं, मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।' सिंह समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने, पैंतालीस वर्ष की उम्र में अन्तर में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

'स्टार ऑफ इण्डिया' में सवा तीन वर्ष दौरान जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान अत्यन्त छोटा पड़ने लगा; इसलिए भक्तों ने इन परम प्रतापी सत्पुरुष के लिये निवास और प्रवचन का मकान 'श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1994 के वैशाख कृष्ण आठ के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह 'स्वाध्यायमन्दिर'

जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीर शासन की प्रभावना का केन्द्र बना रहा।

यहाँ दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे-बड़े लगभग 183 ग्रन्थों का गहराई से अभ्यास किया। उनमें से 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये; जिसमें समयसार पर तो 19 बार अध्यात्म वर्षा की थी। प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह, अष्टपाहुड, परमात्मप्रकाश, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी अनेक बार प्रवचन किये।

विक्रम संवत् 1981 में गडदा में पन्द्रह वर्ष की उम्र में पूज्य शान्ताबेन को पूज्य गुरुदेवश्री के प्रथम दर्शन और प्रवचन श्रवण का लाभ प्राप्त हुआ। विक्रम संवत् 1985 में वढ़वाण में पन्द्रह वर्ष की उम्र में पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को पूज्य गुरुदेवश्री के प्रथम दर्शन और प्रवचन श्रवण का लाभ प्राप्त हुआ। विक्रम संवत् 1986 में वींछिया में पूज्य गुरुदेवश्री के दर्शन और प्रवचन श्रवण के लिये दोनों बहिनों को जाना होने पर वहाँ प्रथम बार दोनों बहिनों का परिचय हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री ने परिवर्तन करने के पश्चात् सोनगढ़ में दोनों बहिनों ने साथ में रहना शुरु करके जीवनपर्यन्त साथ रहकर पूज्य गुरुदेवश्री की देशना द्वारा अपनी-अपनी आत्मसाधना करते रहकर शासन की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा की थी। गुरुशासन-प्रभावना में दोनों बहिनों का उल्लेखनीय विशेष योगदान रहा था।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 के फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन श्री नानालालभाई इत्यादि जसाणी भाईयों के योगदान द्वारा नवनिर्मित श्री दिगम्बर जिन मन्दिर में कहानगुरु के मंगल हस्त से श्री सीमन्धरादि भगवन्तों की पंचकल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर जिन मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही देखने को मिलते थे। ऐसे क्षेत्र में गुरुदेवश्री की पावन प्रेरणा से प्रथम जिन मन्दिर निर्मित हुआ। प्रतिदिन दोपहर प्रवचन के पश्चात् जिन मन्दिर में आधे घण्टे भक्ति में जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे। बहुत बार आपश्री अति भाववाही भक्तिपान कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धिपूर्वक का था।

विक्रम संवत् 1997 में दिगम्बर जैन समाज के तत्कालीन प्रमुख दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज, श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा करके सोनगढ़ पधारे; पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन सुनकर तथा तत्त्वचर्चा करके इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने गुरुदेवश्री को लक्ष्य करके कहा कि — 'तीर्थंकर अकेले मोक्ष नहीं जाते; यहाँ कुछ ऐसा योग है-ऐसा हमें लगता है।'—अर्थात् पूज्य गुरुदेवश्री भविष्य में तीर्थंकर होंगे—ऐसा दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख आचार्य को लगा था।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों-मुनिवरों तथा आत्मानुभवी पण्डितवर्यों के ग्रन्थों, पण्डित श्री हिम्मतभाई जे. शाह के गुजराती में अनुवादित श्री समयसारादि परमागम और पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर प्रवचनों की पुस्तकें प्रकाशित करने का कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943) से शुरु हुआ। उस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहरा रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश देश-विदेश के समस्त मुमुक्षुओं को नियमित प्राप्त होता रहे, इस हेतु से सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के मगसर (दिसम्बर 1943) महीने से 'आत्मधर्म' नामक मासिक आध्यात्मिक

पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट के स्थापक आध्यप्रमुख मुरब्बी श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी के सम्पादन तले प्रारम्भ हुआ। आज भी आत्मधर्म गुजराती तथा हिन्दी भाषा में नियमितरूप से प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्ध करता हुआ 'श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' सितम्बर 1950 से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभूतिविभूषित इन चैतन्य विहारी महापुरुष की मंगल वाणी पढ़कर तथा सुनकर हजारों स्थानकवासी, श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैन धर्म के अनुयायी हुए। अरे... मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का सिंचन हो इस हेतु से सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने से गर्मी का बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षणवर्ग शुरु हुआ। बड़ों के लिये प्रौढ़ शिक्षणवर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने में प्रारम्भ किया गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री की देशना का सामर्थ्य प्रसिद्ध करता एक प्रसंग ईस्वी सन् 1946 में बना। अजमेर निवासी श्री निहालचन्द्रभाई सोगानी सोनगढ़ आये और प्रथम बार ही पूज्य गुरुदेवश्री के दर्शन का लाभ सम्प्राप्त हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनकर रात भर आत्म मन्थन करते-करते प्रातः काल अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव प्राप्त करके जैन जगत को प्रतीति करायी कि यदि तुम्हारा पुरुषार्थ और गुरु के प्रति अर्पणता गाढ़ हो तो इन महापुरुष की देशना इतनी प्रखर है कि इनका एक ही प्रवचन-श्रवण भव्यजीवों के भवान्त का प्रबल निमित्त बनने की सामर्थ्य रखता है।

विक्रम संवत् 2003 में निर्मित भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचनमण्डप के शिलान्यास प्रसंग पर इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्दजी, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अत्यन्त अहोभाव से बोले थे कि 'आपके पास मोक्ष जाने का सीधा रास्ता है।'

विक्रम संवत् 2003 में पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल छत्रछाया में 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्' का तीसरा अधिवेशन पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी (बनारस) की अध्यक्षता में आयोजित किया गया था, जिसमें दिगम्बर जैन समाज के सुप्रसिद्ध बत्तीस विद्वानों ने लाभ लिया था। पूज्य गुरुदेवश्री की देशना से प्रभावित होकर उन्होंने सर्व सम्मति से एक विशाल प्रस्ताव पारित किया था जिसमें स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया कि '....भगवान कुन्दकुन्द की वाणी समझकर महाराजश्री ने मात्र स्वयं को ही पहचान है—ऐसा नहीं परन्तु हजारों-लाखों मनुष्यों को एक जीवन उद्धार के सत्यमार्ग पर चलने का उपाय दर्शा दिया है.....'

दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य पण्डितश्री कैलाशचन्द्रजी ने अपनी पत्रिका के सम्पादकीय लेख में पूज्य गुरुदेवश्री की विशेषता दर्शाते हुए लिखा कि यदि कानजीस्वामी इस युग में न हुए होते तो हमारे लिये समयसार ग्रन्थ मात्र दर्शनीय रह जाता अर्थात् पूज्य गुरुदेवश्री के कारण समयसार जैसे ग्रन्थ का स्वयं को अभ्यास करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। फिर से उसी पत्रिका के सम्पादकीय लेख में पूज्य गुरुदेवश्री का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा कि कानजीस्वामी निमित्त को नहीं मानते, ऐसा नहीं है लेकिन वे निमित्त से कुछ नहीं होता है - ऐसा मानते हैं। इस प्रकार मूल दिगम्बर सम्प्रदाय में भी समयसार स्वाध्याय युग सृजक पूज्य गुरुदेवश्री की प्रतिभा प्रसिद्धि को प्राप्त हुई थी।

लाडनूँ निवासी श्री रतनलाल गंगवाल के पिताश्री बच्छराजजी, पूज्य गुरुदेवश्री की महिमा सुनकर सोनगढ़ आये; अत्यन्त प्रभावित होकर उन्होंने पूज्य बहिनश्री बेन की छत्रछाया में बालब्रह्मचारी बहिनों के

आवास के लिये 'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' का विक्रम संवत् 2008 में निर्माण किया।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित श्री समयसारादि पाँचों परमागम संगमरमर में उत्कीर्ण करके 'श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागममन्दिर' का उद्घाटन विक्रम संवत् 2030 में सोनगढ़ में छब्बीस हजार भक्तों की उपस्थिति में श्री साहू शान्तिप्रसादजी के हस्त से हुआ था।

ट्रस्टी श्री नेमिचन्दजी पाटनी (आगरा) के सफल संचालन में श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त विक्रम संवत् 2013 (ईस्वी सन् 1957) तथा विक्रम संवत् 2023 (ईस्वी सन् 1967) में — इस तरह दो बार समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मंगल विहार हुआ था। इसी प्रकार विक्रम संवत् 2015 (ईस्वी सन् 1959) और विक्रम संवत् 2020 (ईस्वी सन् 1964) में — इस तरह दो बार दक्षिण और मध्य भारत में मंगल विहार हुआ था। इस मंगल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासु जीवों ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये और आपश्री की भवान्तकारी अमृतमयी वाणी सुनकर अनेक भव्यजीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। फलस्वरूप भारत भर में महती धर्म प्रभावना हुई और सोनगढ़ के इन सन्त के प्रति लोगों में श्रद्धाभक्ति का उत्साह जागृत हो उठा। यात्रा के दौरान अनेक स्थानों से लगभग 80 अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये।

पौने छह महीने की 800 मुमुक्षु यात्रियों के साथ निकली हुई विक्रम संवत् 2013 की श्री सम्मेदशिखरजी की प्रथम यात्रा के समय ईसरी आश्रम में दिगम्बर जैन समाज के अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की उपस्थिति में क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीजी के साथ पूज्य गुरुदेवश्री की वात्सल्यता भरी बातचीत हुई; तब वर्णीजी ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि 'स्वामीजी की प्रसन्न मुद्रा मुझे बहुत पसन्द आयी और मुझे ऐसा लगा कि इस आत्मा के द्वारा समाज का कल्याण होगा।' तत्पश्चात् मधुवन (शिखरजी) में अनेक दिगम्बर मुनियों, विद्वानों, वर्णीजी सहित अनेक त्यागियों और पाँच हजार से अधिक श्रोतागण के समक्ष पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन श्रवण से प्रभावित होकर सैकड़ों पण्डितों के विद्यापति पण्डित बंशीधरजी (इन्दौर) ने हिम्मतपूर्वक स्पष्ट प्रसिद्ध किया कि '.....आपकी वाणी में तीर्थकरों का और कुन्दकुन्दस्वामी का ही हृदय है।' भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के अध्यक्ष पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन-सत्समागम से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे अपनी रूढ़िगत मान्यता छोड़कर पूज्य गुरुदेवश्री के अनुयायी बन गये।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले तथा कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों का रहस्योद्घाटन करनेवाले इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को श्री नवनीतभाई झबेरी की दीर्घ दृष्टि के कारण श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट द्वारा ईस्वी सन् 1959 से नवम्बर 1980 तक टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षितरूप से उपलब्ध हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल उपस्थिति में ही भारत भर में-विशेषरूप से हिन्दी समाज में तथा नैरोबी, लन्दन, स्वीटजरलैण्ड, हांगकांग, अमेरिका, केनाडा आदि विदेशों में अगणित संख्या में टेप रील तथा कैसेटों से ट्रस्ट के कैसेट विभाग द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का मुमुक्षुओं ने लाभ प्राप्त किया था। हाल में सी.डी. युग शुरु होने पर स्वर्गीय शान्तिलाल रतिलाल शाह के परिवार द्वारा यह मंगलवाणी देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है, यह ऐसा प्रसिद्ध करती है कि भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को पंचम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

दशलक्षण पर्यूषण पर्व के दौरान भारतभर में अनेक स्थलों से पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के

प्रचार के लिये प्रवचनकार भेजे जाते हैं। पर्यूषण में सर्व प्रथम बाहर गाँव-राजधानी दिल्ली में-वाँचन करने के लिये सोनगढ़ से खीमचन्दभाई सेठ गये थे। वे तथा श्री लालचन्दभाई मोदी (राजकोट) और श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' (कोटा), पूज्य गुरुदेवश्री की सूक्ष्म तत्त्व प्ररूपणा का प्रचार करनेवाले अग्रेसर वक्ताओं में थे / हैं। प्रवचनकारों को भेजने की इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में जागृति आयी थी और आज भी देश-विदेश में पर्यूषण पर्व में सैंकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतराग वाणी का डंका बजाते हैं। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में नये-नये विद्वान तैयार करने के लिये श्री पूरणचन्दजी गोदिका द्वारा आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी की स्मृतिरूप से जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन का ईस्वी सन् 1967 में निर्माण हुआ, जिसका उद्घाटन पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल उपस्थिति में आपश्री के आशीर्वाद से हुआ था। नये प्रवचनकार विद्वानों को प्रवचन पद्धति के लिये प्रशिक्षित करने के लिये प्रतिवर्ष प्रशिक्षण वर्ग जयपुर से प्रारम्भ किया गया था। उत्तर गुजरात तथा हिन्दी प्रान्त में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्ररूपित तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में पण्डित श्री बाबूभाई फतेपुरवाले का विशेष योगदान रहा था।

भगवान श्री महावीरस्वामी के पश्चात् इस युग में जब बौद्ध सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव था, तब समर्थ आचार्यश्री अकलंकदेव ने तत्कालीन प्रमुख बौद्ध आचार्य के साथ वाद-विवाद करके उनकी पराजय करने से जैन समाज में जय-जयकार हुआ था; इसी प्रकार अक्टूबर 1963 में खानियां (जयपुर) में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रखर पण्डितों और कानजीस्वामी के अनुयायीरूप से प्रसिद्ध पण्डित श्री फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री के बीच कितने ही दिनों तक लिखित प्रश्नोत्तर द्वारा तत्त्वचर्चा होने पर, पण्डित श्री फूलचन्दजी द्वारा उन पण्डितों की रूढ़िगत मान्यताओं का शास्त्रों के आधार द्वारा पराजय होने से पूज्य गुरुदेवश्री ने अत्यन्त भावविभोर होकर जैनदर्शन के सत्यमार्ग की विजय सम्बन्धी पण्डित फूलचन्दजी के लिये अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था कि — पण्डित फूलचन्दजी ने बहुत काम किया है, बहुत मेहनत की है। शास्त्र से आधार देकर बराबर सच्ची श्रद्धा को टिका रखा है। ऐसा यह एक पण्डित निकला! शास्त्र के पण्डितरूप से पढ़कर स्व-आश्रय और पर-आश्रय इस बोल को टिका रखा; बहुत जोरदार बात है। हजारों बोल ओहो...हो...! बहुत ज्ञान है। अभी चलता यह पन्थ-विपन्थ, उसमें यह बात बाहर रखना! बहुत हिम्मत की है। इस ऐतिहासिक प्रसंग में पूज्य गुरुदेवश्री की अत्यन्त भावविभोर प्रसन्न मुखमुद्रा देखकर भक्त रोमांचित हो गये थे।

जन्म-मरण से रहित होने के सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्य विहारी पुरुष के मंगलकारी जन्मोत्सव मनाने की शुरुआत 59 वें वर्ष से हुई। 75 वीं हीरक जयन्ती के प्रसंग पर समस्त भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित 800 पृष्ठ का एक सजिल्द अभिनन्दन ग्रन्थ इन भावी तीर्थाधिनाथ को भारत सरकार के तत्कालीन मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में मुम्बई में अर्पण हुआ था। योगानुयोग थोड़े ही दिनों में वे भारत के प्रधानमन्त्री बने थे।

विक्रम संवत् 2037 के कार्तिक कृष्ण सात, दिनांक 28-11-1980, शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष देहादि का लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तर्ध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज ज्ञायक में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने भरतक्षेत्र में से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। जैसे नव पल्लवित वटवृक्ष शुरुआत में स्वयं अपनी विशालता को समृद्ध करता हुआ विशालकाय बन जाने के बाद, उसमें से अनेक वटवृक्षों का नवसृजन करता है, इसी प्रकार सोनगढ़ के इन सन्त ने शुरुआत में स्वयंभूरूप से अध्यात्मयुग का नवसृजन किया और उनकी

विशाल प्रभावना छाया में देश-विदेश में—जयपुर, देवलाली, अलीगढ़, दिल्ली, गाँधीनगर, सोनागिर, बांसवाड़ा, इन्दौर, द्रोणागिर, नागपुर, गजपंथा, कोटा इत्यादि तथा नैरोबी, लन्दन, अमेरिका इत्यादि क्षेत्रों में—स्थापित संस्थाओं द्वारा आपश्री ने प्ररूपित तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा आपश्री द्वारा नवसृजित अध्यात्मयुग को युग के अन्त तक टिका रखने का भी आपके पुण्य प्रताप से बना है। इस प्रकार आपश्री वीतरागी शासन को प्राणवन्त करते गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान और असाधारण व्यक्ति थे। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से आत्मसात भी किया।

श्री वीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् इन धारावाही 45 वर्षों का समय (वीर संवत् 2061 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्ण काल था। जो कोई मुमुक्षु अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी जाते थे, उन्हें तो वहाँ चतुर्थकाल का ही अनुभव होता था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 दौरान पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के निर्देशन में तथा पूज्य शान्ताबेन के भक्ति उल्लासपूर्ण संचालन में सौराष्ट्र-गुजरात उपरान्त भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में—इस प्रकार कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मंगल प्रतिष्ठा इन धर्मयुगस्रष्टा सत्पुरुष के करकमल द्वारा हुई थी।

आपश्री की अध्यात्मदेशना के प्रभाव से श्री सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, श्री समवसरण मन्दिर, श्री मानस्तम्भजी, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागममन्दिर, श्री पंचमेरु-नन्दिश्वर जिनालय जैसे जिनायतनों के निर्माण से आज स्वर्णपुरी जैनजगत में आत्मसाधना का तीर्थधाम बन गया है और निकट भविष्य में 41 फीट की भगवान श्री बाहुबली के खड्गासन जिनबिम्ब की तथा जम्बूद्वीप के अनेक जिनबिम्बों की स्थापना होने पर पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि स्वर्णपुरी आकर्षक अजायबीरूप से विश्व के नक्शे में स्थान प्राप्त करेगी।

इन विदेहदशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल था, उतना बाह्य जीवन भी पवित्र था। पवित्रता और पुण्य का सहजयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही देखने को मिलता है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत सम्भाषण, करुण और सुकोमल हृदय उनके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव थे। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय, यही उनका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे हमेशा सतर्क और सावधान थे। वे जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित, मात्र अपनी ही साधना में तत्पर रहे। भावलिंगी मुनियों के वे परम उपासक थे।

स्वयं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक होने पर भी उनका जीवन-व्यवहार और परिणाम की स्थिति अत्यन्त उच्चकोटि की थी। तीर्थंकर का द्रव्य होने से जगत के जीव आत्मकल्याण को प्राप्त करें—ऐसी करुणा वर्तती होने से 91 वें वर्ष में भी गाँव-गाँव में विहार करके भव्यजीवों की तत्त्व जिज्ञासा शान्त करते थे, तथापि वे इतने निस्पृही थे कि उन्होंने कभी भी किसी को भी जिनमन्दिर बनाओ या स्वाध्यायमन्दिर बनाओ, ऐसा कहना तो दूर रहा, संकेत तक नहीं किया था।

जीवों के आत्मकल्याण की करुणा होने पर भी इतने निर्ममत्वी थे कि कभी किसी को भी पूछा नहीं था कि तुम रोज स्वाध्याय करते हो न ?

कोई व्यक्ति जीवनपर्यन्त तत्त्वज्ञान न समझने से पूज्य गुरुदेवश्री का विरोध करता हो और उस व्यक्ति को अपने अज्ञान के लिये पश्चाताप होने पर पूज्य गुरुदेवश्री से क्षमा याचना करता हो, तब पूज्य गुरुदेवश्री को

शर्म... शर्म... अनुभव में आती थी और कहते थे कि भूल जाओ... भूल जाओ... भगवान ने भी अपने भूतकाल में भूल करने में कुछ बाकी नहीं रखा था। तुम भगवान हो-ऐसा हम देखते हैं और तुम भगवानरूप से देखो-ऐसी तो निर्मानता थी।

तत्त्वविरोध के कारण दैनिक पत्र में और पत्रिका में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अनुचित लेख छपें तो भक्त उनका विरोध करनेवाले हों तो आपश्री कहते हैं कि भाई! हमारा कोई विरोधी नहीं है। कोई हमारा विरोध नहीं करता, हम किसी को विरोधी नहीं देखते, हम तो सबको भगवानरूप से देखते हैं। चाहे जैसा लेख लिखकर विरोध करनेवाला भी यदि प्रवचन सुनने आता हो तो उसे सभा में आगे बैठने बुलाते और प्रवचन में वात्सल्यभाव से उसे सम्बोधित करते। पूरे जीवन दौरान किसी भी व्यक्ति ने कैसा भी विरोध किया हो, वह भी यदि एक बार पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्यक्ष दर्शन-सत्समागम में आता तो वह जीवन भर उनका अनुयायी बन जाता। क्षमावाणी के दिन प्रवचन सभा में प्रसिद्धरूप से कहते कि किसी जीव को हमारे द्वारा पर्यायदृष्टि से देख लिया गया हो तो हम क्षमा चाहते हैं। सब जीव भगवान हैं - ऐसी तो उनकी करुणामय क्षमा भावना थी।

जीवन में निस्परिग्रही तो ऐसे कि पैंतालीस-पैंतालीस वर्षों तक स्वाध्यायमन्दिर के एक ही कमरे में रहे कि जहाँ जिनवाणी-स्वाध्याय के लिये एक बैठक, सोने के लिये एक गद्देवाली बैंच और त्यागी को योग्य मात्र चार जोड़ी कपड़े! और स्वाध्याय के लिये सैकड़ों शास्त्रों से भरी हुई अलमारियाँ!!

देश और दुनिया में क्या हो रहा है, यह जानने का कौतुहल नहीं होने से कभी भी न्यूज पेपर तक पढ़ा नहीं था।

रसना के अलोलुपी-निःस्वादी तो इतने कि जीवनभर कभी भी दो-तीन सब्जी के अतिरिक्त न तो कोई सब्जी चखी थी, मूँग की दाल के सिवाय न तो कोई दाल या कढ़ी चखी थी, न तो कोई चटनी, मिर्च चखी थी, न तो कोई मिठाई या फरसाण अथवा मुखवास चखा था। मानो कि कोई त्यागी-व्रती हो, वैसा उनका जीवन था।

करुणाशीलता का सागर होने पर भी, तत्त्व में इतने निर्भीक और सत्यमार्ग प्रवक्ता थे कि किसी भी लौकिक महानुभाव का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता था। एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी तथा एक त्यागी व्रती द्वारा उद्दिष्ट भोजन सम्बन्धी कुछ स्वयं कहने सम्बन्धी पूज्य गुरुदेवश्री को संकेत किया जाने पर आपश्री ने बहुत स्पष्टरूप से कहा कि अपने लिये बनाया हुआ आहार—उद्दिष्ट भोजन—प्राण जाये तो भी मुनिराज नहीं लेते। देशकाल के नाम से सर्वज्ञ कथित शुद्ध आमनाय का उल्लंघन कैसे किया जाये? विक्रम संवत् 1994 में स्वाध्यायमन्दिर के उद्घाटन प्रसंग पर भावनगर के महाराजा श्री कृष्णकुमारसिंहजी (देश के प्रथम राज्यपाल-मद्रास के) सोनगढ़ आये; उन्हें आपश्री ने प्रवचन में कहा कि थोड़ा माँगे वह छोटा भिखारी, बड़ा माँगे वह बड़ा भिखारी-वर्ष में पाँच हजार चाहिए हो, वह छोटा भिखारी और पाँच लाख चाहिए हो, वह बड़ा भिखारी! श्रीमद् राजचन्द्रजी को अपने धर्मगुरु माननेवाले राष्ट्रपिता गाँधीजी विक्रम संवत् 1995 में राजकोट में प्रवचन में आये। पूज्य गुरुदेवश्री ने अपनी तत्त्व की मस्ती में कहा कि मैं दूसरे की सेवा कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है। यह बात गाँधीजी को इतनी अधिक स्पर्श कर गयी कि कितने ही वर्षों के बाद उन्होंने किसी से पूछा कि मुझे मूढ़ कहनेवाले महाराज अभी कहाँ विचरते हैं?

गुण प्रशंसक तो इतने कि किसी ने भी शासन सम्बन्धी प्रशंसनीय कार्य किया हो - चाहे वह अपना शिष्य भले हो तो भी उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते थे।

- ऐसी अनेक उच्चकोटि की परिणति और अध्यात्म तत्त्वज्ञान से भरपूर उपदेश के सुसंगम के कारण प्रथम परिचय में ही श्रोता उनके प्रति भावविभोर बनकर उनके अनुयायी बन जाते थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन अनुभूति विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से, सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा, युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से समझाया था। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान का स्वपरप्रकाशकपना इत्यादि समस्त आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से बाहर आये थे। 'सैंकड़ों शास्त्रों के हमारे मन्थन का यह सार अन्दर से आया है।' — इस 'क्रमबद्धपर्याय' के शंखनाद द्वारा आपश्री ने जैन जगत को आन्दोलित किया। जैसे श्री समयसार का स्मरण करे तो कानजीस्वामी का स्मरण हुए बिना नहीं रहता; इसी प्रकार क्रमबद्धपर्याय शब्द कान में पड़े तो कानजीस्वामी का स्मरण हुए बिना रहना असम्भव है। आज देश-विदेश में लाखों जीव मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह आपश्री का ही परम प्रताप है।

करुणासागर, पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति, सम्यग्ज्ञानविभूषित इन महात्मा की महिमा का वर्णन शब्दातीत है; मात्र अहोभाव से अनुभवगम्य है।

'तू परमात्मा है-ऐसा निर्णय कर! तू परमात्मा है-ऐसा निर्णय कर!' — ऐसा महामन्त्र मुमुक्षुओं को देकर, भक्तों को भगवान बनने की प्रेरणा करनेवाले इन महापुरुष ने प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पन्थ जगत् में सदा जयवन्त वर्तों!

तीर्थकर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासनस्तम्भ श्री कहान गुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तों!

भवभीरु भव्यात्मा के भव का अभाव करनेवाले सत्पुरुष का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों!

हे ज्ञान पोषक सुमेघ तुझे नमूँ मैं  
इस दास के जीवनशिल्पी तुझे नमूँ मैं ॥

- जीतूभाई नागरदास मोदी, सोनगढ़



## अनुक्रमणिका

क्र.	शास्त्र	गाथा/श्लोक	तारीख	प्रवचन नं.	पृष्ठ
१.	श्री समयसार	६	२७-०९-१९६८	१९	१
२.	श्री समयसार	६	२८-०९-१९६८	२०	१७
३	श्री परमात्मप्रकाश	१६४	१३-०२-१९७७	२१५	३२
४	श्री नियमसार	९०, १२०	२५-११-१९७९	९१	४५
५	श्री समयसार कलश टीका	२५०	०९-१२-१९६५	२४४	५७
६	श्री समयसार कलश टीका	२५१	१०-१२-१९६५	२४५	७३
७	श्री समयसार कलश टीका	२५६	१९-१२-१९६५	२५४	९०
८	श्री समयसार	सर्वज्ञत्वशक्ति	०२-०९-१९६२	३५४	१०६
९	श्री समाधितन्त्र	३१-३२	१९-०१-१९७५	४०	१२३
१०	श्री परमात्मप्रकाश	५६	१६-०७-१९७६	३६	१३६
११	श्री परमात्मप्रकाश	७०	३१-०७-१९७६	४९	१५१
१२	श्री समाधितन्त्र	२०	०८-०१-१९७५	२९	१६४
१३	श्री परमात्मप्रकाश	५१	१३-११-१९७६	१३२	१७६
१४	श्री समयसार कलश टीका	१	३१-०८-१९६७	२	१९१
१५	श्री नाटक समयसार	१९ से २२	०७-०९-१९७१	१५५	२०६
१६	श्री समयसार	१	०२-०८-१९६६	२१९	२१०
१७	श्री समयसार	८७	१३-०६-१९६९	१६४	२३५
१८	श्री समाधितन्त्र	६५, ६६	०३-०७-१९७५	७९	२५३
१९	श्री समयसार	७१-७६	०५-१०-१९७६	१९२	२६५
२०	श्री नियमसार	१६७	३१-०७-१९८०	१९८	२७८
२१	श्री समयसार परिशिष्ट	२४८-२५०	२३-०९-१९८०	४७१	२८९
२२	श्री योगसार	३२-३४	२०-०६-१९६६	१३	३०४
२३	श्री समयसार	७५	१३-१०-१९६१	१०३	३२१
२४	श्री समयसार	३०८ से ३११	०३-०२-१९८०	३८३	३३६
२५	श्री बहिनश्री के वचनमृत	२३६-२३७	१२-०९-१९७८	९२	३४७

प्रवचन शुरु करने से पहले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया जानेवाला

## मांगलिक

॥ णमो लोए सव्व अरिहंताणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व सिद्धाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व आयरियाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व उवज्झायाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणम् ॥

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।

चित्स्वभावायभावाय सर्वभावान्तरच्छेद ॥

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।

मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

त्रिकाल दिव्यध्वनि दातार....



श्री परमात्मने नमः

# गुरु कहान : दृष्टि महान

अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के  
द्रव्यदृष्टिप्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

( भाग १ )

१

श्री समयसार, गाथा-६, प्रवचन - १९

दिनांक - २७-०९-१९६८

छठवीं गाथा। जीव का वास्तविक ज्ञायकभावपना क्या है, वह यहाँ सिद्ध करते हैं। आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं, ऐसा कहा न! उसमें से न्याय निकाला अमृतचन्द्राचार्य ने कि प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं, प्रमाद और अप्रमाद ऐसा गुणस्थान भेद नहीं, तो क्यों नहीं? कि जो ज्ञायकभाव त्रिकाल ज्ञायकद्रव्यस्वरूप वस्तु है, वह शुभ और अशुभ परिणाम—विकल्परूप परिणामी ही नहीं। वस्तु स्वयं द्रव्य जो है, ध्रुव है, ज्ञायकभाव जो है 'जाणगो दु जो भावो' ज्ञायक जो भाव है, वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। क्यों?—कि शुभ-अशुभरूप परिणामता नहीं इसलिए। समझ में आया? वस्तु जो ध्रुव ज्ञायकभाव एकरूप। एक कहा न एक? है न? ज्ञायक एक 'भाव' है... ऐसा शब्द है। पाठ में इतना 'जाणगो दु जो भावो' उसमें से निकाला। ज्ञायक एक भाव, ऐसा। वह शुभ-अशुभ विकल्प, परिणाम जो नये पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले, उनरूप द्रव्य होता नहीं। समझ में आया?

वस्तु ज्ञायक एक भाव स्वभाव, जो दृष्टि का विषय है। समझ में आया? वह स्वयं द्रव्यस्वभाव। कहा न, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाए तो वह द्रव्यस्वभाव—

ज्ञायकभाव अर्थात् एक शब्द लिया। एकरूप ज्ञायकभाव, वह शुभ-अशुभभाव जो अनेक, शुभ-अशुभभाव जो अनेक; ऐसा एकरूप ज्ञायकभाव उन शुभ-अशुभ अनेकभावरूप परिणमता नहीं। समझ में आया? यह गाथा मुद्दे की रकम की चलती है अब यहाँ से।

‘ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो’ मुनिदशा में हैं, इससे मुनि को अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भाव पर्याय में हुआ करते हैं, कहते हैं कि परन्तु वह ज्ञायकभाव एकरूप है, वह इन रूप हुआ ही नहीं। समझ में आया? ऐसा जो एक ज्ञायक अर्थात् ज्ञानस्वरूप। ज्ञानस्वरूप अकेला ज्ञानस्वरूप। शुभ-अशुभ... पश्चात् अर्थ में तो पण्डित जयचन्दजी ने यहाँ तक लिया है कि वह तो जड़ हुआ नहीं अर्थात् कि शुभ-अशुभभाव, वह तो वास्तव में अचेतन है। ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, वह इन विकल्प, जो अचेतन है; यह चैतन्यस्वरूप अचेतनरूप हुआ ही नहीं। जड़ हुआ ही नहीं, हुआ नहीं अर्थात् उसमें प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद है नहीं। समझ में आया?

शुभाशुभभाव, उनके स्वभावरूप... देखा! उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता... ज्ञायकभाव इन शुभाशुभरूप कैसे परिणमे? वस्तु है वस्तु, चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वरूप है, तो ज्ञायकभाव का अर्थ ज्ञानस्वरूप। वह त्रिकाल ज्ञानमूर्ति वस्तु है, वह ज्ञानस्वरूप, वह अज्ञान अर्थात् ज्ञान से विरुद्ध ऐसे शुभ-अशुभ परिणाम ज्ञानस्वरूप से विरुद्ध जो अचेतन अथवा ज्ञानस्वरूप से विरुद्ध वह अज्ञान वह अज्ञान है। पुण्य-पाप के विकल्प वह अज्ञान, अज्ञान अर्थात् उनमें ज्ञान नहीं। समझ में आया? वह ज्ञायकस्वरूप आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त के भेदवाला नहीं, क्योंकि शुभ-अशुभवाले विकल्परूप परिणमता नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। कहो, समझ में आया?

वस्तु-वस्तु स्तम्भ, वज्र का स्तम्भ, ध्रुव स्तम्भ और वह भी ज्ञानस्वरूप स्तम्भ, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, ऐसा। वहाँ इसलिए लिया वह परमपारिणामिकभाव अकेला ले तो वह पारिणामिक... वह तो दूसरे जड़ में भी होता है। समझ में आया? यह ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानस्वरूप। ज्ञानस्वरूप, वह एकरूप भाव, ऐसा। ज्ञानस्वरूप एकरूप भाव, वह अनेक ऐसे पुण्य-पाप के विकल्प ज्ञानस्वरूप से विरुद्ध भाव, ऐसे अचेतन अथवा ज्ञान की जाति से विरुद्ध ऐसे... समझ में आया? अज्ञानभाव। यह ज्ञानरूप स्वरूप, उन अज्ञानभावरूप परिणमता नहीं। समझ में आया? ईश्वरचन्दजी! लो, यह... है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार का विषय है न यह? व्यवहार अभूतार्थ है। भूतार्थ तो यह ही वस्तु है। समझ में आया? लो!

‘एक’ था न ? ज्ञायक एक भाव । यहाँ लिया कि समस्त अनेकरूप... ऐसा । अनेकरूप शुभाशुभभाव, उनके स्वभावरूप... उनके स्वरूप से, उनकी स्थिति से भगवान ज्ञायकभाव होता नहीं । चैतन्यबिम्ब ज्ञानस्वरूपी सत्त्व-तत्त्व, वह विकल्प की अनेक जाति, अनेक प्रकार, जाति तो एक परन्तु अनेक प्रकार, जाति एक अर्थात् अचेतन, अनेक प्रकार, उनरूप भगवान ज्ञानस्वरूप ध्रुव उनरूप हुआ नहीं । हुआ नहीं, इसलिए उनके स्वभावरूप परिणामित नहीं होता... ऐसा कहा न ? यह कारण दिया । आचार्य अमृतचन्द्राचार्य ने इसमें से न्याय निकाला । शशीभाई ! ‘ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो’ यह तो आचार्य ने शब्द रखा । अमृतचन्द्राचार्य ने इसका हेतु निकाला कि क्यों प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं । ज्ञायक जो एक भाव, उन अनेक भावरूप वह भाव होता नहीं तो अनेकरूपपना ऐसा जो प्रमत्त-अप्रमत्तपना वस्तु में है नहीं । ऐई ! वजुभाई !

श्रोता : युक्ति दी है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : युक्ति दी है, न्याय दिया है । टीका तो इसका नाम कहलाये न, (कि) जो वस्तु है, उसे न्याय से स्पष्ट करके सिद्ध करे । समझ में आया ?

भगवान ज्ञानस्वरूप स्तम्भ, ध्रुव स्तम्भ । अकेला चैतन्यस्वभावभाव, एकरूप भाव, वह अनेकरूप, इसकी जाति से विरुद्ध भाव । चैतन्यस्वभाव ज्ञायकभाव से विरुद्ध भाव । देखो ! पश्चात् तो दूसरी बात करेंगे, हों ! अन्य द्रव्य से भिन्न कहना है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि यह द्रव्य उसके विकल्प के जो भाव, उनरूप परिणामा नहीं, ऐसा कहते हैं । सेवन में दूसरी बात करेंगे । समझ में आया ? वहाँ अन्य द्रव्य के भाव से भिन्न सेवन करना, ऐसा कहेंगे । वहाँ फिर उसके पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न, ऐसा नहीं । क्योंकि उसके विकल्प से अत्यन्त भिन्न हो जाए, तब तो पर्याय अत्यन्त शुद्ध हो जाए ।

यहाँ तो द्रव्य को—ज्ञायकभाव को शुद्ध वर्णन करना है और ज्ञायकभाव को शुद्ध वर्णन करते हुए, वह ज्ञायकभाव उसकी पर्याय में शुद्धता आने पर, अत्यन्त शुद्धता आने पर—ऐसा नहीं । अत्यन्त शुद्धता आवे तो पर्याय शुद्ध हो गयी तो वह तो द्रव्य की शुद्धता दृष्टि में लेनी है, यह रहता नहीं । क्या कहा, समझ में आया इसमें ? जो पर्याय की अत्यन्त शुद्धता हुई, वह बात यहाँ नहीं है । यहाँ तो द्रव्य का शुद्धपना है, वह ज्ञायकभाव जो है, यह उससे विरुद्ध भाव से परिणामा नहीं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है, इसलिए वह प्रमत्त नहीं । उसे... अब कहते हैं ।

वही... अब वही आत्मा। ऐसा कि वह ज्ञायकभाव। समझ में आया? बहुत गहरी बात है। गहरा भगवान स्थित है न पूरा! वही समस्त... वह जो था, वह समस्त अनेक रूप शुभ-अशुभभाव उसकी पर्याय में। ऊपर था पहली लाईन में वह। वह समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न... क्या कहना है? कि जो अन्य द्रव्य है कर्म और उसका जो भाव, उसकी स्थिति-दशा, उसका भाव, उससे भिन्नरूप से सेवन करने पर भिन्नरूप से उपासित होता हुआ... ऐसा। समझ में आया? समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से... अन्य वस्तु-पदार्थ के भाव से। क्योंकि व्याख्या वापस ऐसी है न कि शुद्ध कहा, उसमें लिया न! भाई! उसमें-मोक्षमार्ग ( प्रकाशक) में ( लिया न) कि अपने भाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न। अपने भाव से अभिन्न है। भले शुभाशुभपरिणाम, परन्तु अन्दर शुद्ध का भानवाला ऐसा है, तो वह पर्याय यहाँ आयी है। वह पर्याय पर है, उससे भिन्न पड़ा है। पर्याय में अत्यन्त शुद्धता हुई नहीं। द्रव्य की शुद्धता लक्ष्य में लेने से पर्याय की अत्यन्त शुद्धता हुई नहीं तथा पर्याय की शुद्धता हुए बिना द्रव्य की शुद्धता दृष्टि में आती नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सूक्ष्म भाव है। चिमनभाई! इसमें सूक्ष्म मस्तिष्क करना पड़े, ऐसा है। इसमें स्थूल चले, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु क्या बात की है न! यहाँ तो पर्याय अशुद्ध है, उसरूप तो द्रव्य परिणामा नहीं, इतनी बात पहले कही। उसरूप द्रव्य तो परिणामा नहीं, द्रव्य तो द्रव्य ही है, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त भेद नहीं पड़ते। अब उस ज्ञायकभाव को समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से... यह वे शुभाशुभपरिणाम नहीं। समझ में आया? समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ... अर्थात् कि उन परद्रव्य के भाव पर जो ऐसा अनादि का लक्ष्य है, उसका लक्ष्य छोड़कर—उससे लक्ष्य छोड़कर, यहाँ द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से, इस द्रव्य पर लक्ष्य जाने से, पर से तो भिन्न पड़ा परन्तु जरा राग से भी भिन्न शुद्धता हुई, तब यह शुद्ध है, ऐसा भास में आया। समझ में आया? उसके लिये शुद्ध है, ऐसा कहते हैं। वजुभाई!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उस ओर ढला है। अन्य द्रव्य के भाव के लक्ष्य में से विमुख हुआ है, ऐसे भिन्न है और अपना जो स्वरूप है ज्ञायकभाव, उस ओर की सेवा में अर्थात् उसका आश्रय लिया—उस ओर ढला—उस सन्मुख एकाकार हुआ। एकाकार हुआ, तब शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान की पर्याय तो निर्मल हुई। समझ में आया? सभी पर्यायें निर्मल नहीं। समझ में आया?

यह जो वस्तु है अत्यन्त ज्ञायकभाव उस ओर झुकने से, यहाँ से हटने से, उदय के पर के भाव की शक्ति से— भाव से हटने पर— लक्ष्य छोड़ने पर, उसकी जो सेवा थी, उसके ऊपर झुकाव था उस झुकाव को छोड़कर, उस ज्ञायकभाव के सन्मुख झुकाव जाने पर जो शुद्धता की दशा अनुभव में आयी, उस शुद्धता के अनुभव में 'यह शुद्ध है' ऐसा कहने में आता है।

**श्रोता :** पर्याय की जो...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर्याय की शुद्धता में द्रव्य जो शुद्ध भासित हुआ, उसे यह द्रव्य शुद्ध है - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ?

अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ... उपासित होता हुआ, ऐसा है न पाठ ? 'उपास्यमानः' भगवान ज्ञायकभाव जो है, चैतन्य द्रव्यभाव है, उसकी सेवा हुई, सेवा हुई, उस ओर ढला। पर्याय, पर्याय ढली। समझ में आया ? द्रव्य तो जो है, वह है। अब जो पर्याय पर के लक्ष्यवाली, पर के लक्ष्य में दौड़ती थी, उस पर का लक्ष्य छोड़कर वह पर्याय ऐसे द्रव्य सन्मुख गयी, द्रव्य की ओर गयी। एक ज्ञायक को सेवन करने पर अर्थात् द्रव्यसन्मुख ढलने पर, उसकी एकाग्रता होने पर उसे वह द्रव्य शुद्ध है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? यह तो बड़े मन्त्र हैं। आहाहा !

कहते हैं, भगवान आत्मा, वही। भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु की सेवा, उपासना। ऐसी जो उपासना थी, वह अन्य भाव के ऊपर वश होता था न, अन्य भाव के उदय में वश होता था न, वह सेवा यहाँ की थी, उसके वश था। उससे भिन्न पड़कर अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से... ऐसी सेवा करते हुए एकाग्र हुआ, यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता प्रगट हुई, सब शुद्धता नहीं। समझ में आया ? पर्याय में सब शुद्धता नहीं। यहाँ तो शुद्ध द्रव्य किसे दृष्टि में आया ? जिसने उस प्रकार की द्रव्य सन्मुख की एकाग्रता से शुद्धता की पर्याय से द्रव्य को सेवन किया गया, तब उसे यह द्रव्य शुद्ध है, ऐसा दृष्टि में आया।

**श्रोता :** पर्याय शुद्ध...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं, नहीं, पर्याय शुद्ध नहीं, द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया ? आहाहा ! समझ में आया ? यहाँ से अब समयसार शुरु होता है।

भगवान आत्मा जो ज्ञायकभाव एकरूप स्वभाव... यहाँ पुनरुक्ति नहीं लगती। ऐसा जो भगवान ज्ञायकभाव एकरूप चैतन्यस्वरूप, ज्ञानभाव कहा है न, अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप अकेला परमपारिणामिकभाव ज्ञानस्वरूप, वह एकरूप भाव, उसे शुभाशुभ के

भाव हैं, वे ज्ञायकभाव से तो विरुद्ध भाव हैं—अचेतनभाव हैं, चैतन्यस्वरूप से विरुद्ध—विपरीत भाव हैं। समझ में आया ? उसरूप से चैतन्य ज्ञायकस्वरूप नहीं होता। इसलिए उसे प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद अर्थात् गुणस्थान के भेद द्रव्य को लागू नहीं पड़ते। व्यवहारनय का विषय है, अभूतार्थ है। वस्तु है, वह भूतार्थ है—ऐसा कहते हैं। परन्तु उस भूतार्थ का भूतार्थपना इसे कब ख्याल में आया ? समझ में आया ? कि उस अभूतार्थ की ओर से लक्ष्य छोड़कर अथवा परभाव के लक्ष्य से छोड़कर, वहाँ से छूटा, इसलिए वास्तव में उसके परभाव जो थे, वे कितने ही वहाँ से लक्ष्य छूट गया (और) ऐसे द्रव्य में आया, ज्ञायकभाव पर आया, तब उसकी शुद्धता पर्याय में उतनी प्रगट हुई। समझ में आया ? अत्यन्त पूर्ण शुद्धता प्रगटे, वह तो सिद्ध को है। इसलिए यहाँ शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ एकाग्र हुआ इसलिए। उस शुद्धता की पर्याय में भिन्नरूप से (उपासित होने पर) शुद्ध कहलाता है। उसे यह आत्मा शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है। उसे यह ज्ञायकभाव है.. यह ज्ञायकभाव है... यह एकरूप भाव है... यह शुद्ध है, उसके लिये ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ?

क्योंकि जो वस्तु है, वह कहते हैं कि उस जाति का अंश जहाँ वर्तमान प्रगट में आया नहीं, प्रगट में आया नहीं तो उसके द्वारा यह पूरा शुद्ध है, यह किस प्रकार दृष्टि करेगा ? जो वस्तु लक्ष्य में आयी नहीं (उसकी दृष्टि होगी किस प्रकार ?) वस्तु लक्ष्य में आयी तब तो अन्दर पर्याय में शुद्धता आयी है। यह जाति है। उस जाति की शुद्धता आयी, तब यह पूरा शुद्ध है, ऐसा उसे कहा जाता है। जाति की शुद्धता का अनुभव हुआ, तब उसे यह शुद्ध है, ऐसा हुआ। ऐसे के ऐसे शुद्ध है, वह तो अस्तित्पना है शुद्ध। अस्तित्पना है, वह पना अस्ति है, वह सत्ता का स्वीकार, स्वीकार पर्याय में न हो तो यह शुद्ध है, यह किस प्रकार इसे ख्याल में आया ? समझ में आया ?

वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। ऐसा है न ? वही शुद्ध कहलाता है। वह अर्थात् वह जो ज्ञायकभाव है, उसे शुद्ध जानने में आता है अर्थात् कहलाता है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह नहीं। परद्रव्य का भाव और परद्रव्य से भिन्न पड़ा। उनसे भिन्न पड़ा तो कितने ही विकल्प से भी भिन्न पड़ा, परन्तु सर्वथा पड़े, तब तो पर्याय की शुद्धता हो गयी। यहाँ तो द्रव्य की शुद्धता सिद्ध करनी है। समझ में आया ? पर्याय की शुद्धता



सिद्ध करनी होवे, तब तो पर्याय पूर्ण सिद्ध है, वह सिद्ध हुई। समझ में आया? अलौकिक मार्ग है, भाई! यह तो सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव परमात्मा ने कहा हुआ, प्रगट हुआ और है, उस विधि की पद्धति है। समझ में आया?

वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। अर्थात्?—शुद्ध जानने में आता है। तब शुद्ध जानने में आता है 'यह शुद्ध है' ऐसा। समझ में आया? सूक्ष्म पड़े परन्तु ध्यान रखकर समझना। समझ में आया? ऐसी वस्तु है कि ऐसी वस्तु स्वयं पूरी पड़ी है और पूरी चीज़ है। एकरूप स्वभाव भगवान एकरूप स्वभाव है या अनेकरूप ही है? अनेक तो पर्याय-व्यवहार का विषय है। समझ में आया? निश्चय जो है एकरूप—एकरूप वस्तु निश्चय एकरूप, वह अनेकरूप हुई नहीं, उसकी जाति से विरुद्ध के विकल्परूप (हुआ नहीं)। इसलिए उसे भेद और गुणस्थान लागू नहीं पड़ते। ऐसा जो भाव वह एक, उसे पर से भिन्नरूप से परद्रव्य के भाव से भिन्न सेवन किये जाने पर, भिन्न सेवन किये जाने पर, उसकी सेवा की परिणति में वह ज्ञात हुआ 'यह शुद्ध', उसे शुद्ध है—ऐसा जाना। उसे शुद्ध है—ऐसा जाना। कहा जाता है, यह तो भाषा ली है। समझ में आया? उसे शुद्ध है—ऐसा जानने में आया। कहो, यह बात तीन लाईन की हुई।

'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो' अब 'एवं भणंति सुद्धं' वह 'भणंति' है न? कहना, ऐसा कहा है न शब्द तो? उसे शुद्ध कहना, उसे कहना शुद्ध। ऐसे ज्ञायकभाव को शुद्ध कहना। ऐसी तीसरी लाईन है न? क्या कहलाता है? तीसरा पद। दूसरी लाईन का तीसरा पद। समझ में आया? 'एवं भणंति' इस ज्ञायकभाव को शुद्ध कहा जाता है। वह प्रश्न किया था न कि शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसे जानना चाहिए? उसका—शुद्ध का स्वरूप क्या है कि जिसे जानना चाहिए?—कि यह शुद्ध? 'एवं' ऐसा जो ज्ञायक एकभाव, जो शुभाशुभरूप हुआ नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं, ऐसा जो ज्ञायकभाव, उसे शुद्ध कहते हैं—उसे शुद्ध कहते हैं। इसलिए अमृतचन्द्राचार्य ने इसमें से ऐसा निकाला कि उसे शुद्ध कहते हैं, उसे शुद्ध जानते हैं, उसे शुद्ध जानते हैं, उसे शुद्ध जानना। अर्थात् उसे शुद्ध जानना, इसके लिये कहा। 'भणंति' तो वाचक शब्द हो गया। समझ में आया? उसे शुद्ध जानना। तब शुद्ध जानना अर्थात् उसमें से निकाला कि पर से भिन्न पड़कर उसकी सेवा की पर्याय में, उसे दृष्टि में—लक्ष्य में लिया, तब उसे शुद्ध कहा जाता है। द्रव्य को शुद्ध कहा जाता है। अमरचन्दभाई! यह वस्तु, यह वस्तु।

अब चौथे पद की व्याख्या। तीन की हुई। 'णादो जो सो दु सो चेव' अब चौथा पद

है। और जैसे दाह्य के आकार होने से... दाह्य अर्थात् (जलनेयोग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि... ऐसा। अग्नि जैसे। नीचे ... डाला है। परन्तु दाह्य (जलनेयोग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं... क्या कहा? अग्नि है, वह दाह्य योग्य लकड़ियों को जलाने से उसको अग्नि कहा जाता है। अग्नि है, उसे जलनेयोग्य लकड़ी को जलनेयोग्य जलकर उसे अग्नि कहा जाता है। इतनी अपेक्षा आयी, कहते हैं। यह अपेक्षा अग्नि में नहीं है।

तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती,... वह दाह्य—जलनेयोग्य पदार्थ, उसको जलाती है, इसलिए उसे दहन कहा जाता है, परन्तु जलनेयोग्य पदार्थ के कारण से अग्नि है, ऐसा नहीं है। वह अग्नि स्वयं से ही परिणामी है। दाह्ययोग्य है, इसलिए उसके आकार से हुई, ऐसा नहीं है। स्वयं ही अपने—अग्नि के आकार जलनेयोग्य पदार्थ को जलाकर स्वयं के आकार हुई है। समझ में आया? दाह्य—उसके आकार अर्थात् जलनेयोग्य पदार्थ के आकार, इतना हुआ न मानो ऐसा? जलनेयोग्य पदार्थ के आकार, ऐसा। होने से अग्नि को दहन कहते हैं... वह ज्ञायक का लेना है न? जानता है, इसलिए ज्ञायक कहते हैं—ऐसा यहाँ लेकर पहले अग्नि का दृष्टान्त देकर स्वतन्त्रता सिद्ध करते हैं। पर्याय में, हों! अब।

दाह्य (जलनेयोग्य पदार्थ) के आकार होने से... उसके आकार होने से। हुई कौन?—अग्नि। समझ में आया? जलनेयोग्य पदार्थ के आकार हुई कौन?—अग्नि। उसे दहन कहते हैं... उसे जलनेयोग्य को जलावे, इसलिए दहन कहा जाता है, ऐसी जो भाषा है तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती,... जलनेयोग्य पदार्थ के आकार हुई, इसलिए उसकी कुछ भी अपेक्षा आयी जलनेयोग्य पदार्थ की अग्नि की पर्याय में (अपेक्षा आयी), ऐसा नहीं है। अग्नि स्वयं के ही कारण से उसके आकार अग्नि स्वयं परिणामी है, अग्नि की अवस्था उसरूप हुई है, पर के आकार हुई है, ऐसा नहीं। अग्नि की अवस्था उसरूप हुई है। समझ में आया?

क्या कहते हैं? पहले दृष्टान्त समझना चाहिए। अग्नि को दहन क्यों कहते हैं? अग्नि, दहन-दहन जलाती है न? जलाती है न? जलाती है। लकड़ी आदि को—जलनेयोग्य को जलाती है, इसलिए दहन कहते हैं। परन्तु कहते हैं जितनी जलाती है, उतनी अपेक्षा यहाँ आयी या नहीं? जलनेयोग्य पदार्थ की अपेक्षा इसमें आयी या नहीं?—कि नहीं। अग्नि स्वयं ही अपनेरूप से अग्निरूप से—जलानेयोग्य पदार्थरूप से अग्नि स्वयं परिणामी है। समझ में आया? अग्निरूप से, अग्निरूप से अग्नि की पर्याय में जलनेयोग्य पदार्थ के आकार हुई,

इतनी अशुद्धता उसे नहीं है। उसके आकार हुई नहीं, वह तो अग्नि के आकार से अग्नि अपने रूप से उस प्रकार से हुई है। समझ में आया ?

तथापि उसके दाह्यकृत... जलनेयोग्य पदार्थ की अपेक्षा से उस अग्नि को पराश्रयपना, अशुद्धता आयी नहीं। समझ में आया ? इसलिए न्याय भी किस प्रकार से रखते हैं, देखो न ! दृष्टान्त देने में भी। उसी प्रकार... लो ! यह दृष्टान्त देकर अब (कहते हैं), उसी प्रकार दाह्य (जलनेयोग्य पदार्थ) के आकार होने से... अग्नि हुई, इसलिए उसे दहन, जलानेवाला... जलानेवाला... जलानेवाला... कहा जाता है। परन्तु जलानेवाला कहा जाता है, इसलिए पर को जलाया इतनी अपेक्षा उसे आयी ?—कि नहीं। समझ में आया ? वह जलानेवाला स्वयं अग्निरूप परिणामी है, किसी पर के दाह्यरूप परिणामी नहीं है। समझ में आया ? आहाहा !

उसी प्रकार... वह दृष्टान्त इसे ख्याल में आवे तो यह सिद्धान्त इसे ख्याल में सरलता से आवे, इसलिए दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? पाठ में इतना कि 'णादो जो सो दु सो चैव' जाना, वह जाना। उसमें से जानने के काल में ज्ञायक है। जानता है न ? इतना तो आया न ? जानता है न ? जानता है न ? जानता है न ? तो जानता है, उसमें पर की अपेक्षा कुछ आयी या नहीं ? उसे देने के लिये अग्नि का दृष्टान्त पहले दिया। अग्नि है, वह दाह्ययोग्य को जलाती है, इसलिए उसे अग्नि कहो परन्तु वास्तव में वह अग्नि तो स्वयं जलने के योग्य अग्नि स्वयं उसरूप हुई। वह अग्नि का रूप है, वह कहीं दाह्यकृत का रूप नहीं है। पर की अपेक्षा का रूप उसमें है ही नहीं। समझ में आया ?

उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है,... अब पर्याय में लेते हैं, हों ! वैसे तो ज्ञायक त्रिकाल है। परन्तु 'ज्ञायक' कहा न ? जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... तब जाननेवाला उसकी पर्याय में इस राग को जाना, इसको जाना—ऐसी अपेक्षा आयी या नहीं ? जाननेवाला इसे जानता है, ऐसा हुआ न ? जलानेवाला इसे जलाता है, जलानेवाला इसे जलाता है, जाननेवाला इसे जानता है, इतनी अपेक्षा आयी या नहीं ?—कि नहीं। समझ में आया ? ज्ञेयाकार होने से... अर्थात् ? कि ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव तो त्रिकाल है। वह जब ज्ञान की पर्याय यहाँ प्रगट हुई न ! उसमें शुद्ध का भान हुआ है न ! अब प्रगट हुआ है जो ज्ञान, उसमें राग का, विकल्प का ज्ञान है। समझ में आया ? उसे जानता है न ? रागादि, विकल्पादि परभाव को वह जानता है न ? जानता है न ? तो पर को जानता है, इतनी अपेक्षा में उसकी पर्याय में पराधीन पर अपेक्षा आयी या नहीं ? समझ में आया ?

ज्ञेयाकार होने से... यह कहीं जड़दि पदार्थ, रागादि भाव के आकार, जिस प्रकार से है, उस प्रकार से ज्ञान की पर्याय अपने में परिणमती है। जैसे दाह्य-जलनेयोग्य के आकार अग्नि परिणमती है; इसी प्रकार रागादि शुभ विकल्प जो है, ऐसा जो स्वरूप है, उसरूप यहाँ ज्ञान की पर्याय जाननेवाली है न? अपने को जानती है (और) उसके जाननेरूप वहाँ परिणमती है। ज्ञेयाकार होने से उस भाव को ज्ञायकता प्रसिद्ध है, ... जानने की अपेक्षा से उसे ज्ञायकपना प्रसिद्ध है। वह द्रव्यरूप से प्रसिद्ध है त्रिकाल, अब यहाँ रागादि जानने की अपेक्षा से उसका ज्ञायकपना प्रसिद्ध है, जैसे दहन जलाने की अपेक्षा से अग्नि प्रसिद्ध है। अग्नि तो अग्नि है एकरूप। अब उसकी पर्याय में बात की। समझ में आया ?

कहते हैं कि उस भाव को... इस प्रकार ज्ञायकता प्रसिद्ध है... ऐसा। इस प्रकार से, हों! ज्ञेयाकार होने से, वापस ऐसा। रागादि जो भाव है, शुभादि भाव है, उस प्रकार से यहाँ ज्ञान होता है, इसलिए उसे ज्ञायकपना, उसे जाननापना प्रसिद्ध है। जानता है, ऐसा वह प्रसिद्ध है। पर्याय में वह जानता है, ऐसा प्रसिद्ध है। समझ में आया ? तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है;... राग की अपेक्षा आयी यहाँ जानने में?—कि नहीं। वह तो स्वयं ही ज्ञान उसरूप से पर्याय में पर की अपेक्षा बिना उस रीति से ज्ञान, ज्ञान की पर्याय परिणमी है, पर की अपेक्षा बिना। समझ में आया ?

ज्ञायक स्वयं... अब द्रवा—परिणमा, कहते हैं। पर्याय से ऐसे शुद्ध लिया न यह ? उस पर्याय में यहाँ जाना और रागादि को! रागादि जाना इतनी भी ज्ञान की पर्याय ज्ञायक को ज्ञायकरूप से जाननेवाली प्रसिद्ध है, पर को जाननेवाली प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। जाननेवाली है ऐसा प्रसिद्ध है। तब उस जाननेवाले ने इसे जाना, इतनी अपेक्षा आयी या नहीं?—नहीं। समझ में आया ? ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है;... ज्ञात होने योग्य के कर्तारूप से यहाँ ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वह तो ज्ञायकभाव से उस प्रकार का ज्ञानरूप परिणमन स्वयं से स्वयं में हुआ है। समझ में आया ?

उसे दाह्यकृत अशुद्धता नहीं है, वह तो अग्नि (की) अपनी पर्याय उसरूप परिणमती है। ऐसे ज्ञायक स्वयं ज्ञानरूप से—रागादि को जाननेरूप से स्वयं अपने से परिणमा है। राग है, इसलिए परिणमा है और उसकी अपेक्षा है, इसलिए इसे जानने की पर्याय में अशुद्धता आयी (ऐसा नहीं है)। द्रव्य तो शुद्ध है। समझ में आया ? परन्तु जानने की पर्याय में जाननेवाला ऐसा परिणमा ज्ञेयाकार—पर के आकार, इसलिए पर के स्वरूप से जैसा है; वैसा जानने में, तो इतनी

अपेक्षा से वह पर्याय जानने की (परिणमी), उसे अशुद्धता, पराश्रितता, पराधीनता लागू पड़ी या नहीं?—कि नहीं। उस प्रकार की ज्ञान की पर्याय उस काल में स्वयं से उस प्रकार से पर की अपेक्षा बिना, उस प्रकार से पर को जानने पर भी पर की अपेक्षा बिना स्वयं से निरपेक्षरूप से ज्ञान की पर्याय परिणमी है। इसलिए उस पर्याय में भी पर की अपेक्षा से अशुद्धता (नहीं है)। द्रव्य में नहीं (परन्तु पर्याय में भी नहीं)। समझ में आया? ...चन्दजी! ऐसी बात है। ओहोहो! समयसार। ज्ञायकभाव का पेट खोला है। स्वतन्त्र... स्वतन्त्र...

राग है, व्यवहार है, वह उसके आकार ज्ञान परिणमा है या नहीं? पर्याय में, हों! क्योंकि जाननेवाला है न वह? जाननेवाला है, इसलिए अपने को जाननेवाला तो हुआ। अब वह स्व-परप्रकाशक है न? तो वह जाननेवाला स्वयं को जाननेवाला हुआ। शुद्ध हुई पर्याय, तो उस शुद्ध पर्याय में यह पर जानने में आया। पर जानने में आया, जितना पर है, उसी प्रकार से ज्ञेयाकार ज्ञान परिणमा। उस प्रकार से ज्ञान परिणमा तो इतनी पर की अपेक्षा से अशुद्धता है या नहीं?—कि नहीं, ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। उसको (दृष्टान्त में) अग्नि को दाह्यकृत अशुद्धता नहीं है। यहाँ ज्ञेयकृत-ज्ञेय की, की हुई अशुद्धता नहीं है। दाह्य का कराया हुआ अग्नि का परिणमन नहीं है। इसी प्रकार रागादि से करायी हुई ज्ञान की पर्याय नहीं है। ज्ञान की पर्याय स्वयं से परिणमी और स्वयं से हुई है। समझ में आया?

उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के... उस ज्ञेयाकार होने से उस भाव को, हों! यह पर्यायरूप परिणमा है न! उस भाव को अर्थात् ज्ञायकभाव को ज्ञानरूप से—रागादि के ज्ञानरूप से, व्यवहार के ज्ञानरूप से, हों! यह व्यवहार होता है न, व्यवहार, उसके ज्ञानरूप से; वह दाह्यकृत लकड़ियाँ हैं और दाह्य है न लकड़ियाँ; इसी प्रकार यह रागादि व्यवहार ज्ञेय है न, उसके आकार यहाँ ज्ञान हुआ न! जैसा व्यवहार है, वैसा यहाँ ज्ञान हुआ न, इसलिए इतनी अपेक्षा पर की आयी?—कि नहीं। बिल्कुल नहीं। स्वयं को ज्ञायकपना ज्ञेयाकार होने से प्रसिद्ध है। तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है... व्यवहार है, इसलिए ज्ञान परिणमा; व्यवहार है, इसलिए ज्ञान हुआ, यह तो नहीं, भाई! क्या कहा अब? यह द्रव्य है, इसलिए यहाँ शुद्ध ज्ञान हुआ है। व्यवहार है तो ऐसी शुद्धता प्रगट हुई है—ऐसा नहीं है। यह द्रव्य है, उसकी सेवा से शुद्धता प्रगट हुई है। व्यवहार से शुद्धता प्रगट हुई, ऐसा तो नहीं परन्तु जो ज्ञान प्रगट हुआ, उसे जाननेवाली जो अवस्था हुई, वह व्यवहार है, इसलिए ज्ञान यहाँ ज्ञात हुआ है, ऐसा नहीं है। ज्ञान का अपना उस प्रकार से स्व-परप्रकाशक परिणमन स्वयं से स्वयं के द्वारा स्वयं से हुआ है, पर की अपेक्षा बिना। समझ में आया?

व्यवहार से निश्चयशुद्धि प्रगट होती है, ऐसा तो नहीं; वह तो निश्चय से सेवा करने से शुद्धि प्रगट होती है। परन्तु अब जानना उसे प्रसिद्ध है। जाननहार, उसे जाननहार है या नहीं? जाननहार पर्याय में जाननहार है न? तो जाननेवाला जानता है न व्यवहार को? कि व्यवहार को जानता है परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपने से परिणमित है। वह है, इसलिए यहाँ ज्ञान में अशुद्धता हुई है अथवा पराश्रय आया है, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? कहते हैं कि द्रव्य को तो भेदपना नहीं, पराश्रितपना नहीं, अनेकपना नहीं, परन्तु पर्याय जहाँ ज्ञायकरूप परिणामी है, उसे भी पराश्रय नहीं है। समझ में आया?

आहाहा! कैसी बात करते हैं! देखो न! यह वस्तु की स्थिति इस प्रकार से है। दूसरी किसी प्रकार से वस्तु हो सकती ही नहीं। चैतन्य का पिण्ड है। अब कहते हैं, हटा। समझ में आया? परिणामा है जानने (रूप) ज्ञायक है न? ज्ञायक है तो जाननेरूप परिणामा है। परन्तु जाननेरूप परिणामा अपने को तो जाना परन्तु उसे जाननेरूप भी यहाँ हुआ या नहीं। उस प्रकार का जैसा रागादि का व्यवहार है, उसी प्रकार से जानने की पर्याय परिणमित हुई तो उतनी पराश्रयता आयी या नहीं?—कि, नहीं। वह ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं, वह ज्ञानकृत ज्ञान है। वह अपने ज्ञानकृत ज्ञान की पर्याय है, ज्ञेयकृत नहीं है।

व्यवहार से निश्चय तो नहीं होता, परन्तु व्यवहार से ज्ञान की पर्याय व्यवहार से जानने की नहीं होती—जानने की नहीं होती, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? निश्चय द्रव्यस्वरूप जो है, उसकी सेवा से शुद्धता प्रगट हुई। व्यवहार की सेवा से शुद्धता प्रगटती है? व्यवहाररूप से तो परिणामा नहीं न! यह तो पहले कहा। द्रव्य स्वयं व्यवहाररूप से, भेदरूप से, अभूतार्थरूप से, शुभाशुभरूप से परिणामा ही नहीं। समझ में आया? अब परिणामा नहीं और उसकी सेवा से यहाँ हो? आहाहा!

भगवान आत्मा वस्तु ज्ञायकपना चैतन्यध्रुव की सेवा से शुद्धता प्रगट हुई। समझ में आया? अब उस शुद्धता में ज्ञान प्रगट हुआ न, स्व-परप्रकाशकपना—स्व-परप्रकाशकपना। उसमें पर अर्थात् जिस प्रकार का व्यवहार है, वैसे ही ज्ञेयाकार यहाँ ज्ञान परिणामता है न? ज्ञेयाकार ज्ञान परिणामता है न? भले परिणामे। वह ज्ञेय है, इसलिए उस ज्ञान का ऐसा परिणामन है—ऐसा नहीं है। समझ में आया?

ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के... ज्ञेयाकार होने से (अर्थात् वह) पर्याय हुई न! ज्ञायक को रागादि को जानने की ज्ञेयाकार पर्याय होती है। उसका ज्ञायकपना प्रसिद्ध हुआ है।

उसमें जाननापना का प्रसिद्ध है। तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है... अहो! कितने नय का निषेध कर डाला! समझ में आया? असद्भूत पुण्य-पाप के व्यक्त-अव्यक्त का निषेध हो गया। ऐसे पर से भिन्न पड़ने पर ऐसे होने पर उसका अन्दर में निषेध हो गया। यहाँ आश्रय करने पर उसे शुद्ध पर्याय का परिणमन हुआ, अब शुद्ध परिणमन में अशुद्धता का वास्तव में निषेध हो गया। पर की सेवा छूटी तो यहाँ पर्याय में निषेध हो गया, ऐसे द्रव्य के आश्रय में गया इसलिए। समझ में आया? अब कहते हैं कि उस सम्बन्धी का जानपना रहा न अशुद्धता का? पर्याय में ज्ञान का वह जानना (हुआ न)?—कि नहीं। वह पर को जाने तो सद्भूत उपचार, वह उसे नहीं है। वह स्वयं ही अपने को जानता है। ज्ञानकृत ज्ञान है, ज्ञायककृत ज्ञान है, ज्ञानकृत ज्ञान है, ज्ञायककृत ज्ञान है। ज्ञेयकृत—व्यवहारकृत ज्ञान की पर्याय है नहीं। समझ में आया? आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य (कृत) यह टीका भरतक्षेत्र में कहीं नहीं है। केवलियों को पेट (हृदय/ अभिप्राय) खोलकर रखा है। द्रव्य का सत्त्व का स्वरूप जो अस्तिरूप से जिस प्रकार से है, अस्तिरूप से-सत्तारूप से (उस प्रकार से वर्णन किया है)। पहले ज्ञायकभाव का सत्तापना सिद्ध किया। ऐसे सेवा करे, तब वह ज्ञायक है, ऐसा कहा। अब उसकी पर्याय की स्वतन्त्रता की सत्ता सिद्ध करते हैं। जो रागादि को जानता है, इसलिए वह सत्ता की पर्याय है? जानने की सत्ता का अस्तित्व है?—कहते हैं, नहीं। वह तो ज्ञायक की अपनी ज्ञान की परिणति की सत्ता अपने में अपने से है। समझ में आया? सूक्ष्म बहुत, जादवजीभाई! बहुत ध्यान रखे तब पकड़ में आये ऐसा यह है, भाई! उन रूप्यों में एकदम जाओ चार आना, छह आना, आठ-दस किये। अब तो बहुत अधिक है लो! रुपया करके डेढ़ रुपया। ऐसा शीघ्र समझ में आये। दस हजार दिये थे लाओ इतने। ऐई! जेठालालभाई!... इस भगवान चैतन्य की थैली में तो ज्ञानस्वरूप भरा है न, कहते हैं। यह बटाव तो ज्ञानरूप से बाहर निकलता है, यह कहीं रागरूप से नहीं आता। आहाहा!

कहते हैं कि भगवान चैतन्य प्रभु वह शुद्ध द्रव्य है, उसे जहाँ लक्ष्य में लिया, तब वह शुद्ध हुआ—शुद्ध इसकी दृष्टि में आया। अब उस समय जो ज्ञान परिणमित हुआ, धर्मरूप से ज्ञान—सम्यग्ज्ञानरूप से (परिणमा), उस ज्ञान में स्व-परप्रकाशकभाव है न स्वभाव? उसमें व्यवहार को जानने के ज्ञेयाकार ज्ञान होता है न? जिस प्रकार का राग—दया, दान, विकल्पादि, उसी प्रकार का ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमता है। समझ में आया? परिणमता है। तथापि उस ज्ञेय के आकार-पर के कारण नहीं परिणमता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? असद्भूत का निषेध किया दो का, और सद्भूत उपचार डाला। अब सद्भूत अनुपचार रहा सातवीं (गाथा) में।

अब कारण देते हैं। **क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में...** अर्थात् कि रागादि को जानने की अवस्था में, रागादि ज्ञेय, उनके आकार हुआ ज्ञान। **जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ...** ज्ञायकरूप से जाननहाररूप से ज्ञात हुआ, जाननहाररूप से ज्ञात हुआ, **वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी...** वह तो स्वयं पर को जानने के समय स्वयं ज्ञात हुआ है, ऐसा कहते हैं। और स्व को जानने के समय भी स्वयं ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ...** देखा! ज्ञेयाकार अवस्था, वह ज्ञान की पर्याय हुई, ज्ञान की पर्याय—अवस्था, ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, यह ज्ञायक है—ऐसा ज्ञात हुआ, उस समय भी ज्ञायकरूप से जो ज्ञात हुआ, ऐसा कहा। ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकरूप से जो ज्ञात हुआ। रागादि को जानने की अवस्था में भी जाननेवाला ज्ञात हुआ, ऐसा कहते हैं, ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, **वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी...** वह का वह स्वयं ज्ञात हुआ है। पर की अपेक्षा लेकर ज्ञान, वह भी स्वयं ज्ञात हुआ है उसमें, उसमें पर है नहीं और अपने को जानने की अवस्था में भी स्वयं जानता है।

**स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी, दीपक की भाँति,...** दीपक का दृष्टान्त दिया। **कर्ताकर्म का अनन्यत्व होने से...** देखो! कर्ता-कर्म का अनन्यपना। एक में कर्ता-कर्मपना होता है; भिन्न में कर्ता-कर्मपना नहीं होता। देखो! यहाँ शुरु कर दिया। कर्ता-कर्म का अनन्यपना, भिन्नपना नहीं होने से, अपने ही अपने में कर्ता-कर्मपना होने से। समझ में आया ? **ज्ञायक ही है...** ज्ञायक ही है। ज्ञायक स्वयं कर्ता और उस ज्ञायक का परिणमन ज्ञान, वह उसका कर्म। अर्थात् व्यवहार कर्ता और ज्ञान परिणमन उसका कर्म, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अरे! गजब बात भाई! यह तो बहुत ध्यान रखे तो पकड़ में आवे। यह कहीं वार्ता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, यह उसके सामने देखने से ही आत्मा खिले। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है, यह भगवान। कहते हैं कि पर्याय में चैतन्यसूर्य खिला न ? खिला उसमें जरा पर को जाननेपने का इतना आया या नहीं ? पर का जाननापना इतना आया या नहीं ?—कहते हैं, नहीं; वह अपना जानपना उसमें है। पर को जानने की अपेक्षा से भी अपने को जानता है और अपने को जानने की अपेक्षा से अपने को जानता है। पर की अपेक्षा में पर को जानता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अरे! ऐसी धर्म की पद्धति है। ऐसी ही होती है। वस्तुस्थिति ऐसी है और इस प्रकार से न होवे तो वस्तु किसी प्रकार से—दूसरे प्रकार से हो कैसी सकती है ? समझ में आया ? यह तो जैसा स्वरूप है, उसी प्रकार से प्रसिद्ध होता है। यह आत्मख्याति है



न! आत्मख्याति, आत्मप्रसिद्धि। ज्ञायक प्रसिद्ध होता है, कहते हैं। राग प्रसिद्ध होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

वस्तु ऐसी है। ऐसी ही है। रागादि हो, उन्हें जानता हुआ ज्ञान... ज्ञान का आकार तो स्वयं का परिणामन था। स्वयं है। पर को जानने की पर्याय जो है, वह अपनी ही है। स्वयं ही ज्ञायकरूप से वहाँ ज्ञात होता है। ऐसे स्वरूप के सन्मुख जावे तो भी ज्ञायकरूप से ज्ञात होता है। समझ में आया? कुछ उसमें दूसरा ज्ञात होता है, व्यवहार ज्ञात होता है—ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। यह ज्ञात होता है, वह व्यवहार सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने से हुआ, वह ज्ञात होता है। समझ में आया? आहाहा!

कर्ताकर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञायक ही है—स्वयं जाननेवाला है, इसलिए स्वयं कर्ता... देखो! स्वयं जाननेवाला, इसलिए कर्ता और अपने को जाना, इसलिए स्वयं ही कर्म है। यह अपने को जाना है न? उसने व्यवहार को, राग को जाना है—ऐसा कहाँ आया, कहते हैं। समझ में आया? एक भी बात और एक भी गाथा और एक भी पद यदि बराबर समझे न, तो बेड़ा पार हो जाए। इसे क्रियाल आ जाए कि यह वस्तु... सबका हल सारा, सारे (सम्पूर्ण) आगम का। 'सब आगम भेद सु उर बसे।' समझ में आया? ऐसा का ऐसा अपनी कल्पना से कहे, हमने समयसार पढ़ा है। लो, वह कहे हमने समयसार पढ़ा, इसलिए समयसार में तुम कहते हो, ऐसा नहीं है। उसने व्यवहार स्थापित किया है और व्यवहार से होता है, लो, ऐसा कहता है। भगवान! आहाहा! हमने समयसार पढ़ा है कहे, हमने समयसार पढ़ा है, हों! नहीं, ऐसा नहीं। भाई! बापू! क्या कहें? आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; रखकर नहीं, यह अपनी दृष्टि में ही रहा हुआ है। समयसार को क्या कहना है, वहाँ उसे कहाँ दृष्टि को लगाना है! उसके भाव को अपनी दृष्टि में लाना है। इस दृष्टि को उसे क्या कहते हैं, वहाँ लाना नहीं।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। उसमें से कहीं सहारा मिले अपनी दृष्टि के भाव को, उसमें से वहाँ मिले, ऐसा उसे झुकाता है। बापू! यह ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहा कि जो व्यवहार है, वह वास्तव में उससे तो निश्चय हुआ नहीं। निश्चय जो पर्याय जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुई, वह तो द्रव्य के सेवन से प्रगट हुई है; व्यवहार के सेवन

से प्रगट नहीं हुई। अब यहाँ कहते हैं कि परन्तु ज्ञान हुआ न उस सम्बन्धी का ? सेवा तो भले द्रव्य की की है और ज्ञान प्रगट हुआ, परन्तु अब ज्ञान में, उस राग को भी जानने का ज्ञान प्रगट हुआ है या नहीं ? व्यवहार जितना है, उस प्रकार का उतना उस प्रकार का यहाँ ज्ञान प्रगट हुआ है या नहीं ? कहते हैं न, वह प्रगट हुआ, किसके कारण प्रगट हुआ ? व्यवहार के कारण से प्रगट हुआ है ? ज्ञान की पर्याय अपनी योग्यता से अपने कारण से प्रगट हुई है, पर के कारण से नहीं। 'णादो जो सो दुसो चेव' जाननेवाला, ज्ञात हुआ, वह ज्ञात स्वयं ही है, कहते हैं, पर है नहीं। विशेष आयेगा....

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव ! )

२

श्री समयसार, गाथा-६ प्रवचन - २०

दिनांक - २८-०९-१९६८

(छठवीं गाथा का) अन्तिम भाग है। चौथे पद की व्याख्या चलती है। क्या कहा पहले? देखो 'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो' इसकी व्याख्या में आ गया कि शुभ-अशुभ परिणामरूप द्रव्य-वस्तु स्वभाव शुद्ध ध्रुव, वह शुभ-अशुभरूप परिणमता नहीं। इसलिए उसमें प्रमत्त-अप्रमत्त आदि गुणस्थान के भेद नहीं पड़ते। समझ में आया? अप्रमत्त सातवें से चौदहवें और प्रमत्त पहले से छह (गुणस्थान तक)। यह वस्तु स्वयं ध्रुव है, शुद्ध एक ज्ञायकभाव। ऐसा आया न पहले? 'जाणगो दु जो भावो' ज्ञायकभाव है, वस्तु है, वह शुभाशुभरूप नहीं होती; इसलिए उसमें गुणस्थान आदि के भेद नहीं पड़ते। इसलिए उसे प्रमत्त-अप्रमत्त लागू नहीं पड़ता। फिर ज्ञायकभाव की व्याख्या हो गयी।

अब 'एवं भणंति सुद्धं' की व्याख्या निकाली। क्या निकाला? 'एवं जाणंति सुद्धं' ऐसा वहाँ 'भणंति' में लेना। 'एवं जाणंति सुद्धं' ऐसा जो ज्ञायकभाव है... 'एवं जाणंति सुद्धं' इसलिए उसमें से निकाला कि परद्रव्य से भिन्न पड़कर द्रव्य को उपासित किये जाने पर अर्थात् जानने में आने पर। समझ में आया? 'एवं भणंति' इस प्रकार जाने, उसे शुद्ध कहा जाता है। प्रमत्त-अप्रमत्त से भिन्न है, इसलिए शुभाशुभरूप नहीं होता और इस प्रकार से जाने 'एवं भणंति' 'भणंति' यह शब्द है, परन्तु यह शुद्ध वस्तु है, उसे जाने; इसलिए शुद्ध कहा जाता है। समझ में आया? इन तीन पद की व्याख्या हुई। वजुभाई! यह तो पाठ लिया है न, शुद्ध कहलाता है। कहलाता है, इसका अर्थ कि यह जाना। यह जाना, तब उसे शुद्ध कहा जाता है। शुद्ध जानने में आया, ऐसा। मूल तो पाठ में से निकाला है या नहीं? टीका कहीं अद्धर से नहीं निकाली। पाठ के भाव में है, उस भाव को स्पर्श करके कहा है। समझ में आया? यह तो पहला श्लोक है न मुख्य!

आत्मा ज्ञायकभाव एक, ज्ञायकभाव एक। यह दूसरे पद की व्याख्या। पहले के दूसरे पद की, दूसरे भाग की। ज्ञायक एक भाव। इससे उसे ऐसे सामने निकाला कि पुण्य-पाप के

अनेक भाव, उसे पर्याय में प्राप्त होने पर भी द्रव्य से प्राप्त नहीं है। द्रव्यस्वभाव से देखें तो उसे है नहीं; इसलिए उसे अप्रमत्त और प्रमत्त के भेद लागू नहीं पड़ते। वस्तु शुद्ध ध्रुव है। समझ में आया? 'एवं भणंति सुद्धं' इसमें से यह निकाला। परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य को सेवन करे अर्थात् कि यह शुद्ध जो ज्ञायकभाव है, उसकी ओर दृष्टि गयी, यहाँ एकाग्र हुआ, तब उसे शुद्ध है—ऐसा जानने में आया। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं इसमें? जगजीवनभाई! क्या कहा?

श्रोता : अपने को...

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। उसमें 'एवं भणंति सुद्धं' में से निकाला। ऐई! वजुभाई!

अब 'णादो जो सो दु सो चेव' चौथे पद की व्याख्या चलती है। मूल तो यहाँ ज्ञात होता है, वह स्वयं है, ऐसा निकाला। ज्ञात हुआ। परप्रकाश के काल में भी स्वयं है ज्ञायक। फिर उसमें कालभेद नहीं, यह तो समझाते हैं कि इन रागादि को जानने पर भी, पर को जानने पर भी यह वह स्वयं ही है—ज्ञायक ही है। उसमें कोई दूसरा नहीं हो गया, दूसररूप नहीं हुआ। वह तो अपनेरूप रहकर दूसरे को जानते हुए यह जाना है, वह अपना स्वरूप है, परन्तु उस पर को जानने के समय भी ज्ञायकरूप से स्वयं ज्ञात होता है और स्व को जानते समय स्वयं ज्ञात होता है। अर्थात् कहीं दो भेद नहीं है। उसे समझाने की पद्धति की है। समझ में आया? बहुत ऊँचा श्लोक है। मूल यहाँ से शुरु होता है न पूरा अब।

इसलिए कहते हैं कि ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है... दाह्यकृत कहा न? दाह्यकृत। दाह्य के आकार अर्थात् जलनेयोग्य पदार्थ के आकार होने से अग्नि को दहन कहा जाता है, अग्नि को दहन कहा जाता है। जलनेयोग्य पदार्थ को जलाने की अपेक्षा से उसे दहन कहा जाता है, तथापि दाह्यकृत अशुद्धता उससे नहीं है। लकड़ियाँ जलीं, उसकी अग्निरूप यहाँ परिणमा है, लकड़ी की अपेक्षा से परिणमा है—ऐसा नहीं है। उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से... जाणक शब्द है न? ज्ञायक है न? ज्ञायक है। अब ज्ञायक है, उसे पर्याय में लेना है। द्रव्य तो है ज्ञायक। अब पर्याय में जब रागादि—व्यवहार—पर को जानता है, उस समय ज्ञेयाकार होने से उस भाव को ज्ञायकपना प्रसिद्ध है। जानने की अपेक्षा से वह प्रसिद्ध है। तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है... व्यवहार था, इसलिए यहाँ जानने की पर्याय हुई और व्यवहार को जानता है, इसलिए इतनी पराधीनता है, ऐसा नहीं है। ज्ञेय की करायी हुई अशुद्धता नहीं है। करायी हुआ तो अपना ज्ञानस्वरूप है यह। समझ में आया?

ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं; क्योंकि... इसका कारण दिया। ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ... पर को जानने के काल में भी स्वयं ज्ञात हुआ है, उसमें कोई दूसरा है नहीं। दूसरा हुआ नहीं। दूसरे रूप हुआ नहीं। वह तो अपने रूप होकर पर को जानता है, ऐसा कहना, परन्तु उस समय तो ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। जानने की पर्यायरूप हुआ, वह तो ज्ञायक स्वयं ही है। उसमें पर को जानने के काल में दूसरा और स्व को जानने के काल में दूसरा, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ... ज्ञेयाकार अवस्था में परन्तु अवस्था किसकी?—अपनी। उसमें ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी... स्वयं ही है। अवस्था में भी ज्ञायक ही है, ऐसा लेना। बीच में तो दृष्टान्त है। अवस्था में भी ज्ञायक ही है। है न अन्तिम शब्द? दीपक की भाँति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञायक ही है... यह लेना। समझ में आया? अलौकिक... अलौकिक बात!!

श्रोता : बहुत गम्भीर।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत गम्भीर भाव है।

दीपक की भाँति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञायक ही है... इसलिए वह जाननेवाला जानने में आया, वह जानने में आया जाननेवाला—कर्ता और ज्ञात हो, वह अवस्था, वह कर्म। ये कहीं भिन्न नहीं है। पर को जाना, वह कर्म अथवा पर कर्ता और ज्ञान की पर्याय कर्म, ऐसा है नहीं। रागादि व्यवहारादि ज्ञात हुआ, इसलिए वह व्यवहारकृत—व्यवहार कर्ता और यहाँ जानने की पर्याय उसका कार्य, ऐसा नहीं है। उस व्यवहार को जानने के काल में भी स्वयं ज्ञायकपने का परिणामन है, वह कर्ता स्वयं और जानने की पर्याय का उसका कर्म है। समझ में आया? समयसार, यह चीज़ है। उसे समझने के लिये...

श्रोता : राग को जानते हुए ज्ञायक ज्ञात होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं ज्ञात होता है, राग को जानता हुआ, यह तो कहने की भाषा है। व्यवहार को जानना, ऐसा कहना, बाकी उसमें जानना तो अपना है। समझ में आया? इसलिए उसे जानने के कारण से यहाँ जानने में आया, ज्ञात होने के कारण से यहाँ ज्ञात हुआ, ऐसा नहीं। स्वयं के कारण से यहाँ ज्ञात हुआ है। समझ में आया?

स्वयं जाननेवाला है इसलिए स्वयं कर्ता... भगवान ज्ञायकस्वभाव स्वयं जाननेवाला। इसलिए जाननेवाला, वह कर्ता। नहीं कि उस व्यवहार को यहाँ जानता है, इसलिए व्यवहार

कर्ता और जानना उसका कर्म, ऐसा तो है नहीं। समझ में आया ? कहो, है न सामने पुस्तक ? देखो ! यह जयन्तीभाई ! सब भावनगरवाले आवें, तब कितना अधिक सूक्ष्म आता है। और वे आज नहीं आये। उन्हें भाव तो ऐसा था कि आयेंगे। रतिभाई कहे, छठी गाथा सुननी है। सहज... उसके बाहर के संयोग...

आत्मा को जानने के लिये बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है। यह तो आ गया है न ? यह तो स्वयं ही अन्दर में अन्दर गर्दन झुकाकर स्वयं अपना साधन और साध्य होता है, उसे बाहर के विकल्प की भी आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ? और वह विकल्प यहाँ ज्ञात हुआ ?—नहीं; ज्ञान की पर्याय ज्ञात हुई है। ज्ञान ज्ञायक की पर्याय—ज्ञायकपर्याय—ज्ञायक ज्ञात हुआ है। राग नहीं। और राग से ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं; ज्ञायक से ज्ञान हुआ है। राग सम्बन्धी का, व्यवहार सम्बन्धी का ज्ञायक से ज्ञान हुआ है। इसलिए ज्ञायक उसका कर्ता है और ज्ञान की अवस्था हुई, वह आत्मा का कर्म अर्थात् कार्य अर्थात् कर्तव्य है। समझ में आया ?

स्वयं जाननेवाला है, इसलिए स्वयं कर्ता और अपने को जाना, इसलिए स्वयं ही कर्म है। देखा ! व्यवहार को जाना, राग को जाना—ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। अपने को जाना, इसलिए स्वयं कार्य—कर्म। (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में...) दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में दीपक है... यह घड़ा है, यह वस्त्र है, यह है, उसे प्रकाशित करने के समय दीपक, दीपकरूप रहकर प्रकाशित करता है। दीपकपना पररूप हो गया है ? दीपक जो प्रकाशित करता है, वह पर को प्रकाशित करता है ? यह तो कहनेमात्र है। उस समय अपनी पर्याय को प्रकाशित करता है। समझ में आया ?

दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को—अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है... दीपक, वह दीपक ही है। दीपक, वह कहीं घट-पटरूप हुआ नहीं और घट-पट के कारण दीपक की प्रकाशिता हुई नहीं। घट-पट के कारण से दीपक की प्रकाशिता हुई नहीं। समझ में आया ? अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए। अन्य कुछ नहीं। दीपक, दीपकरूप रहा है। पर को प्रकाशित करने के काल में भी दीपक, दीपक में रहकर दीपक है। स्वयं को प्रकाशित करे, (तब भी) दीपक, दीपक में रहकर दीपक है। इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञायकरूप से व्यवहार को प्रकाशित करता है, उस समय भी ज्ञायक, ज्ञायकपने

में रहकर ज्ञायकरूप ही उसका है। अपने को जानने में भी ज्ञायक, ज्ञायकरूप स्वयं ही है, उसमें कुछ दूसरा हुआ नहीं। दूसरा हुआ नहीं, इसलिए दूसरे का ज्ञान हुआ नहीं और दूसरेरूप हुआ नहीं। समझ में आया ? ओहोहो ! अमृतचन्द्राचार्य ऊपर के पाठ में से निकाला है। चार पद का, भाई ! पृथक् करके विचार किया है। कहा, यह निकाला कहाँ से यह सब ? आहाहा ! यह टीका कहीं अद्धर की नहीं है। मूल अन्दर जैसा भरा हुआ है, उसकी स्पष्टता है। 'अन्य द्रव्य से भिन्न पाड़कर सेवन किया जाता हुआ' यह निकाला कहाँ से ? समझ में आया ? 'एवं जाणंति सुद्धं' में से निकाला है। 'भणंति' शब्द... है। बन्धकथा शब्द आता है। भाव की बात है।

भगवान आत्मा ज्ञायक एक भाव, ज्ञायक एक भाव, उसे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य ने स्वयं हेतु दिया कि शुभ और अशुभभाव ही वास्तव में तो उस ज्ञायक की पर्याय से भी भिन्न जाति है। यह ज्ञायकरूप से चौथे में लिया कि ज्ञायकरूप से परिणमता है, वह ज्ञान की पर्याय है। यह उसका स्वरूप नहीं है, यह उसकी पर्याय नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! ज्ञायक भगवान आत्मा, वह तो चैतन्यस्वरूप है। वह चैतन्यस्वरूप स्वयं शुभ और अशुभ जो विकल्प हैं, वह चैतन्य के द्रव्य-गुण तो नहीं, परन्तु उसका-चैतन्य का अंश जो प्रकाश है, वह उसमें नहीं। उसमें नहीं, इसलिए उसमें यह नहीं, उसमें यह नहीं। तो उसरूप इसमें यह नहीं और ये शुभाशुभ परिणाम उसकी पर्याय में नहीं। क्योंकि चैतन्य की पर्याय शुभाशुभरूप नहीं हो सकती। आहाहा ! समझ में आया ? इसलिए उसे चौथे पद में समझाया कि भाई ! उसरूप हुआ नहीं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। ऐसा ज्ञायक एक भाव 'एवं जाणंति सुद्धं' उसे जानने पर। यह ... प्रश्न है न ? ऐसा जानना चाहिए, ऐसा तो इसमें से ... प्रश्न में। 'कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्-' बस। प्रश्न है प्रश्नकार का। बाद में तो यहाँ लिखा है। उसका स्वरूप जानना चाहिए। ऐसा प्रश्न है। ऐसा वह शुद्ध आत्मा कौन है ? अर्थात् शुद्ध कौन है ? शुद्ध कौन है ? प्रश्न है। तब शुद्ध यह है। यह है अर्थात् जो शुभाशुभभावरूप परिणमता नहीं, इसलिए उसे प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद पड़ते नहीं, ऐसा जो ज्ञायक एक भावरूप, उसे जानते हुए, उसे जानते हुए, शुद्ध—ऐसा कहा जाता है और ऐसा जो आत्मा ज्ञायकभाव है, तो ज्ञायक है तो उसकी प्रसिद्धि तो ज्ञान से होती है। ज्ञायक से प्रसिद्धि, ज्ञान से प्रसिद्धि। तब वहाँ व्यवहार है न ? पर जानने में आता है न ? वह पर जानने में भी उस ज्ञायक की प्रसिद्धि में प्रसिद्धि हुई है उसमें। उसमें कहीं पर की प्रसिद्धि हुई नहीं। पर से हुई नहीं, पर की हुई नहीं। पर से हुई नहीं, पर की हुई नहीं। उसकी अपनी हुई है। भाई !

हिम्मतभाई ! उन शुभाशुभभाव का पर्याय में निषेध किया न ! यहाँ वापस पर्याय डाली । समझ में आया ? द्रव्य तो उसरूप परिणमा नहीं परन्तु तब अब पर्याय में ? समझ में आया ? उसे व्यवहार के-पर के भाव जो होते हैं, उन्हें जानने का है न भाव ? स्व-परप्रकाशक स्वरूप है न वह ? स्व-परप्रकाश का रूप, वह अपना है न ? तो उस परप्रकाशन के काल में परप्रकाश स्वयं ज्ञायक ही है और अपने प्रकाश काल में भी स्व-परप्रकाशक ऐसा स्वयं ज्ञायक ही है । उसमें ज्ञायक की पर्याय पर से हुई है और पररूप हुई है, ऐसा तो है नहीं । समझ में आया ? शशीभाई ! बहुत सूक्ष्म । आहाहा ! कहो, समझ में आया इसमें ?

चैतन्य ज्योति जलहलज्योति भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु आत्मा है । इसलिए पारिणामिक शब्द प्रयोग करने में तो दूसरे में भी ( पारिणामिकभाव है ) । यहाँ तो ज्ञायक ( शब्द ) प्रयोग किया है । है तो परमपारिणामिक, परन्तु ज्ञायक परमपारिणामिक—ज्ञायक परमपारिणामिक वस्तु एकरूप भाव । वह भाव, वे जो शुभाशुभभाव, उनमें ज्ञान की कोई जाति नहीं है । समझ में आया ? द्रव्य-गुण नहीं परन्तु उनकी ज्ञान की जाति नहीं है, उनरूप वह द्रव्य परिणमा नहीं है, उनरूप द्रव्य परिणमा नहीं है । इसलिए द्रव्य स्वयं उसे प्रमत्त-अप्रमत्त या द्रव्य को गुणस्थान भेद लागू नहीं पड़ते । ऐसा जो है... अब इसमें तीन ही बोल कहे हैं, भाई ! हों ! चौथा बोल इसमें से नहीं । इन चार बोल का निषेध ग्यारह ( गाथा ) में लेंगे । यहाँ तो अभी तीन का निषेध हुआ है । उसके अनुभव में भले भेद रहा नहीं, परन्तु निषेधरूप से तीन का किया । चौथी गाथा की जरूरत है वहाँ । क्योंकि वहाँ ज्ञान और दर्शन और आत्मा, ऐसे भेद दृष्टि में यहाँ-शुद्ध में नहीं रहे, परन्तु निषेध में तीन प्रकार यहाँ वर्णन किये हैं । समझ में आया ? चौथे के निषेध के लिये सातवीं गाथा लेनी पड़ी है । समझ में आया ? आहाहा ! भारी परन्तु जबरदस्त बात ! ओहोहो ! अमृतचन्द्राचार्य कैसी शैली से बात करते हैं और आचार्य भी कितनी बात और किस प्रकार से सत्य.. सत्य.. सत्य है, उसे सिद्ध करते हैं । इस प्रकार से सत्य है, भाई ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा... यहाँ तो पुनरुक्ति नहीं लगती । नया विचार करने पर कुछ नया आता है, ऐसा । 'ज्ञायकभाव' इतना कहा पाठ में । फिर उसमें से कहा, ज्ञायक तो एक भाव, ऐसा निकाला । ज्ञायक एक भाव, ऐसा कहा । अमृतचन्द्राचार्य ने उसमें यह विशेष डाला है । 'जाणगो दु जो भावो' पश्चात् उसे स्पष्ट किया, ज्ञायक एक भाव है । एक भाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं, इसमें से निकाला है । प्रमत्त-अप्रमत्त तो शुभाशुभ परिणाम का परिणामन हो तो वह प्रमत्त-अप्रमत्त हो । समझ में आया ? क्योंकि वे सब भेद अचेतन की जाति के हैं,



गुणस्थानादि भेद। समझ में आया? आहाहा! इसलिए जो ज्ञायकभाव है, वह शुभाशुभ विकल्पों अथवा शुभाशुभ योग अथवा शुभाशुभ परिणाम—इनरूप हुआ नहीं, इसलिए वह भेद द्रव्य को लागू नहीं पड़ता और इसलिए उस वस्तु को 'एवं जाणंति सुद्धं।' ऐसी चीज को जाने, तब उसे यह 'शुद्ध है', ऐसा कहने में आता है, ऐसा जानने में आता है। तब उसे जानने में आता है। और उस जानने में आता है, उस समय पर्याय तो जानने की हुई, जानने की पर्याय तो हुई न? भाई! इसलिए अब चौथे बोल की आवश्यकता पड़ी। जानने में आया। तब उसमें जानने की पर्याय में वह आया और व्यवहार है, उसका ज्ञान तो आया है या नहीं उसमें? उस समय उसका ज्ञान तो आया है। समझ में आया? आहाहा! उसका स्वभाव है, स्व-परप्रकाश का वह स्वभाव कहा जावे? इसलिए ऐसा जानते हुए शुद्ध है, ऐसा जो ज्ञान में ज्ञात हुआ, उस ज्ञान में भी व्यवहार सम्बन्धी का जो है व्यवहारादि का ज्ञान और इसका ज्ञान, दोनों एक साथ आया ही है। समझ में आया? इसलिए अब कहते हैं कि इस व्यवहार को जानते समय क्या है? उसे जानता नहीं। जानते समय स्वयं ही रहा है। ज्ञायक स्वयं ही रहा है। अपने को जानते समय स्वयं ज्ञायक रहा है, पर्याय से। समझ में आया? भगवानजीभाई! यह तो पहली मूल गाथा है न, इसलिए इसमें पाठ में क्या है, कहा इसमें पाठ में क्या है? बहुत भरा है।

'णादो' ज्ञात हुआ। 'जो सो दु सो चेव' वह, वही है। वह कहीं पररूप हुआ नहीं और पर के कारण हुआ नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए। उस दीपक की भाँति। है न? जाननेवाला भगवान स्वयं को जाना, उस समय पर्याय का स्वभाव व्यवहार जो है, उसे भी जानने का उसमें आ गया है। समझ में आया? वह जाना हुआ जानने में आया। कहते हैं, वह क्या ज्ञात हुआ? वह तो ज्ञायक ही ज्ञात हुआ है। व्यवहार ज्ञात नहीं हुआ और व्यवहार के कारण ज्ञात हुआ, ऐसा (नहीं है), ज्ञायक के कारण ज्ञात हुआ है, ज्ञायक के कारण ज्ञात हुआ है। ज्ञायक कर्तापने के कारण ज्ञायक पर्याय ज्ञात हुई, ऐसा कहते हैं। व्यवहार के कारण ज्ञात नहीं हुआ और व्यवहार ज्ञात नहीं हुआ। व्यवहार के कारण ज्ञात नहीं हुआ और व्यवहार ज्ञात हुआ नहीं। समझ में आया?

उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए। जाननहार भगवान आत्मा। यह तो कहा न? 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, ... ज्ञेयाकार होने से उसे ज्ञायकपना प्रसिद्ध है, ऐसा कहा न? ज्ञेयाकार होने से। वापस अकेला ज्ञायक द्रव्य ऐसा नहीं। यह पर्याय साथ में ली। समझ में आया? वह दृष्टान्त दिया न कि अशुद्धता उसे नहीं है। किसे?—उस अग्नि को। उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से। देखो! पर्याय तो हुई। उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, ...

जानने की पर्याय से ज्ञायक ही है, वह प्रसिद्ध है। तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है... व्यवहार से ज्ञान हुआ है और व्यवहार कर्ता तथा ज्ञान की पर्याय कर्म, ऐसा नहीं है। तथा व्यवहार ही ज्ञात हुआ है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ज्ञायक कर्ता और ज्ञानपर्याय कर्म और ज्ञात हुआ है ज्ञायक। आहाहा! लॉजिक से बात है। लो! गाथा छठवीं हुई। दास! भावनगरवाले आ गये हैं। अब भावार्थ। प्रचलित भाषा में जरा भावार्थ समझाते हैं।

अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब ज्ञायकमूर्ति में पर्याय में जो अशुद्धता आती है, वह तो परद्रव्य के संयोग से आती है, अशुद्ध होना, वह कहीं इसका द्रव्यस्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। अशुद्धता कहीं द्रव्य का स्वभाव नहीं कि अशुद्धरूप परिणामे। वह तो शुद्ध है, द्रव्य-वस्तु तो शुद्ध है। समझ में आया ? अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। संयोग से आती है, इसका अर्थ होता है उसके उपादान में परन्तु संयोग से आती है, स्वभाव में से नहीं आती। सझ में आया ? यह अशुद्धपना भी उसका पर्याय का स्वयं धारण कर रखा हुआ धर्म है, परन्तु पर के संयोग से होता है, इतना अन्तर है। स्वभाव से नहीं।

उसमें मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता,... मूल वस्तु जो ज्ञायक चैतन्य सत्त्व है, सत् है, सत् है, जो ज्ञानस्वरूप से सत् है, अस्तिरूप है, भावरूप ज्ञायकरूप अस्तिरूप है, ऐसा ज्ञायकभाव, वह मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता,... हुआ ? तब अब होता क्या है ? मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। समझ में आया ? निमित्त की व्याख्या वापस ऐसी नहीं, हों! निमित्त के कारण से, ऐसा नहीं। निमित्त से (अर्थात्) यहाँ अशुद्ध उपादान से (हुई), वहाँ उस निमित्त से (हुई), ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? शब्द-शब्द में विवाद। समझे नहीं और क्या करे ?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह संयोग से होती है अर्थात् क्या कहा ? स्वभाव से नहीं होती, ऐसा कहा। स्वभाव से हुई नहीं। अन्दर में से-स्वभाव में से अशुद्धता आयी नहीं, इसलिए संयोग के कारण से अशुद्धता हुई है। वहाँ निमित्त कारण कहा है, अशुद्ध उपादान तो स्वयं का है। इसलिए यहाँ कहा, देखो न!

परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। समझ में आया ? अवस्था मलिन हुई, वह तो अशुद्ध उपादान है। वह परद्रव्य तो निमित्त है। समझ में आया ? द्रव्य-दृष्टि

से तो द्रव्य जो है वही है... द्रव्यदृष्टि से। द्रव्य है न, वस्तु; उस दृष्टि से देखें तो द्रव्य जो है, वही है। वस्तु तो जो है, वह है। वह कहीं अशुद्ध हुई नहीं। द्रव्यदृष्टि से देखें तो द्रव्य है, वह कहीं पर्याय में आया नहीं। पर्याय (अवस्था)–दृष्टि से देखा जाये... पर्याय अर्थात् अवस्था दृष्टि से देखा जाए तो मलिन ही दिखाई देता है। अवस्था दृष्टि से देखने में, उसकी पर्याय को देखा जाए। देखो! उसकी पर्याय को अवस्था दृष्टि से देखें तो मलिन ही दिखती है, मलिन है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पर्यायदृष्टि से पर्याय मलिन है। समझ में आया? वे कहते हैं वे तो मलिन मानते नहीं। वे तो तीनों काल में पर्याय को शुद्ध ही मानते हैं। उस नियमसार में आया है न? वह टीका। कारणशुद्धपर्याय की बात। वह आया तो झूठी बातें फैलायी गयी। बहुत जगह लिखते हैं। अरे! भगवान! तू क्या करता है? बापू! आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है,... देखा! इस प्रकार से आत्मा का मूल स्वभाव तो ज्ञायकपना मात्र है। पर्याय की मलिनता हो, वह तो पर्याय में है, कहीं वस्तु में नहीं। वस्तु ज्ञायकमात्र है, वस्तु ज्ञायकमात्र है। आहा! और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से... देखो, स्पष्टीकरण किया। उस परद्रव्य के निमित्त से, कहा है न? तो परद्रव्य कौन सा? तो वापस स्पष्टीकरण किया। पुद्गलकर्म के निमित्त से, ऐसा। परद्रव्य तो दूसरे बहुत हैं। पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है... यह तो। पुद्गलकर्म का निमित्त है और अशुद्ध उपादान स्वयं पर्याय में मलिन है, वह पर्याय है—अवस्था है।

पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो वह मलिन ही दिखाई देता है... अवस्था में से देखो। अभी तो पर्याय की खबर नहीं होती। थे न? कहाँ गये वे? बगसरावाले। बोरसद-बोरसद। चले गये होंगे। बाहर बैठे हैं? कुछ खबर नहीं होती। लोक को कुछ अभ्यास ही नहीं होता। विकार अर्थात् कहाँ होगा?—पर्याय में। पर्याय अर्थात् क्या होगा? कुछ अभ्यास ही नहीं होता। लोगों को जैन में जन्में उन्हें कुछ (अभ्यास ही नहीं) वाड़ा में जन्मे, परन्तु क्या कहते हैं द्रव्य-गुण-पर्याय, यों व्यवहार जानना, हों! परमार्थ अलग बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु जो है... अब और वस्तु क्या वापस? द्रव्य अर्थात् वस्तु त्रिकाली सत् पूरा, उसे द्रव्य और वस्तु कहते हैं। त्रिकाली सत्... त्रिकाली सत्त्व को द्रव्य अथवा उसे वस्तु अथवा उसे द्रव्यदृष्टि से देखो तो द्रव्य, वह ज्ञायकरूप से त्रिकाल है और उसकी दशा वर्तमान अवस्था—हालत—पर्याय—पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादि मलिन है,

वह उसकी पर्याय है। द्रव्य ज्ञायक है, वह उसकी पर्याय है। दो होकर प्रमाण का विषय (होता है)। समझ में आया ?

पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो वह मलिन ही दिखाई देता है... मलिन ही दिखती है। आहाहा! उस पर्याय में कुछ शुद्धता नहीं है। पर्याय में शुद्धता (होवे) तो सिद्ध हो जाए। समझ में आया ? तो यह रहे किसका यह ? समझ में आया ? पर्यायदृष्टि से देखा जाए... यह आत्मा भगवान ज्ञायकस्वरूप द्रव्य—वस्तु त्रिकाल और उसकी अवस्था जो क्षणिक है, उसमें मलिनता है और वह मलिनता पुद्गल (कर्म) के संयोग से, निमित्त से अपने में हुई अपने से है। उस अवस्था से देखें तो वह मलिन है; वस्तु से देखें तो त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया ? यह तो पढ़ा है या नहीं यह तुमने ? तुमने यह वहाँ पढ़ा है या नहीं ? मुम्बई, निवृत्त हो (तब)। वहाँ बराबर समझ में नहीं आता था, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! तुम्हारी बात तो सच्ची है, हों! अपने आप कहीं बराबर (समझ में नहीं आता)।

पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो वह मलिन ही दिखाई देता है... मलिन ही दिखायी देता है। पर्याय संसारपर्याय है। संसारपर्याय है, वह इसकी विकारी दशा है। इसका संसार कहीं बाहर में नहीं है। स्त्री, पुत्र, पैसा, कुटुम्ब, वह संसार नहीं है, वह तो बाहर जड़ पर चीज है। उसका संसार, ज्ञायकभाव जो त्रिकाली द्रव्य है, उसमें संसार नहीं है। तथा इसका संसार बाह्य पदार्थ में नहीं है—कर्म में, शरीर में, स्त्री में, पुत्र में। इसका संसार 'संसरण इति संसारः' ज्ञायकभाव से हटकर पर्याय में मलिनता—मिथ्यात्व की, पुण्य-पाप की, दया-दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, और यह मेरा काम है, ऐसा कर्तव्य—ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह इसकी संसारदशा है, वह संसारपर्याय है। पर्याय से देखो तो वह संसार इसमें है। समझ में आया ? इसका संसार द्रव्य में नहीं, इसका संसार बाह्य में नहीं—स्त्री, पुत्र, पैसा, मकान, बँगले में नहीं। कहो, समझ में आया ? हीरा-बीरा की बंगड़ी में इसका संसार नहीं। इसकी पर्याय में संसार है। संसार अर्थात् वस्तु जो ज्ञायक चिदानन्द भगवान सच्चिदानन्द पूर्ण स्वरूप, उसमें न रहकर पर्याय में अनादि की मलिनता उत्पन्न की है, वह संयोग निमित्त, कर्म-पुद्गल निमित्त, उत्पन्न उनसे स्वयं के कारण से हुई है। इस पर्याय से देखो तो मलिन ही है। कहो, समझ में आया ? न्यालभाई! है या नहीं ? है या नहीं ? देखो! है, वैसा आया है या नहीं हो, वैसा आया है ? है या नहीं ? पर्याय में राग-द्वेष और पुण्य-पाप न हो तो यह संसार किसका ? दुःख किसे ? दुःख किसे ? पर्याय में राग-द्वेष, वह दुःख इसे है, दुःख इसमें, इसकी पर्याय में है। समझ में आया ? आहाहा!

और द्रव्यदृष्टि से देखा जाए... द्रव्य अर्थात् वस्तु, त्रिकाली ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, ध्रुवभाव, स्वभावभाव, एकरूप चैतन्य द्रव्यस्वभाव से देखा जाये, दृष्टि से देखा जाये, हों! द्रव्य तो द्रव्य। अब द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; ज्ञान की मूर्ति चैतन्यबिम्ब ध्रुव स्वरूप अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति प्रभु, वह तो ज्ञायक ही है। समझ में आया? ठीक यह अमरचन्द्रभाई इसमें—पहले श्लोकों में बराबर रह गये। द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वरूप है, वह कहीं विकल्परूप, पुण्य-पापरूप बिल्कुल हुआ ही नहीं। समझ में आया? भगवान् चैतन्य शुद्ध ध्रुव, जिसमें नजर डालने से ध्रुवपना ज्ञात हो, वह वस्तु तो ज्ञायक ही है। उसमें कुछ अशुद्धता आयी नहीं अर्थात् वह कहीं अचेतनरूप हुआ नहीं अर्थात् कि चैतन्य की जाति बदलकर उसमें दूसरी जाति के विरुद्ध भाव—पुण्य-पाप के अचेतन आदि, उनरूप तो हुआ नहीं, वह तो ज्ञायक, ज्ञायक ही रहा है। समझ में आया? आहाहा! कहाँ धर्म होता है और धर्म करनेवाला कितना है और धर्म पर्याय में क्यों नहीं है? यह उसे समझाते हैं।

**श्रोता :** ...धर्म हो नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** स्वयं कौन है, उसे जाने बिना (धर्म किस प्रकार होगा?) धर्म जिसमें होता है, धर्म वह पर्याय है—निर्दोष दशा। अब निर्दोष दशा जिसमें होती है, वह है कौन? उसके आश्रय बिना निर्दोष दशा आयेगी कहाँ से? समझ में आया? धर्म कहीं बाहर से आवे, ऐसा है कुछ? धर्मी ऐसा जो ज्ञायकस्वभाव, उसकी अन्तर में दृष्टि और ज्ञान और एकाग्र होने पर धर्मी का जो स्वभाव है, उसमें एकाग्र होने पर शुद्धत्व की पर्याय प्रगट हो, वह धर्म है। समझ में आया?

कहीं जड़त्व नहीं हुआ। अर्थात्? चैतन्य ज्योति प्रकाश का पुंज, चैतन्य का पुंज है, वह अन्धकाररूप हुआ नहीं। सूर्य अन्धकाररूप होगा? समझ में आया? इसी प्रकार चैतन्य का नूर... यह तो साधारण परमाणु के अनन्त रजकण का पिण्ड है, साधारण स्कन्ध है। एक द्रव्य नहीं। यह तो एक द्रव्य, एक वस्तु, अकेला चैतन्यपुंज प्रभु, अकेला चैतन्य का गट्टा। ढोकडुं समझते हो? रुई की गाँठ होती है न बड़ी? चोबीस-चोबीस मण, पच्चीस-पच्चीस मण के गट्टे होते हैं। यह (आत्मा) अनन्त ज्ञान का गट्टा है। यहाँ क्षेत्र की बात की आवश्यकता नहीं है। क्षेत्र छोटा-बड़ा, उसका प्रश्न नहीं है। उसका भाव बेहद—बेहद स्वभाव अपरिमित मर्यादारहित, हदरहित, ऐसा जिसका स्वभाव, ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल शुद्ध त्रिकाल एकरूप है। वह वस्तु पुण्य-पापरूप या अचेतनरूप, भेदरूप, गुणस्थानरूप हुई नहीं।

यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। इस गाथा में। द्रव्यदृष्टि को प्रधान / मुख्य करके। पर्याय है अवश्य, परन्तु उसे गौण करके व्यवहार करके, अभाव करके, व्यवहार गौण करके, व्यवहार करके अभाव (कहा है)। वस्तु द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके वस्तु जो है यह, वहाँ नजर डालनेयोग्य जो चीज़ है, वहाँ उसे प्रधान / मुख्य किया है। इसमें—छठी गाथा में कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय है। प्रमाद और अप्रमाद आदि भेद चौदह गुणस्थान के हैं। प्रमाद अर्थात् पहले गुणस्थान से छठवें तक प्रमाद, सातवें से चौदहवें तक अप्रमाद। ये सब प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद वे परद्रव्य की... संयोग से उत्पन्न होती दशायें हैं। कहीं ज्ञायकभाव नहीं है और ज्ञायकभाव से उत्पन्न होती चैतन्य की किरण यह नहीं है।

यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, ... क्या कहते हैं? यह प्रमत्त-अप्रमत्त भाव, गुणस्थान आदि भाव पर्याय में है; वस्तु में नहीं। यह अशुद्धता, यह प्रमत्त-अप्रमत्त के भाव, यह शुभाशुभभाव, यह गुणस्थान भेद के भाव, ये द्रव्यदृष्टि में गौण हैं। वस्तु-दृष्टि कराने को उस पर्याय को गौण कर डाला है। गौण अर्थात् मुख्य न रखकर गौण—गर्भित में कर डाला है। गौण करके उसे व्यवहार कहा है। समझ में आया? गौण करके, मुख्यपने के भाव की अपेक्षा से उसे गौण करके, गर्भित में लेकर उसे व्यवहार (कहा है)। इस द्रव्यदृष्टि में वह अशुद्धता गौण है... अर्थात् कि व्यवहार है... अर्थात् कि अभूतार्थ है... अर्थात् कि झूठा है अर्थात् कि उपचार है... बहुत सरस पण्डित जयचन्द्र भी... क्या कहा?

भगवान चैतन्य ज्योति द्रव्य स्वभाव वस्तु की दृष्टि में, उस दृष्टि में वर्तमान पर्याय के भेद को गौण कर डाला है। गौण अर्थात् उसकी मुख्यता न रखकर उसे गर्भित में कर डाला है और इसलिए वह व्यवहार है। अशुद्धता गौण है, इसलिए वह व्यवहार है। वह अशुद्धता उस पर्याय की द्रव्यदृष्टि में गौण है, उसे यहाँ व्यवहार कहते हैं, उसे अभूतार्थ कहते हैं। अभूतार्थ—नहीं। गौण पहले रखा, फिर व्यवहार रखा, फिर अभूतार्थ रखा है। समझ में आया? उस समय के पण्डित ने भी कितना स्पष्ट किया है!

श्रोता : यह तो आप मिले...

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई अपने गुजराती का स्पष्टी हिन्दी यह हिम्मतभाई ने किया, तब यह सब विशेष स्पष्ट में-ख्याल में आता है। कहो, समझ में आया?

श्रोता : अनपढ़ मनुष्यों में...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। परन्तु यह कठिन है जरा। यह कहा न ?

प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, ... यह अशुद्धता प्रमत्त-अप्रमत्त शुभाशुभ परिणाम, यह सब अशुद्धता वस्तु की दृष्टि में गौण है, व्यवहार है। अर्थात् इसका अर्थ कि व्यवहार है, इसलिए पर है, ऐसा। समझ में आया ? अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा ! इसलिए अभूतार्थ है, ... ऐसा कहा, देखा न ! अभूतार्थ है। द्रव्यदृष्टि में वह अशुद्धता है ही नहीं, है ही नहीं जीव में। समझ में आया ?

अ अर्थात् अ अर्थात् नहीं; विद्यमान पदार्थ। पुण्य-पाप के भाव, प्रमत्त-अप्रमत्त के भाव, अशुद्धता के भाव वे गौण हैं, व्यवहार हैं, अभूतार्थ—नहीं विद्यमान पदार्थ। वह अशुद्धता विद्यमान पदार्थ नहीं है। ऐसा कहकर फिर असत्यार्थ है... अर्थात् झूठा है, ऐसा कहा। विद्यमान पदार्थ नहीं है। इसलिए वह असत्यार्थ है। समझ में आया ? अशुद्धता। इसलिए उपचार है, ... समझ में आया ?

अब इसके सामने द्रव्यदृष्टि शुद्ध है... वस्तु ज्ञायकभाव की दृष्टि, वह द्रव्यदृष्टि, वह शुद्ध है। दृष्टि अर्थात् ? दृष्टि तो पर्याय है, परन्तु जिस दृष्टि से द्रव्य लक्ष्य में आवे, वह द्रव्य, वह शुद्ध है। समझ में आया ? द्रव्यदृष्टि शुद्ध है... इसका अर्थ कि दृष्टि तो पर्याय है, परन्तु उसका विषय जो द्रव्य है, वह शुद्ध है। समझ में आया ? वह पर्यायदृष्टि कही न, इसलिए यहाँ द्रव्यदृष्टि ली, ऐसा। द्रव्य को लक्ष्य में लेना, वह द्रव्य शुद्ध है। पर्याय को लक्ष्य में लेना, वह पर्याय अशुद्ध है, गौण है। समझ में आया ?

अभेद है... वस्तु है, वह अभेद है। वस्तु शुद्ध है, अशुद्धता नहीं। उस अशुद्धता (के सामने) शुद्ध डाला। समझ में आया ? उसमें अशुद्धता डाला था न, वह पर्याय अशुद्धता। उसके सामने द्रव्यदृष्टि शुद्ध है। वह अभेद है... लो ! समझ में आया ? वह भेद है, यह अभेद है। वह गौण है, उसके सामने अभेद डाला। वह व्यवहार है, उसके सामने निश्चय डाला। समझ में आया ? द्रव्य / वस्तु जो है, वह शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है... अभूतार्थ के सामने भूतार्थ डाला। वह सच्चा पदार्थ है, ऐसा कहते हैं। ज्ञायक त्रिकाली वस्तु, वह सच्चा पदार्थ है। भूतार्थ अर्थात् विद्यमान पदार्थ है। विद्यमान है, इसलिए सच्चा है। वह अविद्यमान है, इसलिए खोटा है। समझ में आया ? और इसलिए उस पहले में उपचार कहा था। यह परमार्थ है। वस्तु, वह परमार्थ है। वस्तु जो ज्ञायक चैतन्य, उसकी दृष्टि करना, क्योंकि वस्तु परमार्थ है, वस्तु परमार्थ है। समझ में आया ?

यह धर्म कैसे करना, उसकी यह बात चलती है। समझ में आया ? मन्दिर जाने में पुण्य होता है, वह धर्म नहीं है, भगवान की भक्ति-बक्ति करे, वह धर्म नहीं है, परमार्थ धर्म नहीं है; व्यवहार, वह गौण है, परन्तु यह परमार्थ धर्म होवे तो। समझ में आया ? यह दया-बया पालना, वह धर्म नहीं है—ऐसा कहते हैं। यह व्रत पालना, यह करना, वह धर्म नहीं है। वह तो राग की मन्दता का पुण्य है, धर्म नहीं। धर्म, वह वस्तु है, उसकी दृष्टि और ज्ञान करना, उसमें स्थिरता (होना) वह धर्म है और वस्तु परमार्थ है, वस्तु परमार्थ है, वस्तु सत्यार्थ है, वह भूतार्थ है। उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता का नाम धर्म है। कहो, समझ में आया ?

इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं... देखा! परमार्थ कहा न वस्तु! इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है;... ज्ञायक चैतन्यज्योति, चैतन्यबिम्ब, जलहल ज्योति चैतन्य ध्रुव। उसमें भेद नहीं हैं, ... भेद नहीं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। लो! देखा न! यहाँ ऐसा कहा। आचार्य ने ऐसा कहा कि शुभाशुभरूप परिणमता नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। अर्थात् यहाँ कहा कि भेद नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। यह तो वह की वह बात है। समझ में आया ? अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने ऐसा कहा कि भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्यज्योति ध्रुव सत् सत् चन्द्र, चन्द्र में भगवान शुद्ध शान्तरस का कन्द, वह शुभ-अशुभभावरूप परिणमता नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। यहाँ कहते हैं कि वह भेद नहीं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। यह तो उस शुभाशुभ के भेद नहीं, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। समझ में आया ? समयसार तो एकबार लेना चाहिए। पन्द्रह बार हो गया अब। अब सोलहवीं बार चला है। मूल चीज है, यह तो मूल चीज है। समयसार अर्थात् तो... आहाहा! हजारों शास्त्रों का, दिव्यध्वनि का सार समयसार आत्मा।

इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं है, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। समझ में आया ? अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा कि शुभ-अशुभभावरूप परिणमता नहीं, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। अर्थात् शुभाशुभभाव भेद है, भेद है। विकल्प, वह भेद है, वह नहीं है; इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं। यहाँ कहते हैं, पर्याय का भेद नहीं होता, इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे... अब आया चौथा बोल। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है;... देखा! जानने से अर्थात् पर्याय से। ज्ञायक-जाननेवाला... जाननेवाला... ऐसी आती है न ध्वनि? जाननेवाला... जाननेवाला... चैतन्य भगवान जाननेवाला। नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है;...

श्रोता : स्व का या पर का ?



पूज्य गुरुदेवश्री : सब, सब । सब इसमें ज्ञान, श्रुतज्ञान की पर्याय सब जानती है । समझ में आया ?

क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है... ज्ञेय अर्थात् पर । फिर रागादि से लेकर सब पर । उसका ज्ञान में जब जानना होता है, प्रतिबिम्ब अर्थात् वह कहीं... प्रतिबिम्ब क्यों कहा ? देखो न ! आया था न अपने ? बिम्ब और प्रतिबिम्ब । सिद्ध को जब बिम्ब कहते हैं, तब यहाँ पर्याय है, उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं । पर्याय उस प्रकार की हुई । 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब... अर्थात् ज्ञेय सामने चीज है, वह बिम्ब है और यहाँ अपनी पर्याय में उस प्रकार का ज्ञान होता है । जब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है । देखा ! उस पर्याय में उस प्रकार का यहाँ अपना ज्ञान हुआ । उसे ज्ञान में वैसा अनुभव आता है, वह वस्तु कहीं अनुभव में नहीं आती । समझ में आया ? व्यवहार अनुभव में नहीं आता । उस सम्बन्धी का अपना हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में वैसा ही अनुभव में आता है । वैसा ही अनुभव में आवे न ! जैसा वहाँ सामने हो, वैसा ज्ञान होता है, उस ज्ञान को अनुभवता है ।

तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है,... समझ में आया ? तथापि उस ज्ञेय से करायी हुई पराधीनता, पराश्रयता, ज्ञान की पर्याय उससे नहीं है । वह पराधीन नहीं है । क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में भासित हुआ । जैसा ज्ञेय आदि—रागादि पर ज्ञान में ज्ञात हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है । वह तो ज्ञायक का अनुभव करने पर ज्ञायक है, वह कहीं ज्ञेयरूप नहीं हुआ । ज्ञायक का अनुभव करने पर ज्ञायक ही है । 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ, सो मैं ही हूँ...' यह मैं जाननेवाला हूँ, वह मैं हूँ । व्यवहार जाननेवाला है ? व्यवहार को जानता है ? 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ, सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं'—ऐसा अपने को अपना... अपने को अपना एकरूप अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है,... जाननेरूप क्रिया का कर्ता आत्मा है । जाननेरूप क्रिया का कर्ता वह व्यवहार और ज्ञेय नहीं है । और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है । ज्ञान की पर्याय ने उसे जाना है, पर को जाना नहीं । कहो, समझ में आया ? ऐसा एक ज्ञायकत्वमात्र स्वयं शुद्ध है । लो ! विशेष कहा जाएगा....

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव ! )

३

श्री परमात्मप्रकाश, श्लोक-१६४, प्रवचन - २१५  
दिनांक - १३-०२-१९७७

श्री परमात्मप्रकाश। १६४।

२१५) जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु।  
तुइइ मोहु तडत्ति तसु पावइ परहैं पवाणु॥१६४॥

आगे फिर निर्विकल्प समाधि का कथन करते हैं। यह तो अन्तिम अधिकार है न? ऊँची चीज़ है। जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु की समीपता से, सन्मुखता से जिसे ज्ञान हुआ है, उसके ज्ञान में आत्मा पवित्र पूर्ण है, ऐसी प्रतीति और ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुआ है। समझ में आया? ज्ञान की जो पर्याय है, वह है तो ज्ञानगुण की। वह पर्याय परसन्मुख जानने में जो है, वह पर्याय मिथ्या है। आहाहा! अन्तर ज्ञेय-ज्ञायकस्वरूप को जाननेवाली जो पर्याय है, तथापि स्वसन्मुख ढलती नहीं, इसलिए वह मिथ्याज्ञान ज्ञान की पर्याय कहने में आती है, चाहे तो ज्ञान का पठन नौ पूर्व, ग्यारह अंग का हो। राग है, वह तो बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञान की पर्याय वह स्व सन्मुख न होकर परसन्मुख में झुका हुआ ज्ञान, उसमें वस्तु नहीं आयी। जिसकी पर्याय है, वह चीज़ नहीं आयी। आती तो है पर्याय में, परन्तु इसे दृष्टि नहीं; इसलिए वस्तु नहीं आयी। आहाहा! ऐसा है। इसलिए जिसने...

अन्वयार्थ - जो ध्यानी पुरुष निर्विकल्प समाधि में... 'आकाशे' शब्द से (आशय) निर्विकल्प समाधि। आहाहा! जिसमें राग की शून्यता है, परसन्मुख के झुकाव का भी जिसमें अभाव है। आहाहा! निर्विकल्प समाधि अर्थात् शान्ति। उसका स्वभाव ही अभेद निर्विकल्प शान्तस्वरूप है। आहाहा! उसमें जिसने दृष्टि लगायी, उसे अभेद निर्विकल्प शान्ति जो प्रगट हुई है, वह आकाश की भाँति; जैसे आकाश पर के मलिनभाव से रहित है, उसी प्रकार वह निर्विकल्प समाधि राग के मैल से रहित है। आहाहा! ऐसी बातें। समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं, जो निर्विकल्प समाधि में मन स्थिर करता है,... एकदम सार है, भाई! जिसने परसन्मुख के झुकाव की दशा को छोड़कर निर्विकल्प शान्तिस्वरूप भगवान

आत्मा में जिसने निर्विकल्प समाधि जोड़ दी है। आहाहा! वह आकाश। निर्विकल्प समाधि को आकाश कहते हैं। आहाहा! जैसे आकाश परपदार्थ से शून्य है, वैसे भगवान आत्मा का ध्यान निर्विकल्प शान्ति में विकल्प से शून्य है। उसमें जो स्थित है, उसका मन स्थिर हो जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मन स्थिर करता है, उसी का मोह शीघ्र टूट जाता है,... आहाहा! अर्थात्? स्वसन्मुख के परिणमन के काल में परसन्मुख के राग की वहाँ उत्पत्ति नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है। स्ववस्तु क्या है और उसका आश्रय कैसे लेना, इस बात में अभी पूरा फेरफार हो गया है। इसलिए लोगों को लगता है कि यह तो... बापू! तेरी चीज़ ही यह है और अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। उसकी स्वीकृति नहीं, इसलिए इसे वह दिखता नहीं। आहाहा! इसकी स्वीकृति में अल्पज्ञ और रागादि को जाननेवाला ज्ञान वह मैं, यह मिथ्या स्वीकृति-विश्वास है। सम्यक् विश्वास हो, उसे भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप है, अस्ति है, उसके सन्मुख होने से निर्विकल्प समाधि होती है। आहाहा! रागरहित शान्तिरूप समाधि होती है। शान्त... शान्त... उसे मन टूट जाता है। अर्थात् परसन्मुख के विकल्प उत्पन्न नहीं होते। वह टूट जाता है। अब ऐसी बातें... इसमें वे तो और कहे, बारहवें गुणस्थान तक... आता है न! लेख आते हैं। भाई नहीं आये? गये होंगे वहाँ। बारहवें गुणस्थान तक पंच महाव्रत आदि हैं, ऐसा शास्त्र में आता है। वह तो अन्दर में महाव्रत का स्थिरपना, वह महाव्रत है। वह शुभ उपयोगरूपी महाव्रत, वे बारहवें में कहाँ थे? वहाँ तो वीतरागता है। एक जगह शास्त्र में आता है, परन्तु वह तो अन्दर निर्विकल्प वीतरागी परिणति को महाव्रत कहा गया है। वहाँ कहते हैं कि महाव्रत के परिणाम और समिति, गुप्ति से केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ कहते हैं, महाव्रत के परिणाम जो शुभ हैं, वे तो हैं ही नहीं न! वह शुभ नहीं। वहाँ तो वीतराग के परिणाम हैं। यहाँ तो मन टूटने पर मोह शीघ्र टूट जाता है,... इस कारण से, हों! भगवान पूर्ण शुद्धस्वरूप का आश्रय लेने से निर्विकल्प शान्ति उत्पन्न होने पर, उससे वीतरागी परिणति उत्पन्न हुई, उसमें से मोह अर्थात् परसन्मुख के सावधानी के विकल्प उत्पन्न नहीं होते। इसलिए मोह टूट जाता है। आहाहा! समझ में आया ?

और ज्ञान करके लोकालोकप्रमाण आत्मा को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् कि उसका ज्ञान लोकालोक को जानता है। आहाहा! समझ में आया? अन्दर पर्याय ऐसी उत्पन्न होती है कि लोकालोक को जाने, उसे लोकालोक प्रमाण ज्ञान हुआ, ऐसा कहने में आता है।

आहाहा! है ? लोकालोकप्रमाण आत्मा को प्राप्त हो जाता है। दूसरे ऐसा कहें, लोकालोक प्रमाण आत्मा हो जाता है। शब्द का आशय क्या है, यह जानना चाहिए न!

भावार्थ - आकाश अर्थात् वीतराग चिदानन्दस्वभाव अनन्त गुणरूप और मिथ्यात्व रागादि परभावरहित स्वरूप निर्विकल्प समाधि यहाँ (आकाश) समझना। यहाँ आकाश का अर्थ यह लेना, कहते हैं। रागरहित चिदानन्द ज्ञानानन्दस्वभाव, अनन्त गुणरूप और मिथ्यात्व रागादि परभावरहित। यह अस्ति है, इससे रहित है। ऐसा जो स्वरूप, निर्विकल्प समाधि, पर्याय में रागरहित शान्ति उत्पन्न हुई और वीतराग परिणति, आहाहा! उसे यहाँ आकाश कहा गया है। समझ में आया ? जिसे ज्ञान की दशा इतनी विस्तार प्राप्त शक्ति है, उसकी परिणति में विस्तार प्राप्त शक्ति इतनी प्रगट होती है कि मानो लोकालोक को जाना है अर्थात् व्यापक हो गया है। वास्तव में तो लोकालोक को जानता है। इतनी ताकत है, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान, हों!

जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्यों से भरा हुआ है,... आकाशद्रव्य है न लोकालोक प्रमाण! उसमें सब द्रव्य रहे हैं। आकाश में द्रव्य रहे हैं। परन्तु सबसे शून्य... है। अपने स्वरूप है,... आहाहा! आकाश सब पदार्थों से भरा हुआ है, दूसरे छह द्रव्यों से, परन्तु स्वयं पर से शून्य है। आहाहा!

उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा... ज्ञानस्वरूपी आत्मा भगवान चिदानन्द प्रकाश, वह रागादि उपाधियों से रहित है, शून्यरूप है,... विकल्प से शून्य है। यह प्रवचनसार में आया है, स्व से अशून्य और पर से शून्य है। सप्तभंगी चली है। आहाहा! क्या वह शून्य ? भाई! भाषा नहीं। स्वयं से वह अशून्य है, भरपूर स्वभाव से भरा हुआ भगवान है। पर से शून्य है। जैसे स्व से अस्ति है, पर से नास्ति है। यह सप्तभंगी जैसे ली है, उसमें ऐसा उतारा है। आहाहा! स्व से अशून्य अर्थात् है पदार्थ महाप्रभु और विकल्प से शून्य है, रागादि से शून्य है। यह अस्ति-नास्तिरूप ही वह विराजता है, वह भगवान आत्मा है। ऐसी बात है। उसमें संसार के विकल्प का अभाव है और स्वभाव की परिपूर्णता का सद्भाव है। आहाहा! व्याख्या तो दूसरी क्या हो ? उसके सामने देखना, उसका आदर करना, सत्कार करना। सत्कार, आदर कब हो ?—कि स्वसन्मुख ढले तो, स्वसन्मुख होवे तो ( हो )। आहाहा! उसे यहाँ लोकालोक को जानता है, ऐसा कहने से पर से शून्यरूप है।

इसलिए आकाश शब्द का अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप लेना। व्यवहारनयकर ज्ञान

लोकालोक का प्रकाशक है। व्यवहार से लोकालोक प्रमाण प्रकाशक है। क्योंकि लोकालोक में ज्ञान कहीं तन्मय नहीं होता। आहाहा! और निश्चयनयकर अपने स्वरूप का प्रकाशक है। लो! आहाहा! इसमें भी विवाद निकालते हैं। सर्वज्ञ हैं, वे व्यवहार से हैं। ऐसा कि सर्व आया न—दूसरा सब बहुत आया न! परन्तु वह दूसरा सब नहीं, वह तो अपना सर्वज्ञ स्वभाव शक्तिरूप से प्रगटा है। उसमें स्व-पर का प्रकाशित करना, ऐसा सर्वज्ञपना अर्थात् आत्मज्ञपना। आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा! सर्व को जानते हुए पर में तन्मय होता है? अपनी पर्याय को जानते हुए तन्मय होकर जानता है, इसलिए वह अपने को जानता है।

**श्रोता :** पर का जानना, वह अपने ज्ञान का जानना है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर का वह है तो अपना ज्ञान। लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपने से हुआ है, लोकालोक है; इसलिए हुआ है (-ऐसा नहीं है)। आहाहा!

निश्चयनयकर अपने स्वरूप का प्रकाशक है। स्वयं ज्ञान, स्वयं ज्ञाता और स्वयं ज्ञेय। आता है न कलश! समयसार में। स्वयं को ही प्रकाशित करता है। स्वयं ज्ञाता-जाननेवाला, अपना ज्ञान, वह ज्ञान और स्वयं ही ज्ञेय। ज्ञाता और ज्ञान का ज्ञेय। आहाहा! उसमें लोकालोक का ज्ञान अपना, अपने से पर की अपेक्षा बिना आ गया है। आहा! उसे व्यवहार से पर को जाने, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! चैतन्यसूर्य भगवान अन्दर... आहाहा! उसे शक्तिहीन करके माना। जिसे सिद्ध की उपमा भी पर्याय की अपेक्षा से दी जाती है। उसकी वस्तु है, उसे उपमा क्या? आहाहा! अन्दर बड़ा चैतन्यहीरा पड़ा है, प्रभु! आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द भरचक भरा है। आहाहा! उसे पर्याय द्वारा निकाले तो उसे अनुभव हो। आहाहा! और अनुभव हो, उसमें प्रतीति आवे, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ऐसी बात है। समझ में आया? ऐसी वस्तु है। यह तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को नहीं मारना और दया पालना, ऐसा समझ में आवे। क्योंकि यह कर सकता है, ऐसा मानता है। आहाहा!

यहाँ तो तेरी दया पाल। तू जितना है, वैसा प्रतीति में ले। वह निर्विकल्प प्रतीति में आ सकता है। वह राग में या विकल्प में नहीं आ सकता। आहाहा! बड़ा विवाद। देह की स्थिति तो देखो! यह बड़ा ताबूत... आहाहा! अभी तो आहार करने के समय वहाँ आहार लेने आये। पूरा घर साथ में बैठा। बैठा जरा ऐसा किया (वहाँ) मुझे वहम पड़ा, कहा, यह तो क्या कुछ निर्बलता लगती है? ...शुरू हो गयी। आहार दिया। खड़ा होकर सब किया। आहार किया। इसके बाद मन निर्बल होगा, उस मोटर में गये। गये और देह छूट गयी, परन्तु वह छूटी हुई ही

है। यह तो क्षेत्र से भिन्न पड़े, तब लोग छूटा हुआ कहते हैं। अब यहाँ छूटा हुआ ही है। देह और आत्मा कभी तीन काल में कहीं एक हुए नहीं। आहाहा! जहाँ क्षेत्र से आत्मा भिन्न पड़ा, इसलिए इसे लगा कि यह भिन्न पड़ा, परन्तु अन्दर भिन्न ही है। आहाहा! कहो, एक क्षण में। पहले एक बार बीमार हो गया था। उसमें से फिर बच गया। आयुष्य हो, तब तक क्या होगा? आयुष्य पूरा हो, पश्चात् उसे कौन सा काल और कौन सी दवा लागू पड़ेगी? आहाहा!

**श्रोता :** उसे दवा क्या होगी ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दवा किसकी? बापू! आहाहा! माँस और हड्डियों से भरा हुआ यह शरीर। अनन्त गुण से भरपूर भगवान, उसमें रहना... आहाहा! उसमें है ही नहीं, यह तो मानता है कि मैं इसमें रहा हूँ। आहाहा! वह तो स्वयं भगवान वीतराग समाधि में रहनेवाला है। स्वभाव से ज्ञात हो ऐसा, कहा न? आहाहा! दुनिया के साथ लागू पड़े, न पड़े। शास्त्र में यह बात निकालकर... ऐसी बात है। अरे रे! हो गया, लो, यह देह गया। स्त्री और पुत्र और परिवार... कुछ सम्बन्ध किसे है? आहाहा! कहो, यह आहार के समय बोहराते हैं। घर जाते हैं वहाँ देह छूट जाती है। ऐसी नाशवान चीज़ है। उससे जिसने रुचि बदल डाली है... आहाहा! और जिसे रुचि में भगवान पोसाया है, उसके धन्धे-व्यापार में, भगवान पोसाया है। आहाहा! ऐसा जो निर्विकल्प समाधि में आने पर उसे केवलज्ञान लोकालोक को आत्मा जाने, आत्मा जाने, आत्मा लोकालोक को जानता है, ऐसी शक्ति प्रगट हो जाती है। आहाहा!

स्व की अपेक्षा से तो शरीर या वाणी या कर्म जो है, वह वस्तु ही नहीं है। उनकी अपेक्षा से वे हैं। भगवान ज्ञायकस्वरूप शुद्ध चिद्घन है, उसे जहाँ अन्दर रागरहित निर्विकल्प शान्ति से जानने में आया, वहाँ तो मैं एक ही हूँ। दूसरी चीज़ मुझसे है ही नहीं। अपनी अपेक्षा से कर्म और राग और शरीर, वे अद्रव्य हैं। आहाहा! जैनदर्शन के शब्द हैं संक्षिप्त, परन्तु उनमें बहुत भाव भरा हुआ है। आहाहा! उसके आशय को पहुँचना... आहाहा!

कहते हैं, लोकालोक को जानता है-ऐसा कहना, लोकालोक को तो स्पर्श भी नहीं करता और लोकालोक तो स्व की अपेक्षा से अवस्तु है। समझ में आया? अपने केवलज्ञान और भाव की अपेक्षा से तो दूसरी सब चीज़ें अभावस्वरूप है; द्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्यस्वरूप है; क्षेत्र की अपेक्षा से अक्षेत्रस्वरूप है, स्वकाल की अपेक्षा से सब चीज़ें अकाल-परकाल स्वरूप है। आहाहा! ऐसा जहाँ अन्तर में कहते हैं कि पर्याय में निर्विकल्प शान्ति द्वारा केवलज्ञान प्रगट हुआ तो उसके अस्तित्व में केवलज्ञान में लोकालोक को जानना, ऐसा अस्तित्व आया,

लोकालोक का अस्तित्व नहीं आया। समझ में आया? वे दया पालने का कहे, वे भगवान की पूजा, भक्ति का, यात्रा का कहें; वे और वस्त्र निकाल डालो और नग्न होकर घूमो, यह कहें। इस चीज़ की (खबर नहीं)। नग्न है, विकल्प से यह खाली है। आहाहा! आत्मा दिगम्बर है। दिग्—आकाश कहा न! आहाहा!

आकाश की भाँति जैसे पर से शून्य आकाश है, वैसे भगवान दिगम्बर है। आहाहा! अपने अनन्त गुण से भरपूर भगवान स्वयं स्व से अस्ति है और पर से नास्ति है, तथापि पर का ज्ञान है, वह पर के कारण से नहीं है। आहाहा! अपने अस्तित्व के कारण से है। अपना अस्तित्व ही इतना है। स्व को, पर को अपनी पर्याय में आत्मज्ञपना है, वह सर्वज्ञपना है। आहाहा! उसे यहाँ लोकालोक को आत्मा प्रकाशित करता है—आत्मा पसरा है, ऐसा कहने में आता है।

प्रदेशों की अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है। है न? आहाहा! इसके प्रदेश हैं, वे जरा भी आगे वहाँ नहीं जाते। आहाहा! प्रदेश जो असंख्य हैं, वे तो राग में नहीं जाते न, आहाहा! एक समय की पर्याय के प्रदेश में भी त्रिकाली वस्तु तो जाती नहीं। आहाहा! त्रिकाली पर्याय जो जाननेवाली है, वह द्रव्य में नहीं जाती, पर में नहीं जाती, तथापि वह सामर्थ्य ऐसा है कि इतना मैं हूँ और यह मैं नहीं, पूरा लोकालोक हो या न हो, उसके कारण से, मेरे कारण से कुछ है नहीं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, बापू! लोगों ने जैनधर्म को अन्य धर्म जैसा कर डाला है। दया पालन करो और यह करो और यह.... यह करो और राग करो। भाई! तू कौन है? तू तो अकेला ज्ञान का पिण्ड और भण्डार है न! उस ज्ञान के गोदाम में दूसरा अल्पपना और रागपना आवे कहाँ से? आहाहा!

ज्ञानगुण लोकालोक में व्याप्त है;... प्रदेश की अपेक्षा से नहीं। ज्ञानगुण लोकालोक में व्याप्त है; परन्तु परद्रव्यों से भिन्न है। लोकालोक से भगवान तो भिन्न है। आहाहा! और लोकालोक में व्यापता है, ऐसा कहना अर्थात् कि अपने ज्ञान में उसके सम्बन्धी का ज्ञान, वह व्यापता है। आहाहा! परवस्तु से जो तन्मयी हो जावे, तो वस्तु का अभाव हो जावे। आहाहा! क्या कहते हैं? स्वयं असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु जहाँ पर्याय में ज्ञात हुआ, वह पर्याय परसन्मुख में पर को जानने जाने पर भी, पर में जाए तो स्व का अभाव हो जाता है। आहाहा! बहुत सरस बात की है, हों! आहाहा! परवस्तु से जो तन्मयी हो जावे, तो वस्तु का अभाव हो जावे। परवस्तु में अपनी सत्ता मिल जाए तो अपनी सत्ता भिन्न नहीं रहती। आहाहा!

यह बड़ी चर्चा हुई थी। (संवत्) १९८३ में। दामोदर सेठ और वीरजीभाई, दो थे न वीरजीभाई? बड़ी चर्चा। ऊपर (-मंजिल पर बैठे थे)। फिर नीचे उतरकर मेरे पास आये। सेठ ऐसा कहता है और वीरजीभाई ऐसा कहते हैं। लोकालोक है तो यह ज्ञान जानता है। वह कहे, ज्ञान जानता है, वह लोकालोक है, इसलिए उसे जानता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! १९८३ की बात है। ८३, कितने वर्ष हुए? पचास। अर्ध सैकड़ों। ऐई! आहाहा! यहाँ है, जो स्व-पर को जानने का है, वह अपनी सत्ता में है। अपनी सत्ता से है या पर की सत्ता से है? आहाहा! स्वयं लोकालोक को जानने की सत्तावाला भाव, वह पर सत्ता के कारण यह अस्तित्व है या यह अस्तित्व अपने कारण से है। आहाहा! लोगों को बाहर की (बात में) अन्तर की बातें (पड़ी रही)। बाहर में बड़े पड़ाव डाले। दया पालना और व्रत करना और अपवास करना, हो गया... वहाँ रुक गया। आहाहा!

वे वेदान्ती और ऐसा कहते हैं, यह प्रश्न किया, (संवत्) १९८४ में। एक था। क्या कहलाता है वह? 'खत्री'। नारणभाई के घर के पास खत्री थे। अपने नारणभाई नहीं? वे ऐसा कहें, महाराज! यदि परमाणु आप कहते हो तो उसका यहाँ ज्ञान होता है तो परमाणु में प्रवेश करे तो ज्ञान होता है। यह १९८४ की बात है। राणपुर में चातुर्मास था न? पर में प्रवेश करे तो उसका ज्ञान होता है। वेदान्ती था न, इसलिए वह (सर्व) व्यापक ज्ञान माने। भाई! ऐसा नहीं है। अग्नि को जानता है तो अग्नि में प्रवेश करके अग्नि को जानता है? वह अपनी सत्ता में रहकर पर की सत्ता में प्रवेश किये बिना, पर और अपना ज्ञान अपने अस्तित्व से अपने में होता है। आहाहा!

वस्तु का अभाव हो जावे। क्या कहा यह? लोक और अलोक जो परवस्तु है, उसे जानने को वहाँ अन्दर जाए तो वह परसत्ता में स्वयं स्वसत्ता में मिल जाए। अतः स्वसत्ता का तो अभाव हो जाए। पर को जानते हुए भी अपनी सत्ता में रहकर उस सम्बन्धी का, अपना उस सम्बन्धी का कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! अपने ज्ञान की पर्याय का ऐसा ही स्वभाव है, स्व-परप्रकाशक अर्थात् आत्मज्ञ-सर्वज्ञ स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए यह निश्चय हुआ कि ज्ञान गुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं,... देखा? ज्ञान गुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा... अर्थात् जाननेवाला, उसे आकाश भी कहा जाता है। आहाहा! आकाश की व्याख्या ऐसी की। लोकालोक को जानता है न? आकाश है इतना बड़ा। इसलिए उसे—लोकालोक को जानते



हुए स्वयं अपने में रहता है। ऐसे आत्मा स्वयं अपने में रहकर पर को जानता है। पर को जानता है, यह कहना वह व्यवहार है। ऐसी बात। समझ में आया ?

उसमें जो मन लगावे,... आहाहा! लोकालोकप्रमाण जो आत्मा, उसे आकाश भी कहते हैं, उसमें जो मन लगावे,... आहाहा! स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य स्व का स्व से है। स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य स्व का स्व से है। स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य पर के कारण है, ऐसा नहीं है। एक ही मानो भगवान लोकालोक में अकेला आत्मा (हो), बस! क्योंकि यह आत्मा है वह पर के अभावस्वरूप है और अपने द्रव्य-गुण के परिपूर्ण स्वभाववाला है। आहाहा! समझ में आया ? अब ऐसी बातें इसमें। दया पालना और व्रत करना... ऐई! जयन्तीभाई!

अरे! बापू! दया तो उसे कहना... आहाहा! अहिंसा उसे कहना कि राग की उत्पत्ति न हो और स्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उसकी उत्पत्ति पर्याय में हो, उसे अहिंसाधर्म कहा जाता है। लो! है न पुरुषार्थसिद्धिउपाय में? राग की उत्पत्ति पर की है, यहाँ आत्मा के आनन्द की उत्पत्ति... आहाहा! उसे आनन्द की उत्पत्ति (हो), उसको अहिंसा (कहा जाता है)। क्यों? कि जैसा उसका स्वरूप है, वैसा पर्याय में आया, उसने दया पालन की। उसने अपनी दया पालन की, जितना है, ऐसा अनुभव में, प्रतीति में आया, वह उसने जीव की दया पालन की। दया अर्थात् तू इतना है, ऐसा हम मानते हैं।... भाई! इतनी सूक्ष्म बातें। अब उस साईबाबा में कहीं... मार डाला जगत को। अरे! वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनवरदेव के मार्ग में, बापू! उसका प्रवेश करना, वह महा अलौकिक बातें हैं। आहाहा! देखा? क्या कहा?

लोकालोकप्रमाण जो आत्मा... इस अपेक्षा से, हों! उसे आकाश भी कहते हैं,... क्योंकि लोकालोक का ज्ञान है न यहाँ! लोकालोक सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में है न! इसलिए उसे आकाश भी कहते हैं। आहाहा! उसमें मन लगावे, तब जगत से मोह दूर हो... जावे। आहाहा! महाअस्ति प्रभु में मन लगावे तो अन्दर से पर की नास्ति हो जाए अर्थात् मोह का नाश हो जाए। आहाहा! समझ में आया? अपना जो अस्ति स्वभाव... आता है न कहीं? उन सीमन्धर भगवान में आता है। अस्ति स्वभाव... यह उसमें आता है। सीमन्धर भगवान की स्तुति में आता है। 'अस्ति स्वभाव जो अपना रे...' ऐसा आता है। आहाहा! अपने भजन... भजन में आता है। स्तवन मंजरी, नहीं?

अस्ति स्वभाव अपना, अर्थात्? जितनी सत्तावाला उसका अस्तित्व है, वह अपना स्वभाव है। वह स्वभाव अस्तिपना अपना स्वरूप स्व-पर को जानना, ऐसी शक्ति है और वह

शक्ति पर्याय में प्रगट हुई, तब स्व-परप्रकाशक जानता है, वह तो आत्मज्ञ दशा है। आहाहा! जब ऐसा आत्मा लोकालोक को जाननेवाला, लोकालोक को स्पर्श किये बिना, लोकालोक को अस्तित्व को स्पर्श किये बिना, अपने अस्तित्व में लोकालोक का ज्ञान है। जैसे आकाश सर्वत्र रहनेवाला है, वैसे भगवान भी सर्व को जाननेवाला है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जैसे आकाश सर्व को रखनेवाला है, वैसे भगवान सर्व के ज्ञान को अपने से अपने में रखे, ऐसा है। आहाहा! ऐसा है। इसलिए उसे आकाश कहा जाता है।

लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं,... देखो! उसमें जो मन लगावे... आहाहा! तब जगत से मोह दूर हो... जाए। पर पदार्थ के प्रति सावधानपना, स्वसन्मुख के सावधान में परसन्मुख का सावधानपना अस्त हो जाए—नाश हो जाए। आहाहा! परमात्मप्रकाश भी एक-एक गाथा...! मोह दूर हो और परमात्मा को पावे। परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप जो आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, उसे प्राप्त करे। आहाहा! समझ में आया? वहाँ यह दृष्टान्त देते हैं। समाधिगतक में आता है न? परमात्मा का ध्यान करते-करते भी आत्मा परमात्मा हो जाता है और अपना ध्यान करते हुए, वृक्ष घिसकर जैसे स्वयं से अग्नि होती है, वैसे अपने ही अपने में एकाग्र होकर ध्यानाग्नि प्रगटे, उसमें भी कर्म का नाश होता है। देखो! पर के ध्यान से (कहते हैं), वह तो निमित्त से कथन है। है न?

‘जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।’ भगवान की पर्याय केवलज्ञान है, उस पर्याय का अस्तित्व पूर्णरूप है, आत्मज्ञ है, वह सर्वज्ञ कथनभेद से, विवक्षाभेद से कहा जाता है। पर को जानना उसमें नहीं आता। पर को जानना कहना, वह तो असद्भूत व्यवहारनय का वचन है। आहाहा! समझ में आया? इसमें कितना याद रहे? आहाहा! यह वस्तु ही ऐसी है कि उसे याद रख सके। आहाहा! उसका पर्याय का धर्म ही ऐसा है। धारणा कहा न? मतिज्ञान में धारणा। वह तो उसका—मतिज्ञान की पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! और पाँच सेकेण्ड बाद जो पर्याय होनेवाली है, वह पर्याय इस पर्याय में नहीं है और वह पर्याय पर्याय से है, ऐसा पर्याय का ज्ञान होने पर उसे पाँच के बाद में विशेष (पर्याय) होगी, उसे यहाँ याद रखने की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया? जरा सूक्ष्म बात है। क्योंकि उस पर्याय में भविष्य की पर्याय होगी, वर्ष-दो वर्ष के बाद, इस पर्याय में उसका ज्ञान यहाँ है, वह यहाँ नहीं, वह इसमें नहीं परन्तु इसमें—ज्ञान में है कि ऐसी पर्याय होगी, उसे धारणे की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! वह धारणा सहज हो जाती है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसे याद रखूँ तो यह सब रहे, (ऐसा नहीं)। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है न! अवाय

तो मतिज्ञान की एक पर्याय है। वह तो मतिज्ञान की धारणा, वह तो उसका स्वभाव है। अर्थात् धार रखूँ, ऐसा कहाँ है? वह तो उसका स्वभाव है न? सोगानी में आता है। समझ में आया?

**व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है,...** पर हो गया न यह? पराश्रय व्यवहार, स्वाश्रय निश्चय। पर को जानना, वह व्यवहार है। पर को, स्व को जाननेवाला अपना ज्ञान, उसे जानना, वह स्व-निश्चय है। समझ में आया? आहाहा! यह ताकत है, ऐसा नहीं मानना कि हमें ऐसी बात कैसे बैठे? अरे! केवलज्ञान ले सके, ऐसी ताकत है न! आहाहा! केवलज्ञान का पिण्ड प्रभु है न! आहाहा! उसे यह न धार सके और न प्रगट किया जा सके, यह उसमें है कहाँ? आहाहा! समझ में आया? जहाँ आत्मा की प्रतीति आयी, तब तो उस आत्मा में से केवलज्ञान होगा, वह भी प्रतीति में आ गया है, वह तो आ गया है। आहाहा!

**व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है,...** व्यवहार से, हों! इसलिए सब जगत में है। ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। कौन? जाननेवाला आत्मा जगत में है— ऐसा कहना, वह व्यवहार है। लोकालोक में कहा न? अपने में है, वह निश्चय है। जैसे व्यवहारनयकर नेत्र रूपी पदार्थ को जानता है, परन्तु उन पदार्थों से भिन्न है... रूपी पदार्थ है, मूर्त है, अग्नि है। लो न। यह ज्ञान जानता है, परन्तु ज्ञान अग्नि में प्रवेश करके जानता है? (प्रवेश कर जाए), तब तो ज्ञान गर्म हो जाए और ज्ञान अरूपी है, वह जड़ हो जाए। आहाहा! समझ में आया?

जैसे नेत्र रूपी पदार्थ को जानता है। अरूपी ज्ञान, रूपी को जानता है। आहाहा! वह ज्ञान अपने में रहकर रूपी और दूसरी चीज़ या स्वयं, उसे जानने की शक्तिवाला अपना ज्ञान अपने में है, उसे वह जानता है। आहाहा! रूपी पदार्थ तो यहाँ आता नहीं। अग्नि को ऐसे जानता है कि यह अग्नि है। वह अग्नि यहाँ आती है? और ज्ञान की पर्याय अग्नि में जाती है? समझ में आया? व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा कहा है न? उसका अर्थ यह है, राग में ज्ञान जाता नहीं तथा राग ज्ञान में आता नहीं। इसलिए उसे जानना, उसे व्यवहार से जाना हुआ (प्रयोजनवान है), ऐसा कहा है। आहाहा! क्या शैली है न! आहाहा! व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है अर्थात् कि ज्ञान की पर्याय में राग जो बाकी है और अपूर्ण है, उसे जाना हुआ, जाना हुआ प्रयोजनवान है। उस अल्प ज्ञान में और राग में पूरा ज्ञान कहीं तन्मय नहीं हो जाता। आहाहा! पूरा गुण उसमें तन्मय हो जाता है? पर्याय में भी गुण तन्मय नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? पर्याय, पर्याय में तन्मय है, पर्याय गुण में तन्मय नहीं और

गुण पर्याय में तन्मय नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! यह तो मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

यह परमात्मप्रकाश है न? अर्थात् परमात्मा लोकालोक को प्रकाशित करता है, ऐसा कहना, यह एक प्रकार से अपने को प्रकाशित करता है, उसमें लोकालोक आ जाता है। लोकालोक अर्थात्? लोकालोक की सत्ता यहाँ नहीं आती, परन्तु उस सत्ता सम्बन्धी का अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान उसमें आ जाता है? आहाहा! जैसे अग्नि को आँख देखने पर आँख कहीं अग्नि में प्रवेश नहीं करती, परन्तु आँख आँख में, ज्ञान ज्ञान में रहकर अग्नि का ज्ञान करता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा! और अग्नि को जानने का स्वतःस्वभाव जो ज्ञान में है, वह अग्नि के अस्तित्व को स्पर्श किये बिना ऐसे ज्ञान का अस्तित्व है, उसे जानता है, यह निश्चय है। पोपटभाई! ऐसी बातें हैं। ऐसी सब सूक्ष्म मुम्बई में नहीं रखी जाती। यह क्या लगायी है, कहेंगे। बापू! तेरे गुण की प्रभुता लगायी है यह।

ज्ञान की पर्याय में इतनी ताकत है, इतना सामर्थ्य है कि लोकालोक को स्पर्श किये बिना और लोकालोक का अस्तित्व है, इसलिए उसका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं। आहाहा! एक प्रकार से देखें तो एक समय की पर्याय द्रव्य-गुण को, सब पर्यायों को और इसे, इस पर्याय का स्वयं के कारण से ऐसा स्वभाव है। पश्चात् केवलज्ञान होगा, इसलिए यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा!

**श्रोता :** एक पर्याय का सामर्थ्य इतना है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर्याय का सामर्थ्य इतना है। आहाहा! श्रुतज्ञान में भी परोक्ष जानता है, इसका अर्थ क्या? भविष्य की पर्याय भी श्रुतज्ञान की पर्याय में जानने में आ जाती है। आहाहा! तथापि वह पर्याय इसमें आयी नहीं, उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना जो है, वह अपना ज्ञान उसमें आया है। आहाहा! इसलिए एक तो एक बार ऐसा विचार आया था कि यह पर्याय इतनी है, वही चीज़ है, बस! आहाहा! जिसमें द्रव्य-गुण का भी ज्ञान, अपना ज्ञान, लोकालोक का (भी ज्ञान), वह लोकालोक के कारण नहीं, द्रव्य-गुण के कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य है। इतनी सत्ता है, उतनी सामर्थ्य की प्रतीति करे तो पर्याय की प्रतीति की कहलाये। समझ में आया? आहाहा!

जैसे व्यवहारनयकर नेत्र... रूपी पदार्थ का दृष्टान्त बहुत सरस दिया। प्रवचनसार में है। आँख तो यह नहीं परन्तु अन्दर जाननेवाला है, वह तो अरूपी है और यह अग्नि है, वह रूपी

है। अब उसे जानता है, इसका अर्थ क्या? अग्नि में जाकर जानता है? अग्नि यहाँ आती है, इसलिए ज्ञात होती है? समझ में आये ऐसा है, हों! भाषा भले... आहाहा! यह अधिकार ही, अन्तिम गाथाएँ (सूक्ष्म है)। आकाश नाम का पदार्थ है, ऐसा तू भी यह आकाश है, ऐसा सिद्ध करते हैं। आहाहा! इतना व्यापक। लोकालोक को स्वयं अपने से जाने; दूसरे की अपेक्षा रखे बिना निश्चय से इतना जिसका सामर्थ्य है, उसमें जिसकी एकाग्रता हो, उसका मोह टूटे बिना नहीं रहता, कहते हैं। आहाहा!

जो निश्चयनयकर सर्वगत होवे,... क्या कहते हैं? निश्चय से जो सर्व को जाननेवाला हो, उसे सर्वगत (कहते हैं)। निश्चय से सर्वगत। तो परपदार्थों से तन्मयी हो जावे,... आहाहा! यहाँ बड़ा विवाद। सर्वज्ञ और आत्मज्ञ का। खानियाचर्चा। सर्वज्ञपना है, वह व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं। आहाहा! अरे! प्रभु! निश्चयनय से सर्वगत अर्थात् अपनी पर्याय का सबको जानना, ऐसी ताकतरूप है, वह सर्वगत है। सर्वगत ऐसे जाता है और प्रवेश करता है, इसलिए सर्वगत है—ऐसा नहीं। आहाहा! एक समय की पर्याय का सामर्थ्य ही सर्वगत है। आहाहा! परन्तु इसे समय कहाँ मिलता है! दुनिया में बाहर की मोहजाल ने बाँध मारा। आहाहा! जिसमें जन्मा, उसके प्रमाण में उसका अभिमान रखना पड़े या नहीं इतना? अरे! यह अभिमान...

श्रोता : मनुष्यरूप से जन्मने की बात कहाँ है, यहाँ तो आत्मारूप से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मनुष्यरूप से है ही कहाँ यह! मनुष्यरूप से जन्मा है ही कब? आहा! यह तो इसकी पर्याय का उत्पाद-व्यय है, यह इसका जन्म है। आहाहा! उस पर्याय की ताकत, श्रुतज्ञान की पर्याय की ताकत भी स्व-पर को प्रकाशित करती है, वह पर की अपेक्षा बिना प्रकाशित करती है। यह तो परोक्ष और प्रत्यक्ष का अन्तर है। केवलज्ञान। आहाहा! समझ में आया? टीका ठीक की है, हों! आहाहा!

निश्चयनयकर सर्वगत होवे... अर्थात् क्या कहा? निश्चय से यदि सर्व में व्यापक हो, अपने प्रदेश और सत्ता को छोड़कर पर की सत्ता में प्रवेश करे तो परपदार्थों से तन्मयी हो जावे,... आहाहा! जो उसे तन्मयी होवे तो नेत्रों को अग्नि का दाह होना चाहिए,... देखो! आँख ऐसे अग्नि को देखती है, वह आँख यदि तन्मय होकर जानती होवे तो यहाँ उष्ण हो जाए, तो जल जाए। आहाहा! समझ में आया? तन्मय होवे तो अग्नि का दाह होना चाहिए, इस कारण तन्मयी नहीं है। अग्नि को जानने पर भी अग्नि में तन्मय नहीं है। इसी प्रकार

लोकालोक को जानने पर भी आत्मा लोकालोक में तन्मय नहीं है। आहाहा! अपनी पर्याय में तन्मय है। तन्मय (अर्थात्) तत् स्वरूप। आहाहा! समझ में आया ?

इसी प्रकार आत्मा जो पदार्थों को तन्मयी होके जाने, तो पर के सुख-दुःख से तन्मयी होने से... आहाहा! पर को जानने से पर में तन्मय हो जाए तो पर के सुख अपने में आ जाए। इसको भी दूसरे का सुख-दुःख मालूम होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। क्या कहते हैं यह ? जैसे आँख है, वह अग्नि को जानने पर यदि अग्नि में तन्मय होवे तो आत्मा में अग्निपना आवे तो पर्याय जल जाए। मात्र अग्नि को स्पर्श किये बिना अग्नि का अस्तित्व है, उसे ज्ञान जानता है कि यह उष्ण है। यह उष्ण है, यह ज्ञान जानता है, वह अपने ज्ञान से जानता है, अग्नि की उष्णता है, इसलिए जानता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! पर के सुख-दुःख से तन्मयी होने से... इसी प्रकार ज्ञान भी अग्नि की भाँति यदि नेत्र वहाँ देखे तो यहाँ जल जाए। इसी प्रकार आत्मा पर में तन्मय होकर जाने तो नारकी के दुःखों में आत्मा तन्मय हो जाए तो उसे दुःख भोगना पड़े। आहाहा! पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए निश्चय से आत्मा असर्वगत है,... लो, ठीक! और व्यवहारनय से सर्वगत है,... सर्व को जानने की अपेक्षा से उपचारनय से। व्यवहारनय अर्थात् उपचारनय। आहाहा!

प्रदेशों की अपेक्षा निश्चय से लोकप्रमाण असंख्यप्रदेशी है,... प्रदेश की अपेक्षा से यहाँ असंख्यप्रदेशी है। व्यवहारनयकर पात्र में रखे हुए दीपक की तरह देहप्रमाण है,... व्यवहार से देहप्रमाण कहा जाता है। निश्चय से असंख्यप्रदेशी प्रमाण यह आत्मा है। जैसा शरीर धारण करे, ऐसा प्रदेशों का संकोच-विस्तार हो जाता है। जैसा शरीर धारण करे, ऐसा प्रदेशों का संकोच-विस्तार हो जाता है। यह अपने कारण से, हों! संकोच-विकास हो, वह शरीर के कारण से नहीं। संकोच-विकास की पर्याय तत्प्रमाण होती है, वह अपनी अपने से होती है, पर के कारण से नहीं। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

४

श्री नियमसार, श्लोक-१२०, गाथा-९०, प्रवचन - ११  
दिनांक - २५-११-१९७९

सद्बोध-मण्डन-मिदं परमात्म-तत्त्वं,  
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात् ।  
नास्त्येष सर्व-नय-जात-गत-प्रपञ्चो  
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ॥१२०॥

आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। कहते हैं, यह धर्मात्मतत्त्व है। अन्दर आत्मतत्त्व है, वह परमात्मतत्त्व ही है। उसकी शक्ति और स्वरूप परमेश्वर परमात्मस्वरूप है। ऐसे परमात्मतत्त्व में सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व... है। वह सम्यग्ज्ञान के स्वभाववाला परमात्मतत्त्व है। ऐसा आत्मा है। उसके सम्यग्ज्ञान की शोभा से यह परमात्मतत्त्व है। उसमें पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध—ये परिणाम / विकल्प उसमें है ही नहीं। आहाहा! चैतन्यतत्त्व को पहुँचना कठिन काम है। सम्यग्ज्ञान का आभूषण... है वह तो। सम्यग्ज्ञान की शोभावाला तत्त्व है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प का समूह है नहीं। उसे यहाँ आत्मा कहते हैं, और उस आत्मा की अन्तर्दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली शुरुआत कहते हैं। आहाहा!

सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्प समूहों से सर्वतः मुक्त... है। कोई भी विकल्प—दया, दान, व्रत, भक्ति, गुण-गुणी के भेद का भी विकल्प / राग, उस वस्तु में नहीं है। आहाहा! जिसे आत्मा कहते हैं, जिसे आत्मा-परमात्मा कहते हैं, जो आत्मा नवतत्त्व में भिन्न आत्मा कहते हैं; उस आत्मा की दृष्टि करने से उस आत्मा में विकल्प का राग, विकल्प की, राग की वृत्ति का समूह उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन है। यह तो बाहर से यह करो... यह करो... यह क्रिया करो... यह सब तो राग की क्रिया है। इनमें धर्म मनवाया है, (यह) मिथ्यात्व का सेवन (है और) वह सब संसार में भटकने का लक्षण है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि इसकी शोभा तो सम्यग्ज्ञान की शोभा से है। विकल्प का कोई भी समूह उसमें नहीं है। अस्ति-नास्ति की है। ऐसे आत्मा को अन्दर पहिचानना। ऐसे आत्मा को अन्दर पहिचानकर श्रद्धा करना, इसका नाम धर्म की पहली शुरुआत है। आहाहा! ऐसा काम है। है? **समस्त विकल्प समूह...** विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति; कोई भी गुण-गुणी भेद का विकल्प / राग या दया, दान के विकल्प का राग। यह ज्ञान की शोभावाला तत्त्व है, उसमें विकार है ही नहीं। आहाहा! यह विकल्प है, वह तो मलिनता है और प्रभु तो ज्ञान की शोभावाला तत्त्व है। आहाहा!

अनन्त काल से यह बात जँची नहीं। चौरासी के अवतार में भटककर मरा है। साधु हो, बाहर का त्यागी हो तो भी उस राग की क्रिया को अपनी मानता है। जो राग, स्वरूप में नहीं है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत और भक्ति, वह तो विकल्प / राग है। वह **समस्त विकल्प समूह...** ज्ञान की शोभावाला तत्त्व ज्ञान से भरपूर, अकेला ज्ञान से भरपूर शोभावाला तत्त्व, उसमें अज्ञान और विकल्प, विकार के समूह का अभाव है। यह प्रतिक्रमण है। इसका नाम प्रतिक्रमण है। आहाहा! बाकी तो शाम-सवेरे पहाड़े बोल जाए। प्रतिक्रमण कर ले, मिथ्यात्व है। आहाहा! एक बात (हुई)। दूसरी।

**सर्व नयसमूह सम्बन्धी यह प्रपंच...** आहाहा! भगवान आत्मा परमात्मतत्त्व है, वह ज्ञान से शोभावाला है। उसे विकल्प से प्राप्त करना - ऐसी वह चीज़ नहीं है। नय, नय का विकल्प, व्यवहारनय का विकल्प, निश्चयनय का विकल्प। आहाहा! विकल्प, वह राग की वृत्ति है। **सर्व नयसमूह सम्बन्धी यह प्रपंच...** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान में, नयसमूह का तो प्रपंच है। आहाहा! इस विकल्प की वृत्ति में निश्चय के-व्यवहार के आश्रित... यह सब विकल्प की वृत्तियों का समूह, यह सब ज्ञान की शोभावाले तत्त्व में प्रपंच है। आहाहा! ऐसा तत्त्व है।

तो फिर वह ध्यानावली इसमें किस प्रकार... होगी? आहाहा! यह न्याय देकर बात की है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! सम्यग्दर्शन-प्रथम धर्म, उसका जो विषय चैतन्य परमात्मतत्त्व ज्ञानभूषण ऐसा जो आत्मतत्त्व, उसमें विकल्प का समूह तो नहीं, परन्तु व्यवहारनय और निश्चयनय के विकल्पों का प्रपंच भी जिसमें नहीं। आहाहा! है? मूलमार्ग है। वाड़ा में तो यह चले, ऐसा नहीं है। यह बात चलती नहीं। सम्प्रदाय में तो क्रियाकाण्ड, राग की क्रिया—यह करो... यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो। यह मिथ्यात्व का सेवन है। जो स्वरूप में नहीं, ऐसे राग का सेवन, वह मिथ्यात्व का सेवन है। आहाहा! और जिसमें राग और विकल्प



नहीं, ऐसा ज्ञान के स्वभाववाला तत्त्व, उसकी सेवा, वह सम्यक्तत्त्व है। आहाहा! सूक्ष्म है। मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! दुनिया अभी चलती है, उससे पूरा प्रकार अलग है।

जब ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व अर्थात् सर्वज्ञस्वरूपी पूर्ण ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व आत्मा पूर्ण ज्ञान से भरपूर, अनन्त-अनन्त अपरिमित ज्ञान जिसका स्वभाव है। ऐसे तत्त्व से शोभित आत्मा को सर्व विकल्प के समूह का तो अभाव है, परन्तु व्यवहार और निश्चय के विकल्प का उसमें प्रपंच नहीं है। जब वह नहीं... आहाहा! तो तीसरी बात।

तो फिर वह ध्यानावली इसमें किस प्रकार उत्पन्न हुई... आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द की पर्याय में उसका ध्यान, ध्यान करना और पर्याय की निर्मलता प्रगट करना और पर्याय की निर्मलता बढ़ाना, ऐसी पर्याय का ध्यान का विषय, वह वस्तु में कहाँ है? आहाहा! कहाँ ले गये?

पहले तो विकल्प समूह का निषेध किया। ऐसा वह तत्त्व ही है, भगवान परमेश्वरस्वरूप ही है। भगवत्स्वरूप में जगत की ओर का विकल्प अर्थात् राग का समूह तो नहीं, परन्तु उसके व्यवहार और निश्चयनय के विकल्प के राग का प्रपंच भी नहीं है। जब वह नहीं है तो फिर ऐसा एकरूप जो ज्ञानस्वरूप भगवान, उसमें ध्यानावली अर्थात् ध्यान की श्रेणी-धारा... आहाहा! ध्यान की श्रेणी की धारा एक के बाद एक, एक के बाद एक शुद्धि, उस शुद्धि की धारा, वह पर्याय है। वह पर्याय, द्रव्य में कहाँ है? आहाहा! चन्दुभाई! ऐसा तत्त्व है। सूक्ष्म पड़े, बापू! क्या हो? कभी किया नहीं। अनन्त काल परिभ्रमण में गया और यह समझे बिना वहाँ का वहीं चौरासी के अवतार में जानेवाला है, परिभ्रमण में भटकने। कौआ, कुत्ता, पशु में अवतार। आहाहा!

तीन प्रकार कहे। यह (आत्मा) तो ज्ञान और आनन्द से शोभित तत्त्व है। उसमें राग के विकल्पों का समूह तो नहीं, परन्तु नय के विकल्पों का प्रपंच उसमें नहीं, तो ध्यानावली-ध्यान की श्रेणी शुद्ध-शुद्ध, वह ध्यान की श्रेणी शुद्ध, पर्याय की शुद्धि बढ़े, शुद्धि बढ़े... शुद्धि बढ़े... ऐसी शुद्धता की धारा, वह पर्याय है। वह द्रव्य में कहाँ है? आहाहा! भारी कठिन काम।

**मुमुक्षु :** ऐसी बात अप्रतीका में नहीं मिलती।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बात ऐसी है। दुनिया को मार्ग मिलता नहीं। बेचारे धर्म के नाम पर कहीं भटकते हैं। दया, व्रत, तप, अपवास... आहाहा! मर गया उसी और उसी में। प्रतिमा ले लो, दो प्रतिमा लो, चार प्रतिमा लो, व्रत लो। पहला व्रत, दूसरा व्रत, परन्तु मूलतत्त्व नहीं

मिलता, उसमें व्रत आये कहाँ से ? जो चीज़ है, जिसमें स्थिर होना है; वह चीज़ दृष्टि में आये बिना स्थिर किसमें होना ? स्थिरता, वह व्रत है।

जो चीज़ अन्दर है, अनादि-अनन्त नित्यानन्द का दल, ध्रुव, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता और अनन्त वीर्य, अनन्त प्रभुता का प्रभु स्वयं है। आहाहा! उसकी शोभा उसके गुण से है। यहाँ ज्ञान से कही, परन्तु ज्ञान कहने से पूरे अनन्त गुणों से उसकी शोभा है। उसमें विकल्प के जाल, राग कहाँ से आया ? भाई! उसमें राग कहाँ है ? वह तो नहीं, परन्तु इस यह निश्चयनय से ऐसा है, व्यवहारनय से ऐसा है - ऐसे विकल्प के राग का प्रपंच जाल भी उसमें कहाँ है ? यह तो ठीक। यह तो राग आया। यह तो दोनों राग आये, परन्तु विकल्प का समूह और नय का प्रपंच यह तो विकल्प / राग आया। अब यहाँ तो प्रभु शुद्ध चैतन्य ज्ञान-आनन्द से शोभता ध्रुव चैतन्य में उसके ध्यान के पर्याय की ध्यान की धारा, निर्मल धारा पर्याय, वह पर्याय की श्रेणी भी ध्रुव में कहाँ है ? आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! क्या हो ? अनादि से सुनने को मिलता नहीं। सुना नहीं, मिला नहीं। ....आहाहा!

यहाँ करोड़ोंपति बनिया हो, मरकर ढोर होता है। बहुत से पशु होनेवाले हैं। नरक में नहीं जाएँ, क्योंकि माँस और अण्डा यह नहीं (खाते)। देव और मनुष्य में तो जाएँ नहीं, क्योंकि पुण्य नहीं। धर्म तो है नहीं। आहाहा! ये अरबोंपति और करोड़ोंपति सब पशु में जानेवाले हैं। अन्तिम चौदह बोल आये हैं न ? उन सबमें पशु कहा है। पशु... पशु... पशु... फिर एकेन्द्रिय में जाएँ, निगोद में जाएँ या पंचेन्द्रिय में जाएँ परन्तु सब पशु हैं, तिर्यच हैं। आहाहा! तत्त्व का बहुत-बहुत विरोध करे, वे निगोद में लहसुन और प्याज में जाते हैं। आहाहा! इसे तो खबर भी नहीं होती कि मैं तत्त्व का विरोध करता हूँ या नहीं। वहाँ 'पशु' शब्द लिया है। पशु का मूल अर्थ ऐसा है, पशु - पश्यति इति बधति इति पशु। कर्म से और विकार से बँधे, वह पशु है। आहाहा!

भगवान आत्मा अबद्धस्वरूप है, उसे बन्धन के भाव से लाभ मानना, उस विकल्प के जाल से लाभ मानना, वह मिथ्यात्वभाव, वह पशु में जाने का लक्षण है। आहाहा! बहुत विराधना होवे तो निगोद में जाएँ, साधारण विराधना होवे तो पंचेन्द्रिय ऊँट, गाय, भैंस, गिलहरी हो। भटके वहाँ से मरकर। आहाहा! देखो न, इस रास्ते में अभी कुत्ते मर जाते हैं। रास्ते में बड़े-बड़े कुत्ते मरे हुए सड़क पर पड़े होते हैं। ट्रक सिर पर घूम जाता है। हो गया ( भव पूरा), फिर मरकर बेचारे कहीं पशु में जाएँ। माँस खाते हों तो नरक में जाएँ। आहाहा! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। यह देह छूटा तो कहीं आत्मा नष्ट होता है ? आत्मा वहाँ से जाता है और यहाँ पशु

था परन्तु भान तो कुछ था नहीं। आहाहा! रास्ते में मरे हुए पशु पड़े होते हैं। आहाहा! आत्मा कहीं भटकता था। ऐसे अनन्त भव (किये)।

चैतन्य की शोभा ज्ञान और आनन्द से है। ज्ञान कहने से वहाँ विकल्प नहीं, ऐसा कहना है। सर्वज्ञस्वभावी है, पूर्ण सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसे परमात्मतत्त्व में बाहर की जितनी राग की सब वृत्तियाँ (उत्पन्न होती हैं), वह सब विकल्प का समूह कहलाता है। स्त्री सम्बन्धी, पुरुष सम्बन्धी विकल्प, व्यापार सम्बन्धी, धन्धा सम्बन्धी, पैसा सम्बन्धी... आत्मा के अतिरिक्त दूसरे परपदार्थ सम्बन्धी जितने विकल्प उठते हैं, वह सब विकार-राग है। आहाहा! आत्मा सम्बन्धी में भी नय के विचार आवें, वह भी प्रपंच है, कहते हैं। आहाहा! यह तो ठीक, परन्तु शुद्धचैतन्य शुद्धनय जो चैतन्यद्रव्य है, उसका जो ध्यान होता है, ध्यान की धारा-शुद्धता की धारा, मोक्षमार्ग की पर्याय धारा, वह भी ध्यानावली / ध्यान की श्रेणी, वह भी स्वरूप में कहाँ है? वह तो व्यवहार का विषय है। त्रिकाली वस्तु निश्चय का विषय है। यह सम्यग्दर्शन का विषय तो त्रिकाली ध्रुव है। ध्यान की धारा, वह भी कहीं सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! ऐसा सुनना क्या? पूरे दिन... अब इसे यहाँ कहना कि ध्यान की धारा की परिणति भी तुझमें नहीं है। वहाँ दृष्टि कर न! आहाहा!

वस्तु जो ध्यान का ध्येय है, उस ध्येय में ध्यान की धारा नहीं है। आहाहा! ऐसा जिनेश्वर, परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग की ध्वनि ऐसी है। अरे रे! सुनने को मिलता नहीं। जिन्दगी पशु की तरह चली जाती है। मृत्यु के समीप जाता है। आयुष्य तो जो निश्चित है, उस समय में देह छूटना है। जितने दिन और रात्रि जाते हैं, वे सब मृत्यु के समीप जाते हैं। आहाहा! इसे (देह को) छोड़कर भटकने चला जाएगा। आहाहा! अरे! प्रभु! तुझे दया नहीं आती? तुझे तेरी दया नहीं आती?

प्रभु कहते हैं कि ध्यानावली पर्याय है, वह भी दृष्टि का विषय नहीं है। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र तो कहीं रह गये। स्वद्रव्य के अतिरिक्त, स्वद्रव्य जो ज्ञान से शोभित चैतन्यमूर्ति प्रभु, जिसका अलंकार, चैतन्य आनन्द और शान्ति जिसका अलंकार है—ऐसा वह परमात्मतत्त्व भगवान आत्मा है। उसे कहते हैं कि बाहर परद्रव्य के सम्बन्धी का झुकाववाला राग, वह तो उसमें है नहीं परन्तु स्वद्रव्य सम्बन्धी निश्चयनय और व्यवहारनय के विकल्प, वे हैं नहीं परन्तु उसके लक्ष्य से होनेवाली ध्यान की धारा की पर्याय-वह ध्यानावली की श्रेणी भी उसमें नहीं है। आहाहा! यहाँ तक जाना। जरा भी निवृत्त नहीं होता। भटकने के रास्ते चढ़ा है। यह श्लोक उत्कृष्ट है। तीन आये न? भाई! आहाहा!

ऊपर कहा गया कि शुद्धनय ध्यानावली को कहता नहीं। वह तो व्यवहारनय कहता है। आत्मा ज्ञायक त्रिकाली ध्रुव प्रभु की ध्यान की पर्याय शुद्ध। शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... बड़े, उस सब पर्याय को तो व्यवहारनय कहता है। निश्चयनय तो उसे कहता ही नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश है। तो फिर वह ध्यानावली... ध्यानावली समझे? ध्यान की श्रेणी-धारा। एक के बाद एक शुद्ध परिणति शुद्ध, शुद्ध, हों! वह शुद्ध मोक्षमार्ग की पर्याय। विकल्प-नय विकल्प और पर की ओर के विकल्प तो बन्ध के कारण हैं। यह तो मोक्ष का मार्ग, (वह भी स्वरूप में नहीं है)। आहाहा!

ध्रुवधाम भगवान परमात्मा... वस्तु कठिन बहुत, प्रभु! सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् सत् चिदानन्द ज्ञान-आनन्द से शोभित, ऐसा जो ध्रुवतत्त्व, उसमें विकल्प का तो अवकाश है नहीं परन्तु ध्यानावली भी उसमें कहाँ से आयी? उससे बाहर रहती है। ध्यानावली भी ध्येय जो है, उससे ध्यानावली तो ऊपर रहती है। आहाहा! समझ में आया? विकल्प है, वह तो राग है, दोष है, दुःख है परन्तु मोक्ष का मार्ग है, वह शुद्ध है। आहाहा! परन्तु यह ध्रुवस्वरूप भगवान जो सम्यग्दर्शन का ध्येय, जो दृष्टि का विषय ऐसी जो चीज़ है, उसमें पर्याय-ध्यानावली की पर्याय आयी कहाँ से? वह तो व्यवहार का विषय है। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसा है। कितनों ने तो जिन्दगी में सुना भी नहीं होगा। बात सुनी नहीं होगी तो समझे कहाँ से? भटकने के रास्ते... अर र!

**मुमुक्षु :** ऐसा आत्मा दिखता नहीं, वह हमें जानना-पहिचानना किस प्रकार?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परन्तु दिखता नहीं, यह निर्णय किसने किया? दिखता नहीं, यह निर्णय देखनेवाले ने किया। मनसुखभाई! मैं समझता नहीं, यह किसने जाना? मैं दिखता नहीं, यह कौन कहता है? कौन जानता है यह? मैं दिखता नहीं, यह जानता कौन है? यह देखनेवाला जानता है। आहाहा! यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा!

श्रीमद् ने गाथा ली है 'नाना नास्ति विचार, यही अस्ति वही सूचवे।' यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह कौन निर्णय करता है? निर्णय किसने किया? किस सत्ता में निर्णय हुआ? किसकी अस्ति में यह ज्ञान हुआ? जिसकी अस्ति में ज्ञान हुआ, वह भगवान आत्मा है। आहाहा! 'करि कल्पना दृढ़ करे, नाना नास्ति विचार, पर यही सूचवे अस्ति...' निषेध करे कि मैं नहीं, मैं नहीं। किसने निर्णय किया? राग ने किया? जड़ ने किया? निर्णय किसने किया? कभी विचार किया है? अन्ध का अन्ध चला

जाता है। अन्धे देखनेवाले को देखते नहीं और अन्धे को सामने करके अन्धे को देखता है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से, यह है—यह किसमें ज्ञात होता है? उसमें ज्ञात होता है? यह शरीर है, वह शरीर में ज्ञात होता है? यह स्त्री, पुत्र, देह, परिवार है, वह उसमें ज्ञात होता है? या आत्मा की पर्याय में ज्ञात होता है? जो पर्याय का अस्तित्व है, उसमें वह ज्ञात होता है। यह वास्तव में वह ज्ञात नहीं होता, वास्तव में तो इसकी पर्याय ज्ञात होती है। वह पर्याय भी जिसमें नहीं है। आहाहा! लॉजिक से कुछ न्याय पकड़ेगा या नहीं?

जिसकी सत्ता में इस सत्ता का स्वीकार होता है, उस चैतन्य की पर्याय की सत्ता में यह है, (ऐसा ज्ञात होता है)। पैसा है, स्त्री है, यह पुत्र है, यह कहीं इसकी पर्याय में वह चीज़ नहीं आती। पर्याय अर्थात् अवस्था। जानने की अवस्था। त्रिकाल द्रव्य और त्रिकाल गुण तथा वर्तमान पर्याय की अवस्था; उस अवस्था में वह चीज़ कहीं नहीं आती, परन्तु वह चीज़ है — ऐसा जानता है। वह भी उस चीज़ को नहीं जानता। आहाहा! वह चीज़ तो आती नहीं, परन्तु उस चीज़ को नहीं जानता। यह जाननेवाले को जानता है। आहाहा! ऐसा है, प्रभु! यह तो वीतराग जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा की यह वाणी है, बापू! लोगों ने पामररूप से निकाल डाला। एकेन्द्रिय की दया पालो, अमुक की दया पालो, यह व्रत करो, ऐसा करके जैनधर्म को पामर कर डाला है। जिसकी प्रभुता का पार नहीं, जिसकी महिमा का पार नहीं। आहाहा!

जो इस जगत में चीज़ें हैं, यह है। शरीर है, यह है। शरीर है। शरीर है, लो न। शरीर है तो उसमें शरीर को खबर पड़ती है? शरीर है, यह शरीर को खबर पड़ती है? इस आत्मा की पर्याय में खबर पड़ती है कि यह शरीर है, तथापि उस पर्याय में—अवस्था में यह शरीर नहीं आता। वास्तव में पर्याय शरीर को नहीं जानती। आहाहा! पर्याय, पर्याय को जानती है क्योंकि शरीर को नहीं जानती अर्थात् शरीर में तन्मय नहीं होती, तो तन्मय हुए बिना उसे जानना कहना, यह बराबर नहीं है।

यह शरीर है, वाणी है, राग है, यह पैसा—धूल है, यह मिट्टी है, मकान है, जो आत्मा की पर्याय अर्थात् अवस्था की सत्ता में ज्ञात होते हैं। ये ज्ञात होते हैं, वह आत्मा की सत्ता की अवस्था ज्ञात होती है, यह वस्तु नहीं। जिसे मुख्य करके ज्ञात होता है, उसे मुख्य करके न रखना, अन्य को मुख्य करके रखना—ऐसी भ्रमणा, यह सब चौरासी में भटकने के रास्ते हैं। जिसकी एक समय की पर्याय में यह है, सब यह है।

एक बार पर्वत पर चढ़ते थे, उतरते थे। गिरनार चढ़ते तो ऐसे नजर जाए। उतरते हुए सब दिखायी दे। उतरते हुए सब दिखायी दे। इतना आत्मा, इतने भाग में इतना सब दिखायी दे। कितने दूरी से दिखायी दे? गिरनार के ऊपर से जैतपुर दिखायी दे। आहा! यह सब दिखायी देता है, वह क्या है? वह दिखता है? उसमें आत्मा की पर्याय गयी है, वह उसे देखती है? पर्याय, पर्याय में रहकर पर्याय को देखती है। आहाहा! अरे रे! ऐसा कहाँ से करना? निवृत्ति कहाँ से? संसार के पाप के कारण निवृत्त कहाँ होता है? पाप की पींजण कातता रहता है। पाप की पींजण पूरे दिन। धर्म तो कहीं रहा? परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता। आहाहा! यह सब दिखता है। यहाँ तो इतना ऐसा दिखायी दिया। वास्तव में तो असंख्य प्रदेश में दिखता है। वह तो यहाँ निमित्त है। असंख्य प्रदेश में पर्याय में ज्ञात होता है। उस पर्याय में पर्याय की शक्ति से पर्याय को जानता है। पर्याय की शक्ति से पर्याय को पर्याय जानती है।

जब एक पर्याय ऐसी शक्ति को जाने, इतनी ताकतवाली, तो उस पर्याय का धारक पर्यायवान, जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं, जिसमें ध्यानावली का प्रवेश नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव भाई! आहाहा! प्रचलित भाव से अलग प्रकार है, बापू! वीतराग जिनेश्वर परमेश्वर त्रिलोकनाथ का विरह पड़ा। उसके पीछे (बाद में) जिनेश्वर के नाम से अनेक प्रकार से स्वच्छन्द मार्ग को लोगों ने सेवन किया। आहाहा! मार्ग तो दूसरा रह गया। यह मार्ग है। आहाहा! यह क्या कहा? देखो न!

जिस पर्याय में ज्ञात होता है, वह पर्याय भी अन्दर में नहीं है, ध्रुव में नहीं है। आहाहा! परन्तु कब पाप के कारण विचार का समय मिले? पूरे दिन पाप की पींजण करता है। आहाहा! उसका योगफल आएगा। कुदरत के नियम में वह योगफल आएगा। आहाहा! क्या आचार्यों ने संक्षिप्त भाषा में किस प्रकार सबको प्रसिद्ध किया है!! आहाहा!

प्रभु! तू तो ज्ञान अर्थात् गुण से शोभायमान है न! आहाहा! तू तो आनन्द और ज्ञान और शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता इन तेरे गुणों से शोभायमान है न! उसमें पर के विकल्पों से तुझे तो अशुद्धता और कलंक लगता है और उसमें से तुझे शोभा लगती है कि यह मैंने किया, यह मैंने किया, मैंने इसका यह किया, मैंने इसका यह किया। क्या तुझे भ्रमणा हुई है? प्रभु! आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, भगवान! आहाहा!

आनन्द और ज्ञान से शोभित तत्त्व, ऐसा जो परमात्मतत्त्व स्वयं प्रभु निज परमात्मा की पर्याय में यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... वह चीज़ तो यहाँ आती नहीं और

तेरी पर्याय उस चीज़ में जाती नहीं, तो पर का करूँ, यह तो उसमें आता नहीं परन्तु पर को जानना कहना, वह भी व्यवहार है, असद्भूतव्यवहार है, क्योंकि पर में तन्मय नहीं होता। मात्र अपनी पर्याय को जानता है, यह कहना, वह सद्भूतव्यवहार है। वह भी पर्याय की धारा... आहाहा! प्रभु! तेरे ध्रुव में कहाँ से आयी? वह तो ध्रुव के ऊपर तैरती है। तेरे दृष्टि का विषय, वह कहीं ध्यानावली नहीं है। ध्यान की धारा, वह दृष्टि का विषय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह यहाँ कहते हैं। इस गाथा के कलश में बहुत भरा है। तीन बोल कहकर तो बहुत भरा है। आहाहा!

**मुमुक्षु :** प्रीतिभोज है, उसे लड़ाया...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इसमें है। परन्तु इसमें है या नहीं यह? एक परमात्म शब्द कहो तो उसमें क्या बाकी है? फिर उसे लडाना अर्थात् अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों और ऐसा का ऐसा। वह तो ऐसा है, उसका कहने का है। आत्मा निज परमात्मा परमेश्वरस्वरूप ही है। यदि शक्ति और स्वभाव से परमेश्वर न होवे तो पर्याय में परमेश्वर अरिहन्त हुए, वे कहाँ से हुए? कहीं बाहर से परमेश्वरपना आता है? अन्दर पड़ा है, उसमें से आता है। आहाहा! उस पड़े हुए परमेश्वर में ध्यान की ध्यानावली का भी अवकाश नहीं है। आहाहा! वह व्यवहार का विषय है। आहाहा! प्रभु ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! जँचे न जँचे, परन्तु सत्य तो यह है।

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर का तो ऐसा कहना है। उससे कम, अधिक, विपरीत मानेगा, वह मिथ्यात्व सेवन कर चार गति में भटकेगा। नरक और निगोद में जाएगा। आहाहा! वहाँ कोई सहारा नहीं है। वहाँ कोई सिफारिश लागू नहीं पड़ती। हमने इतना पुण्य किया था, इतना दान दिया, हमने यह किया था। यह तेरा दान-पुण्य तो कहाँ...? ऐरण की चोरी और सुई का दान। पूरे दिन पाप के पोटले बाँधे और उसमें कभी सहज पुण्य का भाव करे, वह सुई का दान और ऐरण की चोरी। तेरे पुण्य का भी कहाँ ठिकाना है? धर्म का तो ठिकाना कहाँ है? आहाहा! यह एक श्लोक हुआ। पौन घण्टे में एक श्लोक हुआ। आहाहा! बहुत भरा है, बहुत भरा है।

द्रव्य और पर्याय तथा व्यवहार और निश्चय दोनों की बात बहुत भरी है। एक परद्रव्य के विकल्प से भरी हुई है, उससे रहित हुआ। पश्चात् स्वद्रव्य के नय और निषेध के व्यवहार के विकल्प से रहित कहा; पश्चात् स्वद्रव्य की ध्यानावली की पर्याय से रहित कहा। आहाहा! इसमें है या नहीं?

स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, धन्धा तो कहीं रह गया, उसकी तो यहाँ बात भी नहीं है। उसके सम्बन्धी का जो राग होता है, वह तेरी पर्याय में है। वे चीजें तो उनमें रही है। वे कहाँ तेरे पास है और तेरे पास अन्दर आती है? राग होता है, उसे पहले उड़ाया। उस राग का समूह तुझमें नहीं है। पर्याय में है, वह द्रव्य में नहीं है। अन्य चीज तो पर्याय में भी नहीं है। आहाहा! यह क्या कहा? स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, इज्जत, मकान, पैसा, वह तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं। वे तो बाहर उनमें रहते हैं परन्तु इसकी पर्याय में उनके सम्बन्धी का विकल्प है, उसकी बात की है। आहाहा! विकल्प अर्थात् राग। उसके सम्बन्धी का तुझे जो राग होता है, वह तेरी पर्याय में है परन्तु वह द्रव्य में नहीं है। जहाँ पूरा परमात्मतत्त्व पड़ा है, उसमें वे नहीं हैं। एक बोल ऐसा कहा।

दूसरा बोल ऐसा कहा कि... यह निश्चय से ऐसा और व्यवहार से ऐसा, सद्भूत से ऐसा और असद्भूत से ऐसा, यह तेरे आत्मा में भेद पाड़कर ज्ञान के भेद... आहाहा! वह समूह भी प्रपंच है। आहाहा! प्रभु! वह तुझमें नहीं है। वहाँ दृष्टि कर।

तीसरा, पहले में विकल्प है, वह भी दुःखरूप है - ऐसा कहा। पहले और दूसरे दोनों विकल्प में दुःख है। और तीसरे में सुख है। तीसरे में सुख है, अतीन्द्रिय सुख है परन्तु उस पर्याय में सुखधारा... कम, बढ़ते.. बढ़ते.. बढ़ते सुख की धारा बढ़ती है, ऐसी पर्याय बढ़ती है, एकरूपता नहीं है। इस एकरूप वस्तु में वह पर्याय की धारा एकरूप वस्तु में नहीं है। आहाहा! ऐसा है। ऐसा उपदेश किस प्रकार का? आहाहा!

इसे डर नहीं लगता। उस सर्प को देखकर डर लगता है, बिच्छु को देखकर डर लगता है परन्तु भवभ्रमण कितने होंगे, उसका इसे डर नहीं लगता। कोई शत्रु छुरी लेकर मारने आवे तो डर लगता है। आहाहा! अनन्त भवों का भव करने का भाव, इसे भव का डर नहीं लगता। आहाहा! यह ८९ गाथा हुई।

९०वीं गाथा।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।

सम्मत्त-पहुदि-भावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

नीचे हरिगीत

मिथ्यात्व आदिक भाव की, की जीव ने चिर भावना।

सम्यक्त्व आदिक भाव की, पर की कभी न प्रभावना ॥९०॥



टीका - यह आसन्न भव्य... कहते हैं कि निकट में जिसकी मुक्ति है, उसकी बात। और अनासन्न भव्य... कभी मुक्ति नहीं हुई, उसका भाव। वह पूर्वापर (-पहले के और बाद के) परिणामों के स्वरूप का कथन है। जिसकी मुक्ति निकट है, उसका कथन है और जिसकी मुक्ति बिल्कुल नहीं, उसका कथन है। आहाहा! अरे! तूने भाई! मिथ्यात्वभाव अनन्त बार सेवन किया है। आहाहा! मिथ्यात्व—विपरीत मान्यतायें। आहाहा! राग मेरा, स्त्री मेरी, पैसे मेरे, परिवार मेरा, मकान मेरा, इज्जत मेरी, पुत्र मेरा, पुत्री मेरी, दामाद मेरा... आहाहा! गहने मेरे, कपड़े मेरे, शरीर मेरा, अमुक मेरा, मन मेरा, वाणी मेरी—ऐसे मिथ्यात्वभाव को तूने अनन्त बार सेवन किया है, प्रभु! आहाहा! ऐसा उपदेश।

मिथ्यात्व,... भाव और अव्रत,... भाव। राग का त्याग नहीं और मिथ्यात्वसहित अव्रतभाव भी अनन्त बार सेवन किया है। कषाय... भी अनन्त बार सेवन की है। क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्त बार किये हैं। अनन्त भव में अनन्त बार (किये हैं)। और योग... अनन्त भव में अनन्त बार योग-कम्पन किया। ये परिणाम सामान्य प्रत्यय... ये चार सामान्य आस्रव हैं। प्रत्यय अर्थात् आस्रव। आस्रव अर्थात् नये बन्धन के कारण। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग... ये चार परिणाम नये आवरण के कारण हैं। इन्हें प्रत्यय कहा। समझ में आया इसमें? ये चार प्रत्यय (आस्रव) हैं; उनके तेरह भेद हैं,... तेरह गुणस्थान है न? पहले गुणस्थान से सयोगी तक। तेरह प्रत्यय हैं, तेरह आस्रव हैं। आहाहा!

प्रतिक्रमण है न? यह प्रतिक्रमण की व्याख्या है। विमुख हुआ नहीं, प्रभु! जहाँ है, वहाँ का वहीं रुका है। आहाहा! मिथ्यात्व से लेकर सयोगी केवली। तेरह गुणस्थान से ये प्रत्यय-आस्रव हैं। तेरहवें गुणस्थान में भी ईर्यापथ आस्रव आता है न? कारण कि 'मिच्छादिद्वीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं' ऐसा (शास्त्र का) वचन है;... मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी तक, शास्त्र का वचन है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर सयोगीगुणस्थान के अन्तिम समय तक प्रत्यय... अर्थात् आस्रव। होते हैं—ऐसा अर्थ है। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा का पाप, अव्रत का पाप, कषाय का पाप, योग का पाप—ऐसा आस्रव वह ठेठ तेरहवें (गुणस्थान) तक आता है। आहाहा! मिथ्यात्व के पाप से लेकर।

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान रहित... आहाहा! अब मिथ्यात्व की बात करते हैं। निरंजन परमात्मा-आत्मा है। निरंजन—अंजनरहित, मलरहित, मैलरहित—ऐसा भगवान् चैतन्य द्रव्यस्वरूप, चैतन्य पदार्थ है। वह निरंजन निज परमात्म... वापस निरंजन

पर परमात्मा नहीं। निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान रहित... ऐसे परमात्मा की श्रद्धारहित। आहाहा! जिसे उसकी श्रद्धा की खबर भी नहीं। आहाहा! मेरा प्रभु निरंजन निज परमात्मा शुद्ध चैतन्य है, वह पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है। पर्याय के भेद से भी रहित है। ऐसा निज परमात्मतत्त्व-ऐसा लिया है न? पर्याय नहीं। आहाहा! निरंजन निज परमात्मतत्त्व। निज परमात्मतत्त्व। अन्दर स्वयं भगवान है। आहाहा! परमेश्वर स्वयं आत्मा अन्दर है। ऐसे निज परमेश्वर के श्रद्धान रहित... उसकी श्रद्धारहित। उसकी श्रद्धा नहीं होती (और) दूसरे सबकी श्रद्धा। एक की नहीं होती। आहाहा! वररहित बारात। निरंजन निराकार परमात्मा शुद्ध-बुद्ध पूर्ण स्वरूप की श्रद्धान रहित...

नैष्कर्म्यरूप चारित्र प्राप्त नहीं किया है... आहाहा! अन्दर निष्कर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप के विकल्परहित चारित्र अन्दर स्वरूप की रमणता प्राप्त नहीं की। स्वरूप की श्रद्धा तो नहीं, इसलिए स्वरूप का चारित्र भी नहीं, ऐसा कहते हैं। श्रद्धा पहले कही न? आहाहा! स्वरूप की श्रद्धा बिना चारित्र नहीं होता। स्वरूप की श्रद्धा निरंजन निज परमात्मा शुद्ध अखण्ड अभेद है, उसमें पर्याय का भी भेद नहीं। ऐसे परमात्मा की श्रद्धारहित जीव चारित्ररहित है। इसलिए चार गति में भटकते हैं। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

५

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२५०, प्रवचन - २४४  
दिनांक - ०९-१२-१९६५

स्याद्वाद अधिकार, कलश टीका। इसका तीसरा श्लोक पूरा हुआ। देखो! उसमें क्या कहा अन्तिम? कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप से द्रव्यरूप से स्वयं है। अन्तिम शब्द है न तीसरे के? द्रव्यद्वार से आपरूप है। अपने स्वरूप से है और पर्यायद्वार से ज्ञान विश्वरूप है... इसमें यह शैली ली है। विश्व अर्थात् पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञेयाकार परिणमन होता है। समझ में आया? ज्ञान की वर्तमान पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञेयाकार परिणमन होता है। उस पर्याय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि विश्वरूप है। द्रव्य से अपनेरूप त्रिकाल एकरूप है। ऐसा भेद स्याद्वादी अनुभवता है। ऐसा प्रकार स्याद्वादी-अपेक्षा से समझनेवाला जानता है, अनुभव करता है। इसलिए स्याद्वाद वस्तुस्वरूप का साधक है, ... देखो! साधकपने के ऊपर जरा जोर है। समझ में आया?

रागादि होते हैं, उन्हें ज्ञान की पर्याय जानती है। इस प्रकार से व्यवहार का ज्ञान यद्यपि परिणमा है, ऐसे विश्वरूप से अनेक को जाननेरूप परिणमा है, ऐसा उस ज्ञान की पर्याय की अपेक्षा से कहा जाता है। वस्तुरूप से देखें तो ज्ञान ज्ञानरूप द्रव्य स्वयं है। इस प्रकार वस्तु का साधकपना है। इस प्रकार वस्तु सिद्ध हो सकती है। पर्याय में विश्वरूप जानना, हों! राग के कारण सिद्ध हो सकती है, ऐसा नहीं। ज्ञान की पर्याय में यह सब ज्ञात होता है, इस प्रकार से ज्ञान की पर्याय को विश्वरूप / अनेकरूप कहा जाता है। अनेक अर्थात् यह दूसरी अपेक्षा से। अपने अब आयेगा, वह दूसरी बात है। समझ में आया?

वस्तु के दो प्रकार। एक वस्तु त्रिकाल और एक समय की... यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से अभी बात है। ज्ञान त्रिकाल और ज्ञान की एक समय की एक पर्याय। पर्याय द्वारा देखें तो पर्याय में एक समय में छह द्रव्य सम्बन्धी का ज्ञानरूप से परिणमना, वह पर्याय है, पर्याय है, वस्तुरूप से देखें तो स्वयं है। पर्याय द्वारा देखें तो मानों अनेक विश्वरूप, छह द्रव्य के ज्ञानरूप, ज्ञेयाकाररूप परिणमना है। ऐसे पर्याय को इस प्रकार से सिद्ध किया। द्रव्यरूप त्रिकाल है,

उसकी दृष्टि करने से पर्याय में सम्यग्दर्शन का अनुभव होता है। समझ में आया ? यह उसका साधक है, ऐसा यहाँ तो कहना है। रागादि साधक है, निमित्त साधक है, यह यहाँ नहीं कहना, देखो ! समझ में आया ?

वस्तु के दो भाग में दो भाग जिस प्रकार से है, वैसा मानना, वह वस्तु का साधकपना है। इसलिए कहा न, **इसलिए स्याद्वाद वस्तुस्वरूप का साधक है...** इस प्रकार स्याद्वाद साधक है। पर्याय में अनेकपना, राग, विकल्प, संयोग, छह द्रव्य—यह सब पर है। इसे ज्ञानपर्याय ज्ञेयाकाररूप से जाने सही, परन्तु उस जानने की अपेक्षा से विश्वरूप है, पररूप है—ऐसा अपेक्षा से कहा जाता है और वस्तुरूप से तो एक ही है। उसमें एक समय की पर्याय छह द्रव्य को जाने, इतनी कहाँ वस्तु है ? समझ में आया ?

वस्तु तो त्रिकाल अखण्ड ज्ञायकमूर्ति चैतन्य वह तो अपनेरूप ही है। उस पररूप तो एक समय की पर्याय पर की अपेक्षावाली ज्ञेयाकाररूप परिणामी है, इतना। उस पर्याय की इतनी स्वीकृति की और द्रव्य आपरूप है, वस्तु एकरूप त्रिकाल है, ऐसे उस पर दृष्टि देने से पर्याय में अनन्त गुण के अंश का वेदन-अनुभव होता है। भारी सूक्ष्म, भाई ! स्याद्वाद का। अब तीसरा श्लोक। वैसे चौथा है, ऐसे तीसरा है। यह 'एक' का श्लोक है।

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्  
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।  
एकद्रव्यतया सदा व्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-  
त्रेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित्॥४-२५०॥

भावार्थ अर्थात् कि जो भाव कहना, वह इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी... एक ही पक्ष को माननेवाला वास्तविक तत्त्व को नहीं समझनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमात्र को वस्तु मानता है,... सिद्ध तो एक को करना है। तथापि उस पर्याय में अनेकपना जो है, अनेकपने जानने की जो पर्याय है, वस्तु की पर्याय, ऐसी पर्याय को ही वस्तु मानता है, वस्तु को नहीं मानता है,... अनेक को मानता है। पर्याय में अनेकपना है, उसे मानता है परन्तु वस्तु एकरूप है, उसे नहीं मानता। यह एक का बोल है। इसके सामने अनेक ही मानता है और एक नहीं मानता, ऐसा पहले सिद्ध करेंगे और फिर एक माननेवाला स्याद्वादी एक मानता है, यह पर्याय का अनेकपना होने पर भी वस्तुरूप से एक है। समझ में आया ?

यह स्याद्वाद अधिकार जरा सूक्ष्म है। मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमात्र को वस्तु मानता

है, ... एक समय की अवस्था में जो अनेकरूप वस्तु ज्ञात होती है, उस अनेकपने को ही वस्तु मानता है। पर्याय में अनेकपना ज्ञात होता है न! उसे अनेकपने को—पर्याय को ही मानता है। वस्तु को नहीं मानता है, ... वस्तु एकरूप त्रिकाल है, पर्याय का अनेकपना होने पर भी वस्तु तो एक है। द्रव्यरूप से वस्तु एक है, उस एक को नहीं मानता। अकेली पर्याय (मानता है)। इतना द्रव्य, ऐसा (मानता है)। परन्तु पूर्ण वस्तु एक अखण्ड ज्ञायक है, उसे नहीं मानता।

इसलिए ज्ञानवस्तु अनेक ज्ञेय को जानती है, ... देखो! भगवान आत्मा ज्ञानवस्तु अनेक ज्ञेय को जानती है, पर्याय में अनेक ज्ञेय को जानती है। उसको जानती हुई... वस्तु। वस्तु ली है न? जानती हुई, (ऐसी) ज्ञानवस्तु—भगवान आत्मवस्तु। पर्याय में उसको... ज्ञेय को जानती हुई ज्ञेयाकार परिणमती है... ज्ञेय—ज्ञात होनेयोग्य पदार्थरूप से पर्याय परिणमती है। परिणमती है तो अपनेरूप, परन्तु ज्ञेयाकाररूप अपनी पर्याय होती है। समझ में आया? पररूप नहीं होती, परन्तु जो ज्ञेय वस्तु है, इसकी पर्याय में ज्ञेयाकाररूप होती है।

ऐसा जानकर ज्ञान को अनेक मानता है, ... यह ज्ञान का रूप अनेक ही है, ऐसा मानता है। एक वस्तु त्रिकाल द्रव्य है, उसमें दृष्टि देनेयोग्य है, ऐसा वह मानता नहीं। समझ में आया? एक नहीं मानता है। अनेक मानता है। पर्याय अपेक्षा से अकेला अनेक मानता है। अनेक अकेला मानने पर एक बिना अनेक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि एक ज्ञान को माने बिना... एकरूप ज्ञान को माने बिना। एकरूप वस्तु त्रिकाल को जाने बिना अनेक ज्ञान ऐसा नहीं सधता है, ... एकपने की अपेक्षा बिना अनेकपना इसकी पर्याय में सिद्ध नहीं होता। कौन अनेकरूप परिणमा? द्रव्य कौन था? कौन द्रव्य अनेकरूप परिणमा? समझ में आया? कौन वस्तु स्वयं अनेकरूप वर्तमान पर्यायरूप हुई? उस अनेक को अकेला माननेवाला द्रव्य की अपेक्षा बिना अनेकपने की पर्याय भी सिद्ध नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया? जमुभाई! उसमें—आंकडिया में तो कभी ऐसा आया नहीं होगा। आहाहा!

वस्तु भगवान आत्मा एकरूप त्रिकाल है। देखो न! सब जगह एक... एक... एक आता है। एकरूप। एक स्वभाव, एक स्वभाव, एक स्वभाव। वीतराग ज्ञानानन्द एक स्वभाव, एक वस्तु। भले गुण अनन्त हों, यह अपेक्षा से बात (ऐसी हो), परन्तु द्रव्यरूप से तो एक है। उसकी एक समय की पर्याय अनेक को जाननेरूप, ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उनके जाननेरूप परिणमे, इससे उसे—अनेकपने को अर्थात् पर्याय को ही मानता है। वस्तु त्रिकाल एकरूप ज्ञेय एक है,

उसे वह नहीं मानता। एक ज्ञान को माने बिना अनेक ज्ञान ऐसा नहीं सधता है, ... किसका अनेकपना परिणामा ? जड़ अनेकरूप परिणामा ? कौन सा द्रव्य अनेकरूप ( परिणामा ) ? एकरूप रहनेवाले बिना अनेकरूप परिणामा कौन ? समझ में आया ? अनेकरूप हुआ कौन ? एकरूप रहे बिना अनेकरूप हुआ कौन ? उस अनेकरूप पर्याय—इसकी पर्याय हुई है, एक द्रव्य है, एकरूप रहनेवाला अनेकरूप परिणामा है। समझ में आया ? अनेक को एक के साथ सम्बन्ध है, ऐसा कहना है। अनेकपने का पर्याय का परिणामन, उसका सम्बन्ध एक द्रव्य के साथ है। किसके साथ ?—अपने साथ, पर के साथ नहीं। पर जो टिकी हुई चीज़ है, इसलिए उसके कारण यहाँ परिणामा अर्थात् वह है तो यह परिणामा, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

इसलिए ज्ञान को एक मानकर अनेक मानना वस्तु का साधक है। देखो! है न ? एक ज्ञान को माने बिना, एकरूप उस चीज़ का जो अंश है, वह अंश अनेकरूप हुआ तो एकरूप है, वह पर्याय में अनेकरूप ( हुआ है )। वस्तुरूप से एक है, वह अवस्था में अनेकरूप हुआ है। ऐसे एकरूप की चीज़ को माने बिना अनेक ज्ञान, ऐसा साधा नहीं जा सकता। अर्थात् कि दूसरा कोई टिकता है अथवा दूसरा है, इसलिए अनेकरूप परिणामा है, ( ऐसा नहीं है )। क्या ? उसे ( स्वयं को ) आधार से अनेकरूप परिणामी है, सामने निमित्त के आधार से नहीं। समझ में आया ?

बड़ा वज्र का स्तम्भ ध्रुव पड़ा है एक द्रव्य। वह एकरूप है, वह पर्याय में—अंश में अनेकरूप होता है। दूसरी चीज़ के कारण अनेकरूप है, ( ऐसा नहीं है )। विश्व है अवश्य, उसके निमित्त से अपने ज्ञान की अवस्था, उस प्रकार से ज्ञेयाकाररूप से होना, ऐसा स्वभाव है, परन्तु वह अनेकपना होना, वह एक की अपेक्षा रखकर होता है। किसी की अपेक्षा रखकर अनेकरूप परिणामता है, ( ऐसा नहीं है )। हमारे हिम्मतभाई दाँत निकालते हैं। देखो न ! यहाँ क्या कहा है ?

एक ज्ञान को माने बिना... उसकी और उसकी चीज़ को। अनेकरूप पर्याय हुई, वही एकपने एकरूप को माने बिना उसका अनेकपना एक के सम्बन्ध बिना अनेकपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा ! कहो, समझ में आया ? दूसरे हैं, इसलिए अनेकपना सिद्ध होता है, ऐसा नहीं है—ऐसा सिद्ध नहीं होता। उसके सम्बन्धवाला तत्त्व एक है, उसके कारण अनेकपना सिद्ध होता है। गजब भाई ! ऐसा। .... स्याद्वाद भारी सूक्ष्म।

इसलिए... इसलिए। ज्ञान को एक मानकर... एकरूप उसी और उसी को एकरूप

मानकर। जो अनेकरूप परिणमा है, उसी और उसी को एकरूप मानकर—एकरूप रहनेवाला मानकर अनेक मानना वस्तु का साधक है... देखो! समझ में आया? वस्तु जो अनेकपने पर्याय में परिणमी है, उसी एक वस्तु को माने बिना अनेकपना सिद्ध नहीं होता। इसलिए एकरूप रहनेवाली चीज़, एकरूप, सदृशरूप, एकरूप के सम्बन्ध से वर्तमान पर्याय का अनेकपना है, उसके सम्बन्ध से। एक की अपेक्षा से अनेक है। यह एक अपने सम्बन्ध की अपेक्षा से अनेक है। अकेला अनेक माने, उसे एक की अपेक्षा बिना अनेकपने की सिद्धि नहीं होती। समझ में आया? यह तो स्याद्वाद के चौदह बोल ऐसे रखे हैं कि जो वह अकेला आत्मा-आत्मा करे न कि आत्मा ऐसा है, कूटस्थ है, ध्रुव है। ऐसी वस्तु नहीं है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समय-समय में पर्याय में—अवस्था में अनेकपनेरूप भास होने पर भी एकान्त से अनेक ही वह अंश नहीं है। वह अंश एकरूप रहनेवाली वस्तु है, उसके सम्बन्धवाली एक पर्याय अनेकपने को जाननेरूप परिणमित है, तब एक की अपेक्षा से अनेक सिद्ध होता है। एक के अनुभव में पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय का अनुभव आता है, ऐसा कहते हैं, लो! समझ में आया?

**ज्ञान को एक मानकर...** भगवान वस्तु एकरूप है, ऐसा मानकर उसकी पर्याय में एक वस्तु के लक्ष्य को अस्तित्व से सिद्ध करके, उसकी पर्याय में अनन्त गुण का एक समय में स्व-पर को जानने की पर्यायरूप परिणमे, तब अनेकपना सिद्ध होता है। समझ में आया? ऐसा कहते हैं। यह तो अभी इसका उपोद्घात किया है। यह तो इसका भावार्थ (किया)। भावार्थ (अर्थात्) क्या? कि यह कहना है।

**‘पशुः नश्यति’** ऐसा सीधा शब्द ही लिया है। पशु अर्थात् एकान्तवादी वस्तु को नहीं साध सकता। अकेले अनेक को ही माननेवाला, एकरूप रहनेवाले भगवान आत्मा बिना पर्याय का अनेकपना भी अनुभव नहीं किया जा सकता। समझ में आया? समझ में आया? **‘पशुः नश्यति’** पशु का अर्थ किया था पहले। **‘पश्यते बध्ये इति कर्म इति पशुः’** क्या? एकान्त नहीं? पहले दूसरा अर्थ किया था। पहले पशु का अर्थ किया था। देखो! पहले पशु था न कहीं? कहाँ आया? अगली गाथा। समझ में आया? देखो! पशु। पहले वहाँ पशु कहा था और पहला पशु यहाँ था—२१९। पशु। **‘पशुः नश्यति’** आत्मा एकरूप अखण्ड आनन्द है, एकरूप अखण्ड है, उसके स्वीकार बिना अकेले पर्याय के क्षणिकपने को माननेवाला एकान्त पशु है। पशु जैसा अर्थात् कर्म से बँधता है। कर्म से बँधता है अर्थात् उसे अबन्ध परिणाम प्रगट नहीं होते। बँधता—रुक जाता है। एकान्तपने में रुककर चार गति में

भटकने के कर्म बाँधता है। कहो, समझ में आया? एकान्तवादी—एक अन्त—एक ही पक्ष को माननेवाला। वस्तु को नहीं साध सकता है। वास्तविक पदार्थ भगवान, उसे सिद्ध—अनुभव में ला नहीं सकता।

कैसा है? 'अभितः त्रुट्यन्' जैसा मानता है, उस प्रकार वह झूठा ठहरता है। क्या कहते हैं? यह अनेकपना मानता है, इस प्रकार से उसका अनेकपना झूठा सिद्ध होता है। समझ में आया? भगवान एकरूप वस्तु त्रिकाल ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। ऐसे एकरूप को स्वीकार किये बिना जिस प्रकार से वह अनेक को ही अकेले मानता है, वह प्रकार झूठा सिद्ध होता है। 'अभितः' अभितः का यह अर्थ किया। 'अभितः' क्या आता है बारम्बार? सर्वथा। 'त्रुट्यन्'। 'अभितः' बहुत जगह आता है। बारम्बार, सर्वथा। पूरा झूठा सिद्ध होता है, लो न। पूरा झूठा सिद्ध होता है। वस्तु भगवान आत्मा एकरूप चिद्घन आत्मा है, उसे माने बिना अकेली अनेकपने की पर्याय को ही मानता है, वह पूरा झूठा सिद्ध होता है। थोड़ा झूठा नहीं, ऐसा कहते हैं। अकेली पर्याय का स्वीकार किया या नहीं?—नहीं।

श्रोता : सच्चे को सच्चा कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, जरा भी नहीं। एक अंश में पूरे पूर्ण को माना तो वह अंश भी उसका सत्य नहीं रहा, ऐसा कहते हैं। एक अंश भी सत्य नहीं। असर्वांश को सर्वांश स्वीकार किया तो उसका असर्वांश भी यथार्थ नहीं रहा। समझ में आया? असर्वांश और क्या?

पूरा सर्व स्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण, उसकी एक समय की पर्याय तो सर्वांश पूरा, पूरा रूप नहीं है। उस एक अंश को ही पूरा माना। अर्थात् एक अंश को पूरा मानने से अंश भी सिद्ध नहीं होता। वह किसका अंश? किसका वह अंश? किसमें उस अनेकपने की पर्याय का ज्ञान? समझ में आया? अमृतचन्द्राचार्य ने इस समयसार के ऊपर कलश किये। मन्दिर बनाते हैं न? मन्दिर के ऊपर कलश रखते हैं, ऐसे कलश रखे हैं।

क्या कहते हैं? जैसा मानता है, उस प्रकार वह झूठा ठहरता है। ऐसा कहा। जैसा यह मानता है, उस प्रकार से—उस प्रकार से यह झूठा सिद्ध होता है। अनेक किसकी अपेक्षा से? किसका अनेक? किसका अनेक? अनेक का अनेक, परन्तु अनेक का अनेक अर्थात् क्या? समझ में आया? एकरूप वस्तु की अपेक्षा बिना अकेले अनेक का अनेक, अनेक का अनेक, अर्थात् क्या? कहते हैं, तेरा जिस प्रकार तू मानता है, उसका अर्थ झूठा सिद्ध होता है।

और कैसा है? 'विष्वग्विचित्रोल्लसद्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्ति' 'विश्वक्' जो अनन्त



है, अनन्त प्रकार का है। यह छह द्रव्य है न? छह द्रव्य हैं, अनन्त हैं और वापस उसमें अनन्त प्रकार की विचित्रता गुण-पर्याय की भी है। छह द्रव्य है न? छह द्रव्य, वे अनन्त हैं और वापस अनन्त प्रकार के। अनन्त का एक प्रकार नहीं। कोई चैतन्य है, कोई जड़ है। कोई चैतन्य के गुण हैं, कोई सामान्य, कोई विशेष, उनके बहुत प्रकार हैं। अनन्त हैं और अनन्त प्रकार के हैं। आहाहा! 'उल्लसत्' प्रगट विद्यमान है... बाह्य। 'उल्लसत्' उल्लसित हो गये हैं, ऐसा है, ऐसा। प्रगट विद्यमान है—ऐसा जो... ऐसे जो ज्ञेय छह द्रव्यों का समूह... देखो! यहाँ छह द्रव्य लिये, भाई! उसमें पाँच लिये थे, ज्ञेय में। यहाँ छह द्रव्य लिये, देखो!

एक ओर भगवान आत्मा, एक ओर भगवान वस्तु स्वरूप द्रव्य का तथा एक ओर एक पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान। एक समय की पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान। समझ में आया? आहाहा! एक समय की पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान। अनन्त सिद्ध आदि सब एक समय की पर्याय में आ गये। पूरी वस्तु तो महान बड़ी एक ओर रह गयी। ओहोहो! समझ में आया? भगवान आत्मा अकेला परमेश्वर प्रभु, उसकी एक समय की पर्याय में सब छह द्रव्य, सब, सब छह द्रव्य का समूह। ज्ञेय की व्याख्या।

उसके प्रतिबिम्बिरूप परिणामी है... उनके प्रतिबिम्बरूप (परिणामी है), ऐसी जो ज्ञानपर्याय—ऐसी जो ज्ञान की अवस्था। छह द्रव्यों के समूहरूप अपनी ज्ञान की पर्याय में प्रतिबिम्बरूप (हुए हैं)। पर्याय है न? उनका प्रतिबिम्ब अर्थात् जैसा है, उसका बिम्ब यहाँ (पड़े)। उसरूप परिणमती है। ऐसी जो ज्ञानपर्याय... 'विशीर्णशक्तिः' गल गयी है। एतावन्मात्र ज्ञान है ऐसी श्रद्धा करने पर गल गयी है वस्तु साधने की सामर्थ्य जिसकी। इतनी ही पर्याय को माननेवाला। एतावन्मात्र ज्ञान है... इतना ही वह ज्ञान है, एक समय की पर्याय और छह द्रव्य जाने, इतना ही वह ज्ञान है। ओहोहो! इससे बड़ा लगा इसे। आहाहा! छह द्रव्यों को जाने अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... और अनन्त प्रकार। अनन्त और अनन्त प्रकार। एक समय में जाने, इतना ही ज्ञान है—ऐसी श्रद्धा करनेवाले को गल गयी है वस्तु साधने की सामर्थ्य... इतनी एक समय की पर्याय से अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्तगुना पूरा द्रव्य जो है, उसे सिद्ध करने की दृष्टि गल गयी है, जल गयी है, दृष्टि मिथ्यात्व हो गयी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म परन्तुभाई! समझ में आया? आहाहा!

भगवान कहते हैं कि इतना बड़ा है कि जिसकी एक समय की पर्याय में छह द्रव्य का प्रतिबिम्बरूप होना, परन्तु इतना ही मानने से पूरे द्रव्य को सिद्ध करने की उसकी दृष्टि गल

गयी है। 'विशीर्णशक्तिः' 'विशीर्ण' जीर्ण हो गयी, नाश हो गयी, ऐसा। आहाहा! एक पर्याय में तो मानो ओहो! यह तो इतना बड़ा। उसमें पूरी वस्तु ऐसे अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड। ऐसी तो अनन्त पर्याय का अकेला कन्द। महापरमेश्वर चैतन्यध्रुव को सिद्ध करने को अकेली एक बिना की अनन्त पर्याय को ही अकेले माननेवाला, इतना ही माननेवाला, उसे पूरी चीज़ को सिद्ध करने की दृष्टि गल गयी है। जल गयी है अर्थात् सुलग गयी है—नाश हो गयी है। आहाहा! समझ में आया ?

बाकी विशिष्टता तो यह कि एक पर्याय में इतना सब माने तो भी। अकेली वस्तु और अकेली पर्याय और एक ही इतना नहीं ऐसा नहीं। वह एक पर्याय इतनी है कि छह द्रव्य के अनन्त-अनन्त प्रकार को जानना, प्रतिबिम्बरूप से परिणमे इतनी पर्याय। इतनी पर्याय को माने तो भी वस्तु को सिद्ध करने की जिसकी दृष्टि नाश हो गयी। आहाहा! समझ में आया ? तो जो अभी छह द्रव्य, उनरूप परिणमित पर्याय, इतनी जो पर्याय है और छह द्रव्य है, उन्हें जो नहीं मानता... समझ में आया ? उसने पूरा द्रव्य तो नहीं माना परन्तु पर्याय में इतनी ताकत है, इतनी पर्याय भी उसने नहीं मानी। समझ में आया ?

एतावन्मात्र ज्ञान है, ऐसी श्रद्धा करने पर... 'विशीर्ण' हो गयी है। 'विशीर्ण' अर्थात् गल गयी है, नाश हो गयी है। वस्तु साधने की सामर्थ्य जिसकी... इतने एक समय की पर्याय में उसे छह द्रव्य (ज्ञात हुए)। छह द्रव्य में क्या आया ? अनन्त केवली आये।

**श्रोता :** स्वयं आ गया न।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** स्वयं आया, पर्याय अपेक्षा से सब आ गया या नहीं अन्दर ? परन्तु इतनी ही पर्याय को माननेवाला, कहते हैं कि उसकी दृष्टि अकेले अंश में ही रही। इतनी पर्याय तो भी ! जिसने—अज्ञानी ने तो एक ही साधारण पर्याय मानी है, जिसे छह द्रव्य भी उसके ज्ञान के प्रतिबिम्ब मानता नहीं। वह पर्याय की इतनी शक्ति अभी मानता नहीं, उसे तो द्रव्य भी दृष्टि में नाश हो गया और पर्याय भी दृष्टि में नाश हो गयी। ऐसा हुआ या नहीं ? विमलचन्दजी ! उसकी तो पर्याय भी नाश हो गयी। आहाहा !

यह तो एक पर्याय इतनी माने तो भी कहते हैं कि द्रव्य की दृष्टि सिद्ध करने के लिये उसकी दृष्टि नाश हो गयी है। इतनी पर्याय जो नहीं मानता कि जो एक समय की पर्याय में छह द्रव्य के ज्ञेयाकार प्रतिबिम्बरूप से परिणमती हैं, इतना ही एक पर्याय का स्वभाव और ताकत है। जुगराजजी ! गजब यह तो वीतराग दृष्टि ! इतनी पर्याय भी जो नहीं मानता, उसे तो पर्याय

सिद्ध करने की दृष्टि में ताकत नहीं और वस्तु को सिद्ध करने की ताकत तो नहीं ही! समझ में आया? परन्तु जिसने ऐसे एक समय की पर्याय में छह द्रव्य के समूह को जानने की प्रतिबिम्ब होने की योग्यता मानी है, इतना ही माननेवाला है, उसे भी द्रव्य को सिद्ध करने की ताकत दृष्टि में नहीं रहती। आहाहा!

यह भगवान आत्मा इतना एक समय का इतना माने तो भी नहीं। यहाँ तो अभी एक समय की पर्याय में कितना? (उसमें भी) विवाद। केवलज्ञानी की एक समय की पर्याय, केवलज्ञानी की एक समय की पर्याय तीन काल-तीन लोक को एक समय में प्रतिबिम्बरूप से जाने। तीन काल—त्रिकाल। समझ में आया? त्रिकाल भाव से परिणमना। अस्तित्व। छठवीं गाथा। वस्तु अस्तित्व है, वस्तु का जो अस्तित्व है, वह प्रत्येक पदार्थ तीन काल की पर्यायरूप... पर्यायरूप... पर्यायरूप परिणमती वस्तु है, ऐसी जो वस्तु की पर्यायरूप से परिणमती वस्तु, उसे ज्ञान की एक समय की पर्याय ज्ञेयाकाररूप से जानने की ताकतवाली पर्याय है। इतनी पर्याय को इतने सामर्थ्यवाली जो नहीं मानता, उसे तो पर्याय और द्रव्य की दोनों की श्रद्धा मिथ्यात्व है। समझ में आया? धरमचन्द्रभाई! बहुत कठिन निकला। यह सब रट-रटकर रटा, निकला दूसरा। दूसरा सीखना पड़ेगा। आहाहा! परन्तु गजब टीका की है न! टीका को सिद्ध करने की...

वस्तु जो भगवान कहना चाहते हैं, यह... एक समय की पर्याय भी... एक समय की पर्याय कितनी, उसे ज्ञान में जाने, उस श्रद्धा की एक समय की पर्याय, श्रद्धा की एक समय की पर्याय भी उसे पर्यायरूप से इतने को स्वीकार करे, इतने को स्वीकार करे। इतना स्वीकार नहीं करे उसकी तो कहते हैं, पर्याय और द्रव्य की, दोनों की श्रद्धा मिथ्यात्व है। इसलिए कहा कि एतावन्मात्र... एतावन्मात्र, इतना ही मात्र। इतना ही माने। आहाहा!

एतावन्मात्र ज्ञान है, ऐसी श्रद्धा करने पर... 'विशीर्ण' जिसकी शक्ति—सामर्थ्य नाश हो गयी है। वस्तु साधने की सामर्थ्य जिसकी, ऐसा है मिथ्यादृष्टि जीव। आहाहा! ऐसा क्यों है? 'बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतः' 'बाह्यार्थ' जितनी ज्ञेय वस्तु उनका जानपना... देखा? ग्रहण की व्याख्या। जितनी बाह्य वस्तु है, भगवान आत्मा एक समय की पर्याय में जो बाह्यार्थ जितनी ज्ञेय वस्तु, उनका जानपना... उनका ज्ञान। समझ में आया? उसे तो स्वयं द्रव्य स्वीकारता नहीं। स्वयं अपने पूरे (द्रव्य) तो स्वीकारता नहीं। इसलिए स्वयं पूरे बिना की एक पर्याय (जितना है)। ऐसा कहना है। उसमें आया था न? साधक है, वह तो स्व-पर को

दोनों को जानने की पर्याय, वह ज्ञेय है। अज्ञानी को तो पर, वह ज्ञेय है। आया था न पहले? परज्ञेय भाई! पहले आया था न! पहले में आया था। ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है।

(कलश) २४८ में आया था। 'ज्ञानं पशोः सीदति।' एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जैसा मानता है कि ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है... सातवीं लाईन। उसे मात्र (ऐसा लगता है कि) ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है। और समकिति जो मानता है उसे... प्रश्न था न उसमें? दोनों। समझ में आया? पर्यायरूप कहने से स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की... २१८ पृष्ठ। इसका विवरण है न? विवरण। द्रव्यरूप कहने से निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु; पर्यायरूप कहने से स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ... ऊपर ऐसा आया था। सम्यग्ज्ञान की पर्याय तो स्व और पर को दोनों को जानती हुई। समझ में आया? और द्रव्य का भी स्वीकार हुआ; तथा मिथ्याज्ञान की पर्याय में अकेली पर्याय को माना, स्वद्रव्य को नहीं माना, उसने वस्तु को नहीं माना, परन्तु ज्ञान की पर्याय दूसरी वस्तु और दूसरी पर्याय है, वह ज्ञान में आकार परिणमती इतनी ही पर्याय को माना—पर्याय को इतनी माना। समझ में आया?

जितनी ज्ञेय वस्तु उनका... 'ग्रहण' जानपना, उसकी आकृतिरूप ज्ञान का परिणाम ऐसा जो है वस्तु का सहज... वस्तु का सहज जो कि किसी के कहने से वर्जा न जाए (छूटे नहीं) ऐसा अमितपना, उसके कारण। क्या कहते हैं? यह तो पर्याय का धर्म है कि उसकी आकृतिरूप ज्ञान का परिणाम हो। किसी के कहने से वर्जा न जाए... यह तो पर्याय ऐसी होती ही है। अमितपना—मिटे नहीं ऐसा। किस प्रकार से? ज्ञान का स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय को जानता हुआ... ऐसा कहते हैं। सब ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान की वर्तमान दशा ज्ञेय के आकाररूप परिणमना। (होता है)। ओहोहो! देखो! इसमें यह आया है। समस्त को (ज्ञेय को) जानता हुआ ज्ञेयरूप ज्ञान परिणमता है, परन्तु ज्ञान परिणमता है, ऐसे ज्ञेय कहाँ परिणमते हैं? परन्तु यह तो वह का वह है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है। क्या कहा, समझ में आया?

यहाँ तो सिद्ध पर्याय को अनन्तरूप सिद्ध करना है। बाकी तो ज्ञान की पर्याय जो पूर्ण है, वह जिस प्रकार से परिणम रही है, वह परिणमनेरूप जो परिणमा, उसी प्रकार से पूरे लोकालोक की पर्याय उस प्रकार से वहाँ उसके कारण से परिणम रही है। आहाहा! समझ में आया? 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होशी वीरा, अनहोनी कबहू न होशी काहे होत अधीरा।' 'जो जो देखी वीतराग ने' उन्हें एक समय की पर्याय में पूरा लोकालोक और सब

दिखता है, उसी अनुसार वहाँ होगा, आड़ा-टेड़ा नहीं होगा। (वीतराग ने जाना) इस कारण से नहीं परन्तु ऐसा जाना, उसी प्रकार से वहाँ उसे (स्वयं के) कारण से परिणमता है। 'अनहोनी कबहू न होशी, काहे होत अधीरा।'

यहाँ तो जरा दूसरी बात करनी है कि जो ज्ञान की पर्याय है, जैसा ज्ञेय सामने है... समझ में आया? उस समस्त ज्ञेय को जानता हुआ... समस्त ज्ञेय को जानता हुआ। वे सब ज्ञेय और द्रव्य-गुण-पर्याय, भूत-भविष्य और वर्तमान, वह सब ज्ञेय है। आहाहा! त्रिकाल ज्ञेय है या एक वर्तमान ज्ञेय है? वस्तु का सहज जो पर्यायधर्म किसी के कहने से वर्जा न जाए (छूटे नहीं)... वह उसका—ज्ञान का परिणाम, हों! यहाँ तो ज्ञान का परिणाम (लेना है)। आहाहा! भगवान आत्मा त्रिकाल, उसका एक समय का परिणाम—पर्याय, वह जितने ज्ञेय हैं, उस प्रकार से परिणमता है, ऐसा वस्तु का पर्यायस्वभाव है। 'भरतः' किसी के कहने से वर्जा न जाए (छूटे नहीं)... ऐसा उसे अमिटपना, वह पर्याय का धर्म है। मिटे नहीं ऐसा एक समय की पर्याय का धर्म। ओहोहो! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञान का स्वभाव है कि... यह पर्याय की बात है, हों! कि समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय के आकाररूप परिणमना। ज्ञेय के आकार परिणमना। वह स्वयं उस प्रकार से परिणमता है। जैसा वहाँ है, उस प्रकार स्वयं से अपने में ज्ञेयाकाररूप परिणमता है। ओहोहो! समझ में आया? कोई एकान्तवादी एतावन्मात्र वस्तु को जानता हुआ... लो। कोई एकान्त माननेवाले अर्थात् अकेली पर्याय को ही माननेवाले। एक क्षणिक अवस्था, इतनी वापस क्षणिक अवस्था। बौद्ध की तो इतनी (भी नहीं)। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं कि वस्तु का पर्यायधर्म ही इतना है, इतना धर्म है। एक समय में तीन काल तीन लोक का ज्ञेयरूप परिणमना, जानना, ऐसा एक समय का धर्म है। आहाहा! ऐसा जानना, इस प्रकार से श्रद्धा करना, ऐसा एक समय का पर्यायधर्म है। समझ में आया? एतावन्मात्र वस्तु को जानता हुआ ज्ञान को अनेक मानता है। उस एक समय की पर्याय में सब ज्ञात हुआ। अनेक... अनेक... अनेक... अनन्त और अनन्त प्रकार। अनन्त और अनन्त द्रव्य और अनन्त पर्याय के अनन्त प्रकार। ऐसा एक समय में जानता है।

उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञान का एकपना साधता है... अब सुलटा लेते हैं। वह जो एक है, उसे अकेला अनेक ही मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसका एक भाग कहा। अब एक है, उसे एकरूप मानता है, उसकी बात करते हैं। उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञान का एकपना साधता है। 'अनेकान्तविद् ज्ञानम् एकं पश्यति' 'अनेकान्तविद्' स्याद्वादी अर्थात् एक

सत्ता को द्रव्य-पर्यायरूप मानता है... देखो! क्या कहा यह? ये एक सत्ता के दो अंश हैं। एक ही पर्याय अंश सत्ता का है, ऐसा नहीं। क्या कहा? भगवान आत्मा एक सत्ता, असंख्य प्रदेशी एक सत्ता। उस सत्ता के दो अंश हैं। द्रव्य और पर्यायरूप मानता है। एक सत्ता को द्रव्य और पर्यायरूप मानता है। देखो! दूसरी सत्ता की अपेक्षा से नहीं, ऐसा यहाँ कहना है। समझ में आया?

एक सत्ता के दो भाग—एक कायम रहनेवाला एकरूप तथा एक पर्यायरूप अनेकरूप अनन्त द्रव्यों को जाननेरूप परिणमित अनेक। यह एक और अनेक। एक सत्ता का एकरूप। एक सत्ता का दो रूप। एक सत्ता का दो रूप। समझ में आया? एक ही अस्तित्व के दो भाग। 'अनेकान्तविद्' अनेक अर्थात् दो आदि धर्म को जाननेवाला अर्थात् कि एक सत्ता को द्रव्यरूप (और) पर्यायरूप मानता है। ऐसा अनेकान्त कहा न? अनेक अन्त—धर्म। धर्म अर्थात् अनेक। कौन? दो। एक सत्ता के दो धर्म माननेवाला। एक ही सत्ता का द्रव्यधर्म और पर्यायधर्म। दूसरे की बात नहीं है। समझ में आया?

एक सत्ता को द्रव्य-पर्यायरूप मानता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव... 'ज्ञानं एकं पश्यति' ज्ञानवस्तु यद्यपि पर्यायरूप अनेक है... अवस्था में विश्व का जो स्वरूप है, उस रूप पर्याय परिणमित भासित होती है। अनेकरूप परिणमित पर्याय भासित होती है। तथापि द्रव्यरूप से एकरूप अनुभवता है। वस्तुरूप से एकरूप जानता है, पर्याय में अनेकरूप होने पर भी... वह की वह क्रीड़ा उसके पर्याय और द्रव्य में है। समझ में आया? पर के साथ कुछ लेना-देना नहीं। देखो! यहाँ कर्म की सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं, ऐसा सब यहाँ तो कहते हैं। ऐसा आया या नहीं इसमें? कर्म की सत्ता सब सत्ता है, ऐसा ज्ञान की पर्याय जानती है। उस सत्ता के कारण जानती है, ऐसा भी नहीं है। यहाँ पर्याय का स्वभाव है कि वह सत्ता है, उसे ज्ञानपर्याय जानती है, परन्तु वह ज्ञान की पर्याय स्वयं अपनी सत्ता के दो भाग (उसे ही जानती है)। एक ही सत्ता के दो भाग हैं—एक द्रव्यरूप और एक पर्यायरूप। समझ में आया?

कर्म की सत्ता का अस्तित्व, शरीर का अस्तित्व, उस सब अस्तित्व के कारण यह एक समय की पर्याय है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यहाँ सम्यग्दृष्टि की बात है या नहीं? कर्म आदि अनन्त द्रव्य, रजकण हैं, शरीरादि सब हैं, अनन्त शरीर और पुद्गल हैं। छह द्रव्य में सब (आ गया)। बाकी क्या रहा? बाकी रहा? वह जितने हैं उनकी सत्ता, उस सत्ता के अस्तित्व का ज्ञानपर्याय में जानने का भाव आया। ज्ञान की पर्याय में जानने का भाव आया। उसकी सत्ता

का भाव यहाँ आया, ऐसा नहीं; जानने का भाव आया। वह तो अपने जानने के पर्यायधर्म में आया है। समझ में आया? वह सत्ता के कारण नहीं। वह सत्ता—परसत्ता के कारण ज्ञान की पर्याय परिणमी, ऐसा नहीं है।

अनेकरूप, ज्ञान अनन्तरूप परिणमा, यहाँ अनेक कहना है न? अनेक अर्थात् दो से अनन्त सबको अनेक कहा जाता है। यहाँ अनन्त का अनेक कहना है। समझ में आया? भगवान आत्मा वस्तुरूप से एक होने पर भी उसकी ज्ञानपर्याय में अनेकपना अर्थात् अनन्तपना, अनन्त को जानने की भी उस एक सत्ता का एक पर्याय अंश है। एक सत्ता का एक पर्याय अंश है। वह दूसरी सत्ता के अंश के कारण यह पर्याय अंश है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बादशाह की तलहटी की पर्याय भी कितनी! उसका आँगन कैसा! आहाहा!

महाप्रभु! चैतन्य महाप्रभु की एक समय की पर्याय! कहते हैं कि उस एक सत्ता के दो अंश हैं। एक द्रव्यसत्तारूप और पर्यायसत्तारूप। एक सत्ता। उस पर्यायसत्ता के अंश में अनन्त सत्ताओं सम्बन्धी का अपने सामर्थ्य के कारण (ज्ञान होता है), उनके कारण नहीं। इसलिए तो पहले कहा, स्वभाव। वस्तु का सहज जो स्वभाव। अमिटपना—मिटे नहीं ऐसा पर्यायधर्म है, उसके कारण अनन्त सत्ता को अपनी पर्यायसत्ता में अपने द्वारा सहजरूप से परिणमे, जाने—ऐसा पर्याय का धर्म है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म पड़े परन्तु सुननेयोग्य है। कोई बहिनो—महिलाओं को सूक्ष्म पड़े, यह सब कुछ (समझ में नहीं आता ऐसा लगे)।

यहाँ तो कहते हैं न? पुराने लोग प्रश्न तो करे या नहीं? अभी तक यह किया था, उसमें माना था एकान्त... एकान्त... एकान्त... राग मन्द किया, उससे कुछ लाभ नहीं? क्रियाकाण्ड से कोई लाभ नहीं? राग जो है, उसकी सत्ता थी। उसकी ज्ञानपर्याय स्वयं से, उसकी सत्ता है इसलिए जाना, ऐसा नहीं। यहाँ जानने की पर्याय परसत्ता को ही स्वयं जाने, इतनी परिणमी। इतनी परिणमी परन्तु वह अपनी सत्ता का वह तो एक अंश है। एक सत्ता का एक अंश है। वह पर के कारण से नहीं है, राग की मन्दता के कारण ज्ञान परिणमा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि भगवान! परसत्ता जो है—राग की मन्दता, कर्म, शरीर आदि सब, उसे ज्ञान की पर्याय उन्हें स्पर्श किये बिना, उसका—पर्याय का सहज स्वभाव है कि वह उसके ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान परिणमे। बस, इतनी बात है। इतना उस पर्याय का सहजस्वभाव है। इतनी ही उसकी मर्यादा है। इतनी मर्यादा को भी यदि आत्मा माने तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं।

राग के कारण ज्ञान की पर्याय की सत्ता है, ऐसा माननेवाला तो पर्यायमूढ़—महामूढ़ है। समझ में आया ? क्या है ? सेठ !

आहाहा ! अरे ! भगवान का वैराग्य तो उसे कहें, भाई ! आहाहा ! जिसने पुण्य और पाप के विकल्प भी जिसे अकेले ज्ञान की पर्याय में—सत्ता में अपने भासित हों। वह भी अपने पर्यायधर्म के कारण भासित हों, उनके कारण यह नहीं और इतने के कारण पूरा नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! यह तो आचार्यों के हृदय तो गहरे-गहरे, इसलिए इसमें बहुत कहना है न ? इसलिए बहुत गहरा कहीं अपन नहीं पहुँच सकेंगे। उसे इस प्रकार से सिद्ध करने में... ओहो ! भाई ! तू एक ही पर्याय के सामर्थ्यवाली, इतनी वाले को तू इतना पूरा माने तो भी तेरी दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया ?

यह तो एक पर्याय, ऐसी समस्त पर्यायों में इतनी शक्ति, हों ! यह ज्ञान की (बात की)। यह तो ज्ञानप्रधान से बात की। श्रद्धा की, शान्ति की, वीर्य की ऐसी-ऐसी शक्ति एक ही पर्याय में इतनी अधिक है। एक ही वीर्य की पर्याय भी इतनी अधिक है कि सबको जाननेरूप परिणमने का जो काम करे, वह तो एक समय के वीर्य का काम है। आहाहा ! समझ में आया ? इतनी पर्याय जो मानता है और द्रव्य एकरूप त्रिकाल जिसकी-जिसकी भूमिका में, जिसकी भूमिका में यह पर्याय का परिणमन है, एक सत्ता के दो अंश का, तो एक अंश यह माने और इस अंश माने नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि दोनों अंश का स्वीकार करता है। समझ में आया ? ओहोहो ! भारी सम्यग्दर्शन महँगा हुआ। वह तो सस्ता था। पुस्तक आदर करे उसमें था, बारह व्रत में नहीं था ? आहाहा !

कहते हैं एक सत्ता को द्रव्य-पर्यायरूप मानता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव... 'ज्ञानं एकं पश्यति' ज्ञानवस्तु यद्यपि पर्यायरूप से अनेक है... पर्यायरूप से अनेक अर्थात् अनन्त को जाननेरूप अनन्तरूप परिणमित ज्ञान है। अनन्त को श्रद्धा करनेरूप एक समय की पर्याय है। आहाहा ! तथापि द्रव्यरूप से एकरूप अनुभवता है। एक समय की पर्याय नहीं, उसकी द्रव्य पर दृष्टि है। उस सत्ता का इतना अंश है। इतना पूरा नहीं, पूरी सत्ता महा है। समझ में आया ? ऐसे द्रव्य की महासत्ता पर दृष्टि होने से उस द्रव्य का अनुभव पर्याय में आता है। आहाहा !

'ज्ञानं एकं पश्यति' भगवान आत्मा एक स्वरूप निर्विकल्प वस्तु। देखा ? यह भेदरूप अंश है, उसमें अनन्त (ज्ञात) होता है। वस्तु, एकरूप वस्तु अनन्त-अनन्त ऐसे पर्याय



का एकरूप गुण और ऐसे अनन्त गुण का एकरूप द्रव्य। वह वस्तु एक स्वभाव, एक स्वभाव, एक द्रव्य, एक रूप, उसके ऊपर दृष्टि है। यह स्वीकार है और इस स्वीकारसहित का उसका स्वीकार है। अर्थात् द्रव्य का स्वीकार होने से पर्याय में सम्यग्दर्शन की प्रतीति में पूरा द्रव्य क्या है, उसका अनुभव ज्ञान में आता है। समझ में आया? अकेली पर्याय ही ज्ञान में आती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

पर्यायरूप से अनेक है, तथापि द्रव्यरूप से एकरूप अनुभवता है। अनेक, एक की अपेक्षावाला। अनेक, पर की अपेक्षावाला नहीं। पर्याय का अनन्तपना, वह पर की अपेक्षावाला नहीं। भले ज्ञेयाकाररूप से परिणमा, इसलिए उसे अनन्त कहा (परन्तु है) एक की अपेक्षावाला। भगवान् पूर्णानन्द प्रभु... आहाहा! पर्याय से अनेक, वस्तु से एक। यहाँ एक सिद्ध करना है न? एक सिद्ध करना है। अनेक बाद में सिद्ध करेंगे। यहाँ तो एक को सिद्ध करना है और वह एकान्त अनेक को ही मानता है, वह एक को मानता नहीं। ज्ञानी धर्मात्मा द्रव्यरूप से एकरूप अनुभवता है।

कैसा है स्याद्वादी? 'भेदभ्रमं ध्वंसयन्' 'भेदभ्रमं ध्वंसयन्' ज्ञान अनेक है ऐसे एकान्त पक्ष को नहीं मानता है। है न? 'भेदभ्रमं ध्वंसयन्' है न भेद? भेद अर्थात् अनेक। एक समय की पर्याय में अनेकपना, अनन्तपना परिणमा है ज्ञेयाकाररूप से, उस भेदभ्रम का ध्वंस करता है—भेदभ्रम का ध्वंस करता है। यह भगवान् आत्मा अनेक ही है—पर्यायरूप से अनेक ही है, ऐसे एकान्त पक्ष को नहीं मानता। क्यों नहीं मानता? अनजाने मनुष्य को ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं यह सब? हों! बात एकदम सत्य। जैन में होवे तो यह बात... भगवान् जीभाई! ओहो! वस्तु को सिद्ध करने की ताकत, आचार्य की गजब बात है! ओहोहो! उसके दो अंशों को सिद्ध करना, उसकी स्थिति की मर्यादा संक्षिप्त शब्दों में, इस पद्धति में बहुत ही संक्षिप्त कथन। गागर में सागर भर दिया है। ओहो!

कहते हैं, भाई! यह अनेकपने के एकान्त अंश का समकित्ती पक्ष नहीं करता, एकान्त पक्ष नहीं करता। है भले अनेक, परन्तु एक के कारण अनेक, एक की अपेक्षा में अनेक (है, ऐसा मानता है)। समझ में आया? किस कारण से? 'एकद्रव्यतया' ज्ञान एक वस्तु है ऐसे अभिप्राय के कारण। देखो! भगवान् आत्मा वस्तु एकरूप है। वस्तु सदृश... सदृश... सदृश ध्रुव एकरूप है। अनन्तरूप पर्याय (होने) पर भी वस्तु एकरूप है। ऐसे एकरूप की दृष्टि की अपेक्षा से अनेकान्तवादी अकेले अनेक को ही नहीं मानता हुआ एकान्त पक्ष का ध्वंस करके एकरूप द्रव्य को मानता है। ज्ञान एक पदार्थ है, वस्तु है, ऐसे अभिप्राय के कारण। देखो!

यह तो अभिप्राय है। ऐसे आशय के कारण, अभिप्राय के कारण। निर्णय—अभिप्राय है पर्याय में—अनेक में, परन्तु वह अभिप्राय एकरूप का है कि यह वस्तु एकरूप है। समझ में आया ? ज्ञान एक वस्तु है ऐसे अभिप्राय के कारण।

कैसा है अभिप्राय ? 'सदा व्युदितया' सर्व काल उदयमान है... ऐसा अभिप्राय है कि वस्तु त्रिकाल एकरूप है, पर्याय अनेक है, ऐसे अभिप्राय में—अनुभव में एकपने का आदर करके अनेकपने को पर्याय में है, ऐसा ज्ञान करता है। 'सदा व्युदितया' सर्व काल उदयमान है। वस्तु सर्व काल ऐसी की ऐसी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? द्रव्यरूप से एक है। कैसा है ज्ञान ? 'अबाधितानुभवनं' अखण्डित है अनुभव जिसमें... भगवान ज्ञायकस्वरूप ध्रुव वस्तु एकरूप है, उसका अबाधित अनुभव है। उसकी दृष्टि और एकता, वह अनुभव अबाधित है। जैसे वस्तु अखण्ड अबाधित है उसी प्रकार, अनेकपने का स्वीकार और एकपने के स्वीकार की अपेक्षा से, यह अनुभव है, वह अबाधित अखण्डित है। ऐसी है ज्ञानवस्तु। ऐसी भगवान आत्मवस्तु है, उसे अनेक की अपेक्षा में अकेला न मानकर, एक की अपेक्षा से अनेक का अनुभव करता है। ऐसी ज्ञानवस्तु सदा विद्यमान प्रगट है, ऐसा ज्ञानी अभिप्राय में मानता है। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

६

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२५१, प्रवचन - २४५  
दिनांक - १०-१२-१९६५

(वस्तु के एक ही धर्म को माननेवाला) उसे मिथ्यादृष्टि और एकान्तवादी कहा है। क्या कहते हैं? वस्तु को द्रव्यरूप मानता है... सब भाषा अलग प्रकार है यह। यह आत्मा है न आत्मा, उसे द्रव्यरूप से, द्रव्य अर्थात् वस्तु। द्रव्य अर्थात् शाश्वत् चीज। द्रव्य अर्थात् यह पैसा नहीं, हों! यहाँ। द्रव्य अर्थात् वस्तु और पर्याय अर्थात् उसकी वर्तमान होती अवस्था— हालत—दशा। समझ में आया? वस्तु... वस्तु आत्मा पदार्थ त्रिकाल अनादि-अनन्त वस्तु है, पदार्थ है, अनादि-अनन्त तत्त्व है कि जैसे यह रजकण मिट्टी-धूल है। यह पदार्थ है न इस जगत के? यह परमाणु, मिट्टी, धूल पुद्गल अनन्त हैं। यह आत्मा भी एक पदार्थ है, ऐसे अनन्त आत्माएँ हैं। यह आत्मा अन्दर में ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य अर्थात् वस्तु है, उसे माने, पर्यायरूप न माने; परन्तु अज्ञानी, उसमें क्षण-क्षण में पर्याय होती है—अवस्था होती है, उसे मानते नहीं। पर्याय, यह सब नया होगा, धीरुभाई! पर्याय सुनी है कभी? कौन जाने क्या होगी पर्याय?

देखो! सोना है न? जैसे सोना, यह सोने का लठ्ठा है, उसे वस्तु कहते हैं, उसे द्रव्य कहा जाता है और उसमें से कुण्डल, कड़ा, अंगूठी आदि अवस्थाएँ होती हैं, उसे पर्याय कहा जाता है। पर्याय अर्थात् अवस्था। अवस्था अर्थात् हालत। हालत अर्थात् दशा। इसी प्रकार आत्मा अनादि-अनन्त है, आदि-अन्तरहित (चीज है), वह कहीं किसी से की हुई चीज नहीं, उसका कोई कर्ता नहीं तथा वह नाश होकर कहीं मिल जावे, ऐसी चीज नहीं है। अनादि-अनन्त वस्तु भगवान यह आत्मा अन्दर है। यह वस्तु है, उसे यहाँ द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य क्यों कहते हैं? कि उसकी समय-समय में एक-एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त गुण जो शक्तिरूप हैं, वे द्रवते हैं, द्रवते हैं।

पानी एकरूप न रहकर पानी में ऐसे तरंग उठती है—लहरें उठती हैं, उसका नाम द्रवता कहा जाता है, कहा जाता है। इसी प्रकार वस्तु एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु आत्मा

है—द्रव्य। वह समय-समय में पर्याय अर्थात् द्रवता है। अवस्थारूप से—हालतरूप से वह परिणमता है। समझ में आया? कहो, छोटाभाई! यहाँ कहते हैं कि उस वस्तु की अज्ञानी को खबर नहीं है।

**पर्यायरूप नहीं मानता है।** जरा सूक्ष्म बात है, हों! इसका स्पष्टीकरण थोड़ा-थोड़ा होगा। वस्तु तो जितनी हो, उसकी हद प्रमाण उसमें आवे न? **इसलिए ज्ञान को निर्विकल्प वस्तुमात्र मानता है।** क्या कहते हैं? वस्तु है न, वस्तु एकरूप चिदानन्द ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... आनन्द... आनन्द... ऐसे अनन्त गुण का एकरूप, ऐसी निर्विकल्प अर्थात् एकरूप वस्तु को अज्ञानी मानता है, परन्तु **ज्ञेयाकार परिणतिरूप ज्ञान की पर्याय नहीं मानता है,**.. क्या कहते हैं जरा? जो कोई शरीर को, वाणी को, कर्म को अपना माने, वह तो मिथ्यादृष्टि—मूढ़ अज्ञानी है, वह वीतरागतत्त्व को नहीं मानता। समझ में आया? यह शरीर की क्रिया है न? यह हिलना-चलना आदि यह जड़ की। ऐसे ये हलन-चलन, वह सब जड़ की पर्याय है, आत्मा की नहीं। मनसुखभाई! उससे कहीं आत्मा को होगा या नहीं? धर्म-बर्म शरीर से होगा या नहीं? उसकी तो यहाँ बात भी नहीं।

कहते हैं कि यह शरीर तो मिट्टी-जड़ है। अनन्त परमाणु का, रजकणों का बना हुआ (शरीर है)। अन्तिम पॉइन्ट है न अन्तिम टुकड़ा। यह कहीं मूल वस्तु नहीं। इसका अन्तिम टुकड़ा करते... करते... करते... अन्तिम अंश रहे, उसे भगवान परमाणु कहते हैं। परम—अणु। अन्तिम में अन्तिम सूक्ष्म टुकड़ा। ऐसे अनन्त सूक्ष्म टुकड़े इकट्ठे होकर यह शरीर दिखता है। इस एक-एक परमाणु में क्षण-क्षण में पलटने की, अवस्था होने की शक्ति है। इस परमाणु से यह अवस्था होती है, ऐसे आत्मा से नहीं। ऐसे होना, हिलना, बोलना, वह आत्मा से नहीं। जो अभी आत्मा से उसकी (दशा) माने, उसकी यहाँ तो बात ली नहीं है, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि वीतराग के तत्त्व से अत्यन्त विपरीत मान्यतावाला है कि जो अजीव की पर्याय को अपनी मानता है और अजीव के द्रव्य की क्रिया होती है, वह मुझसे होती है—ऐसा माने, उसे तो मूढ़ जीव और महामिथ्यादृष्टि कहा है। समझ में आया?

अब यहाँ तो आत्मा में राग और द्वेष होता है, राग और द्वेष, पुण्य और पाप के विकल्प—वृत्तियाँ होती हैं। शुभ-अशुभभाव होते हैं न! वे शुभाशुभभाव हैं, वे आत्मा नहीं, वह आस्रवतत्त्व है। नव तत्त्व है या नहीं? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तब यह शरीर, कर्म, वाणी, यह अजीवतत्त्व है। इस अजीवतत्त्व की कोई भी क्रिया आत्मा करे और माने, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह अजीवतत्त्व को मानता नहीं। उस

अजीव की होती क्रिया मुझसे होती है, (ऐसा मानता है), इसलिए उसकी बात नहीं है। अब आत्मा में होते पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव, उन्हें आत्मा के पर्याय की मानता है, अपनी दशा के मानता है तो वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे वीतराग सर्वज्ञ ने कहे हुए तत्त्व से, श्रद्धा से विपरीत मानता है।

अब तीसरी (बात) यह पुण्य-पाप के राग के विकल्प होते हैं, उनका यहाँ ज्ञान की अवस्था में जानना होता है। क्या कहा? यह विकल्प उठते हैं, शुभाशुभ वृत्तियाँ या यह देह की क्रिया होती हैं, उसका यहाँ ज्ञान की वर्तमान दशा में यह ज्ञेयाकार—ज्ञेय जैसी चीज़ है, वैसा ज्ञान की वर्तमान दशा में उसका जानने की दशारूप ज्ञान होता है। उस जानने की दशारूप ज्ञान हो, उसे ज्ञान की पर्याय कहते हैं। मनसुखभाई! भारी सूक्ष्म, भाई! उस पर्याय को नहीं मानता, ऐसा अभी तो कहते हैं। एक वस्तु अकेला द्रव्य ही हूँ, बस! एकरूप आत्मा त्रिकाल हूँ, ऐसा माने, परन्तु एक समय की पर्याय जो ज्ञान की है, उसमें अनेकपना का ज्ञान होता है, यह अनेकपना इसे सुहाता नहीं है। समझ में आया? राग-द्वेष और पुण्य-पाप तथा देहादि की क्रिया की तो यहाँ बात नहीं ली, भाई! क्योंकि वह तो बहुत स्थूल दृष्टि मिथ्यात्व में गया, उसकी बात तो छोड़ दी है।

मात्र भगवान आत्मा वस्तु जो अन्दर है, चिदानन्द सिद्धस्वरूप अन्दर शुद्ध शक्ति का है और उसकी होनेवाली अवस्थाएँ, पुण्य-पाप के विचार-ज्ञान और पुण्य-पाप के भाव। अब यहाँ तो कहते हैं कि भाई! जो जीव वस्तु त्रिकाली ज्ञानमूर्ति वस्तु है, ऐसा कहे—माने परन्तु वर्तमान में वे ज्ञेय जो अवस्था में ज्ञात होते हैं, उनका ज्ञान की दशा में अनेकरूप परिणमना, ऐसा ज्ञानपर्याय का स्वभाव धर्म है। समझ में आया? प्रभुभाई! यह बहुत सूक्ष्म है, हों! धन्धा-बन्धा में तो सब उल्टा-सीधा गोला मारे। वहाँ तो चले, पुण्य हो तो चले वहाँ, हों! नहीं तो वहाँ भी कुछ चले नहीं।

यहाँ तो भगवान कहते हैं, बापू! तुझे नव तत्त्व की खबर नहीं। नव तत्त्व किसे कहना? ऐसे तो नाम और बोल सब रटता है। यहाँ तो एक जीवतत्त्व के दो भाग। भाई! शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के भाव वे तो दूसरे तत्त्व में गये, वे आत्मा में नहीं। यहाँ स्वतत्त्व के दो भाग की बात चलती है। आहाहा! मलूकचन्दभाई! वह भूल तो इसकी निकल गयी हो, तथापि यह भूल है, उससे अज्ञानी कहने में आता है। यह तो निकले तब सब एकसाथ निकलती है, परन्तु यह भूल पहली यह सूक्ष्म बताते हैं। क्या कहा?

जो कोई यह भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण तत्त्व—वस्तु है, अनन्त गुण का पिण्ड और एक समय-समय सेकेण्ड के असंख्य भाग में अवस्था होती है—प्रत्येक गुण की पर्याय होती है, वह पर्याय और आत्मा; पर्याय का एक समय है, वस्तु त्रिकाली है—यह उसके दो भाग। इसके अतिरिक्त पर को अपना माने, उसकी यहाँ बात नहीं ली है। क्योंकि वह तो स्थूल अज्ञान की बात है। समझ में आया? उसे तो धर्म की गन्ध भी नहीं है। व्यवहारधर्म कैसे होता है, इसकी उसे खबर नहीं है। न्यालभाई! बहुत सूक्ष्म परन्तु, भाई!

यहाँ तो भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में उसके दो अंश हैं। एक त्रिकाली तत्त्व (जो कि) अनादि-अनन्त वस्तु है और एक अवस्था होती है। (कि) जिसे हालत-पर्याय भगवान कहते हैं। वस्तु के शाश्वत को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य कहो, पदार्थ कहो और अवस्था हो उसे पर्याय कहते हैं। अब दो भाग के अन्दर में भूल क्या होती है, उसकी बात करते हैं। समझ में आया? अरे! वीतराग का मार्ग कहाँ किस प्रकार से है, इसे सुनने को मिलता नहीं और ऐसा कहे कि हम धर्म करते हैं। मूढ़ है। धर्म कहाँ था! धर्म क्या दशा है? धर्म किसे कहते हैं? आहाहा! समझ में आया?

सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, अनन्त तीर्थकर और महाविदेह में विराजते हैं तीर्थकरदेव सीमन्धर प्रभु। उनका प्रत्येक अनन्त तीर्थकर का कथन तो एक ही प्रकार का होता है, कोई दूसरे प्रकार का नहीं हो सकता। वे भगवान ऐसा कहते हैं कि भाई! तू एक अनादि-अनन्त वस्तु है न! शक्तिरूप तत्त्व है। है... है... है... है... है... है... वह अनादि-अनन्त। वह वस्तु—द्रव्य कहलाता है और समय-समय में उसकी विचारधारा, श्रद्धाधारा, विचारधारा बदलती है, उसे पर्याय कहा जाता है। उस पर्याय में जो विकार को अपना माने, शरीर को अपना माने, वह तो मिथ्यादृष्टि जीव है, उसे धर्म की गन्ध भी नहीं है और धर्म करने की योग्यता भी नहीं है, परन्तु जिसे आत्मद्रव्य में दो भाग है, उसका एक भाग त्रिकाली को माने और एक भाग ज्ञान की वर्तमान अवस्था, उसमें अनेक प्रकार के रागादि और पर आदि का ज्ञान, ज्ञान में हो, उस अनेकपने को न माने, उस ज्ञान में अनेकपना है, उसे न माने और अकेले तत्त्व को माने तो वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और मिथ्याश्रद्धा को सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया?

पहले में भाई! ऐसा आया था कि पर्याय को माने और द्रव्य को न माने। कल यह बोल आया था। वह इस प्रकार से था, उसमें ऐसा था कि जो जीव शरीर, वाणी, मन को अपना माने, उसका यहाँ प्रश्न है नहीं। मात्र वस्तु जो है ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाल... त्रिकाल ध्रुव-ध्रुव

अनादि-अनन्त, अकृत, नाश को न प्राप्त हो, ऐसी वस्तु है, ऐसी वस्तु को कोई न माने और अकेली वर्तमान अवस्था को ही माने, वह अवस्था, वह कौन सी ? — राग नहीं। यह दूसरे ज्ञेय को जाननेयोग्य जो अवस्था है, इतनी अवस्था को ही माने। समझ में आया ? एकरूप त्रिकाली द्रव्य है, उसे नहीं माने। तो वस्तु की दृष्टि बिना इसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा। समझ में आया ?

यह २५० में ऐसा कहा था कि, वह पर्याय को माने। पर्याय अर्थात् परवस्तु नहीं। यहाँ तो पर्याय में परवस्तु का ज्ञान होता है न, इतनी पर्याय को माने। भगवान् चैतन्यज्योति सूर्य है। आत्मा अर्थात् चैतन्यसूर्य। अकेले चैतन्य के प्रकाश का तेज। चैतन्य का तेज सूर्य भगवान् आत्मा है। उसकी वर्तमान दशा में ज्ञान का जो अंश प्रगट है, उसमें राग और पुण्य-पाप के भावों का ज्ञान होता है, ज्ञान होता है... समझ में आया ? यह ज्ञान होता है, उस अनेकपने की पर्याय को माने। यहाँ अभी शरीर, वाणी की बात नहीं है। उसकी ज्ञान की दशा को माने। क्योंकि अनेकपना उसमें ज्ञात होता है, परन्तु एकरूप द्रव्य को न माने तो उसे एकान्तदृष्टि मिथ्यात्व हुई, उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया ?

यहाँ अब दूसरा इससे उल्टा बोल है। वह द्रव्य को मानता था और पर्याय को नहीं मानता था। पर्याय अर्थात् राग-द्वेष और शरीर, यह नहीं। आहाहा! अपने दो भाग—एक कायम रहना और एक अवस्था, वर्तमान परिणमना, परिणमना, जिसे भगवान् उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् कहते हैं। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। वर्तमान में नयी अवस्था से उपजे, पुरानी अवस्था जाए और वस्तुरूप से ध्रुव कायम रहे—इन तीनों अंशोरूप पूरा आत्मा कहा जाता है। उस आत्मा के उत्पाद-व्यय की पर्याय जो ज्ञान की है—जानने की, उसमें अनेक दूसरा ज्ञात हो—दूसरा ज्ञात हो, उसमें आवे नहीं। ज्ञान की दशा में दूसरा आता नहीं। राग आता नहीं, द्वेष आता नहीं, दया के परिणाम ज्ञान में नहीं आते। शरीर की क्रिया होती है, वह ज्ञान में नहीं आती। क्रिया नहीं आती परन्तु वह है, उसका ज्ञान यहाँ आता है। उस ज्ञान की पर्याय को माने। अनेकरूप जो ज्ञान वर्तमान परिणमे, उतने को माने और पूरी चीज़ को न माने तो उसका लक्ष्य द्रव्य पर नहीं जाता, तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया ? छोटाभाई! यह तो मस्तिष्क को फैलाये ऐसी यह बात है। आहाहा! यह बात ऐसी हो पड़ी है अभी कि लोगों को कुछ ज्ञान नहीं होता और बाहर से मान बैठे कि हम यह करते हैं, यह करते हैं। जाओ! तावकाणी... ठाणेण... अप्पाणं... जाओ! आत्मा को छोड़ दिया पूरा। आत्मा कौन है, कैसा है, इसकी खबर नहीं होती।

यहाँ तो भगवान् परमात्मा त्रिलोकनाथ कहते हैं, भाई! हम तो तेरी शाश्वत् की चीज़,

वस्तु और उसकी अवस्था—उसकी अवस्था, हों! दूसरी अवस्था से माने (कि) हम शरीर की क्रिया करते हैं तो धर्म होता है, वह तो महामूढ़ मिथ्यादृष्टि है। ऐ... मनसुखभाई! आहाहा! कहो, यह भगवान की पूजा-बूजा की ऐसे-ऐसे हाथ और क्रिया होती है न, वह जड़ की क्रिया है, वह आत्मा की नहीं। उस समय जरा भक्ति का शुभभाव हो, वह पुण्य है, वह धर्म नहीं। होता अवश्य है, परन्तु धर्म नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि वह शुभभाव होता है, उसका यहाँ ज्ञान होता है और ज्ञान की दशा में अनेकपने का ज्ञान अनेक चीज़ का होता है। उस अनेकपने के ज्ञान को ही अकेली दशा को माने, पूरी चीज़ को न माने तो उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर गयी नहीं, इसलिए मिथ्यादृष्टि है, परन्तु समकितदृष्टि नहीं। यहाँ उससे दूसरा है कि वस्तु को माने कि त्रिकाल एक मैं आत्मा हूँ, त्रिकाल एक आत्मा हूँ, एकरूप हूँ, परन्तु उसकी ज्ञान की दशा में यह रागादि का ज्ञान हो—अनेकपने का ज्ञान (हो), वह अनेकपना इसे लगे कि अनेक हूँ। अनेक को धो डालो। क्या कहा ?

दर्पण है न, दर्पण ? उसमें सामने आम या जामुन पड़े हों। ऐसे दर्पण में ऐसी चीज़ दिखे न! वह चीज़ उसमें नहीं है, हों! वह चीज़ तो यहाँ है, वहाँ तो दर्पण की स्वच्छता है। दर्पण की स्वच्छता में यह काला और पीला दिखता है, वह दर्पण की दशा है, वह दर्पण की दशा है। उसे कोई धो डालना चाहे तो दर्पण ही धुल जाता है। समझ में आया ?

इसी प्रकार भगवान चैतन्यदर्पण आत्मा है। चैतन्यबिम्ब भगवान। उसकी वर्तमान ज्ञानदशा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप का ज्ञान, ज्ञान में ज्ञात हो। उस ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होने से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह और क्या ज्ञात हुआ ? यह सब क्या ? निकाल डालो पर्याय में से। वह अपनी ज्ञानपर्याय में दूसरा ज्ञात हो, उसे निकाल डालना चाहने पर उस ज्ञान की दशा का नाश कर डालता है। भारी बात! ऐ... रतिभाई! इस बार दूसरा प्रकार है, हों! हर समय सुनने आते हैं उसकी अपेक्षा। कभी निवृत्त हो दो-चार महीने मुश्किल से, उसमें कोई दो-चार दिन सुने। कहाँ गये कनुभाई ? गये ? गया होगा। एकदम दुकान से मुश्किल से आये हैं, वहाँ क्या करे ? कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा!

कहते हैं, भाई! जो कोई वस्तु को माने। उस वस्तु की उसे तो खबर नहीं। यह तो एक वस्तु को यहाँ जानने में आया और उसे ख्याल (हुआ कि) यह एक चीज़ आत्मा अनादि-अनन्त है। वस्तु... वस्तु... वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड, परन्तु उसकी दशा में—ज्ञानदशा में—



जानने में दूसरी चीज़ ज्ञात होती है न! अज्ञानी को ऐसा लगता है यह क्या? यह कैसे ज्ञात हुआ? परन्तु वह तो जानने की दशा का स्वभाव है। स्वभाव है तो दूसरी चीज़ उसमें ज्ञात हो, परन्तु दूसरी ज्ञात होने पर अज्ञानी को ऐसा होता है... अर र! यह क्या? निकाल डालो इसे। यह परसम्बन्धी का अपनी ज्ञान की दशा का भाव निकाल डालना चाहता है। क्योंकि वह एकरूप रहना चाहता है, परन्तु ज्ञान की पर्याय में अनेक ज्ञात हो, ऐसा तो पर्याय का स्वभाव है। समझ में आया? नेमिदासभाई! क्या कहते हैं यह? यह तो सिर घूम जाता है। इसकी अपेक्षा तो एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय... तस्स मिच्छामि दुक्कडम। लो! कुछ रटने का, कुछ सीखने का है कोई? मर गया पचास-सौ-सौ वर्ष या अनन्त भव करके। तस्स मिच्छामि दुक्कडम। जाओ! हो गया धर्म। धूल में भी (धर्म) नहीं। सुन न अब। वाणी किसकी? यह मिच्छामि दुक्कडम किसका करते हो? कौन सी दशा? वह दशा कौन सी थी? कहाँ से टलती है? कहाँ से आती है? इसकी तुझे खबर बिना किसका मिच्छामि दुक्कडम? भगवानभाई! बराबर है? पिचहत्तर वर्ष तक यह सब सुना है न!

यहाँ कहते हैं, भगवान! एक बार सुन तो सही, प्रभु! तेरी प्रभुता के दो अंश हैं। एक तो त्रिकाली वस्तु और एक वर्तमान ज्ञान की अवस्था का परिणमना-होना। वर्तमान दशा का होना एक अंश है। उस अंश में अनेक ज्ञात हो, ऐसा तेरा स्वभाव है—अनेक ज्ञात हो। दर्पण में विष्टा ज्ञात हो (झलके) तो कहीं विष्टा वहाँ घुस गयी है? वहाँ सूंघे तो? विष्टा है वहाँ? विष्टा तो विष्टा में है। इसी प्रकार ज्ञान की दशा में राग, द्वेष, पुण्य, पाप हों, वे ज्ञात हों। यह राग है, ऐसा ज्ञात हो। वह ज्ञात होने पर भी जानने की दशा अनेकपने को जाने। वह अनेकपना जानना दोष नहीं है। क्या कहा? रागादि का ज्ञान हो, वह दोष नहीं है। वह तो ज्ञान की वर्तमान दशा का स्वभाव है, परन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे! यह कैसे ज्ञात होता है? अर र! यह कैसे ज्ञात होता है? इसलिए जानना छोड़ दूँ। ऐसे जानना छोड़ देने से उसकी ज्ञान की दशा का नाश हो जाता है। उसे पर्याय में अनेक(रूप) होने का ज्ञान स्वभाव है, उसकी श्रद्धा की इसे खबर नहीं है। समझ में आया? भाई! पहले से कहा था कि यह बात सूक्ष्म है। यह तो तुमने कभी जिन्दगी (में सुनी नहीं होगी), बाप के बाप ने नहीं सुनी होगी। थी कब? बड़ा फेरफार... फेरफार... ऐ... रतिभाई! इसका पिता तो और वह था। विठो... विठल... विठोबा। हैरान हो गया विठोबा-विठोबा करके। विठोबा कैसा? यहाँ तो परमेश्वर सर्वज्ञ ने कहे हुए आत्मा की बात है। विठोबा कौन? दूसरा कोई परमेश्वर कर्ता-फर्ता है नहीं, तीन काल में, तीन लोक में। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, ज्ञेयाकार परिणतिरूप ज्ञान की पर्याय नहीं मानता है,... इस ज्ञान में अनेक ज्ञात होते हैं। उस रूप हूँ, ऐसा नहीं, परन्तु वह अनेकपना जाना, वह अनेक कैसे ? अनेक कैसे ? समझ में आया ? वह अनेकपना ज्ञान में ज्ञात होता है, उसे निकाल डालूँ तो एक तो होऊँ, अकेला होऊँ। ऐसा माननेवाला ज्ञान की वर्तमान दशा में अनेक जानने की स्वभाव की दशा को नहीं मानता। छोटाभाई ! यह वस्तु। इसमें चौदह श्लोक तो सूक्ष्म में सूक्ष्म वीतराग के पेट के हैं। आहाहा ! यह स्याद्वाद कहा है। स्याद्—अपेक्षा से, वाद अर्थात् कहना।

जो वस्तु त्रिकाल तत्त्व है, उसे त्रिकालरूप जानना और वर्तमान अवस्था जो है, उस अनेकरूप अवस्था को अनेकरूप जानना, वस्तु को एकरूप जानना। इस प्रकार जिसका ज्ञान यथार्थ हो, उसे सम्यग्दर्शन होकर आत्मा का अनुभव होता है। समझ में आया ? यहाँ तो यह बात की है कि ज्ञान की दशा है, उसमें अनेक ज्ञात होते हैं। वह चीज़ यहाँ आती नहीं। इस चैतन्य के प्रकाश की पर्याय का—अवस्था का स्वभाव है कि अनेक को जाने। वह अनेकपना जो ज्ञान में आता है, अज्ञानी को वह अनेकपना रुचता नहीं। अनेक हो गया, अनेक हो गया, अनेक हो गया। इसलिए मुझे एक होना है, मुझे एक होना है, निर्विकल्प होना है, परन्तु उस ज्ञान की पर्याय में अनेकपना, वह निर्विकल्प ही पर्याय है। उसमें पर की वस्तु नहीं है। समझ में आया ? ऐ... जुगराजजी ! भारी बातें। यह याद रहे ऐसी वस्तु है। वह मर गया कर-करके मुफ्त का। आहाहा !

यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर जीवतत्त्व की व्याख्या करते हैं। अजीव, पुण्य, पाप वे तो बाहर रह गये, वे कहीं आत्मा में घुस नहीं गये। यह वाणी, शरीर, यह तो मिट्टी-जड़ है, ये कहीं आत्मा में घुसे नहीं हैं। अब आत्मा की एक समय की पर्याय में राग-द्वेष, पुण्य-पाप भी घुस नहीं गये हैं। आहाहा ! मात्र एक समय की दशा में वह अनेकपना जो है, उसका यहाँ ज्ञान होता है। उस ज्ञान के अस्तित्व की पर्याय अनेकरूप होना, वह तो आत्मा का स्वभाव है। ऐसे अनेकपने की पर्याय को न मानकर, अकेला ज्ञान हो जाऊँ और यह सब इसमें से निकाल डालूँ। जैसे राग, द्वेष, पुण्य, पाप, शरीर मेरा नहीं, ऐसे निकाल डाला। शरीर मेरा नहीं, कर्म मेरे नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प उठें, वे मेरे नहीं, यह निकाल डाला, परन्तु इन सम्बन्धी का ज्ञान यहाँ होता है, उसे निकाल डालना चाहता है, वह पर्याय को नहीं समझता। बराबर है ? आहाहा ! यह क्या परन्तु बात ऐसी कैसी होगी ?

यह कहते हैं, देखो ! क्या कहा ? ज्ञान को निर्विकल्प वस्तुमात्र मानता है... २२४

पृष्ठ की पहली लाईन। यह तो भगवान के घर के महामन्त्र हैं। यह कहीं एकदम पुस्तकें सीख जाने की नहीं हैं। एक लाईन में क्या कहा? पहली लाईन—२२४ (पृष्ठ)। ज्ञान अर्थात् आत्मा वस्तु त्रिकाली। उसे निर्विकल्प अर्थात् एकरूप—एकरूप, निर्विकल्प अर्थात् अभेद वस्तुमात्र मानता है। अज्ञानी एकरूप त्रिकाल है, उसे मानता है। ज्ञेयाकार परिणतिरूप... परन्तु जो ज्ञान की वर्तमान दशा में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, शरीर की क्रियाएँ, उनरूप ज्ञान जाननारूप परिणमता है, जाननेरूप होती है ज्ञान की अवस्था, उसे नहीं मानता। ऐसा इसका अर्थ है। इतने में से ऐसा इसका अर्थ है। शुकनचन्दजी! बहुत सूक्ष्म निकाला। बहुत सूक्ष्म निकाला। आहाहा!

अरे! भाई! तेरी मर्यादा में तू है, उसके दो अंश की वास्तविक श्रद्धा-ज्ञान न हो, तब तक सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? और सम्यग्दर्शन बिना धर्म-बर्म तीन काल में नहीं होता। व्रत और तप करके मर जाए। वे सब बालतप और बातव्रत हैं। समझ में आया?

इसलिए ज्ञेयवस्तु को जानते हुए... दूसरी लाईन। इस जानने की ज्ञानदशा में दूसरा जो ज्ञात होता है, उसे जानते हुए ज्ञान का अशुद्धपना मानता है। देखो! क्या कहा? इस जानने की दशा में अनेकपना ज्ञात होता है, वह ज्ञान की अशुद्धता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे पर्याय की निर्मलता में दूसरा ज्ञात हो, ऐसा मेरा ज्ञानधर्म है, पर्याय का स्वभाव है, ऐसी उसे खबर नहीं है। आहाहा! इससे कहीं दूसरा सस्ता मार्ग होगा कोई? बापू! परन्तु जैसा हो, वैसा सस्ता हो या न हो, वह सस्ता होगा? आहाहा!

कहते हैं, ज्ञेयवस्तु को जानते हुए... भगवान आत्मा वस्तुरूप से तो कायम रहनेवाला पदार्थ अनादि-अनन्त स्वयं है, परन्तु उसकी ज्ञान की वर्तमान दशा में जो वस्तु अपनी पर्याय में ज्ञात हो, उसे जानने पर अज्ञानी अशुद्धपना मानता है। यह मेरी अशुद्धता मुझे हो गयी। परवस्तु, राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे नहीं, शरीर मेरा नहीं। यहाँ तक तो उसकी बात बराबर है, परन्तु राग-द्वेष और शरीर का यहाँ आत्मा में—अपनी दशा में ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में अनेकपना ज्ञात हुआ, उस अनेकपने को निकाल डालना चाहता है। वह जैसे निकल जाए, वह तो निकली हुई चीज़ ही अलग है। समझ में आया?

भगवान चैतन्यसूर्य चैतन्य के प्रकाश का बिम्ब भगवान पूरा आत्मा है। उसकी एक समय की वर्तमान दशा में जो अनेकपने ज्ञात हो, ज्ञान में अनेकपना हो, वह पर्याय का धर्म है। दूसरा निकाल डालने पर अब मुझे आत्मारूप होना है। इसलिए शरीर मैं नहीं, वाणी मैं नहीं,

कर्म मैं नहीं, यह पुण्य-पाप के भाव मैं नहीं। यहाँ तक तो उसकी बात बराबर है, परन्तु ये पुण्य-पाप के भाव और शरीरादि का यहाँ ज्ञान हो, वह तो उसका स्वभाव है। दर्पण की स्वच्छ अवस्था में काले कोयले और बिच्छु पड़ा हो तो ज्ञात होता है वह दर्पण की अवस्था है। समझ में आया ? दर्पण में से दूसरा निकाल डाले कि यह ऊपर पड़ा है, इसे निकाल डालो, मैल है, इसे निकाल डालो। अमुक ऊपर है, उसे निकाल डालो; परन्तु दर्पण में यह वस्तु दिखती है, वह वस्तु उसमें नहीं है, वह तो दर्पण की स्वच्छता है। उसे निकाल डालना चाहे तो दर्पण की दशा को समझता नहीं। समझ में आया ? यह पुस्तक है या नहीं वहाँ घर में, दुकान में ? पड़ी रखी है या पढ़ी है कभी ? पढ़ते हैं। पढ़ा, इतना तो कहा। समझे, न समझे (यह) बाद की बात। आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा... परमात्मा तो ऐसा बोलते हैं कि हे भगवान आत्मा ! क्योंकि वस्तु भगवान स्वरूप है या नहीं ? उसमें अन्दर परमात्मशक्ति न पड़ी हो तो बाहर से कहाँ से आयेगी ? सवेरे कहा था, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य भगवान को जो प्रगट होता है, वह कहाँ से आया ? बाहर लटकता है तो आवे ? अन्दर में आत्मा में पड़ा है। यह दृष्टान्त नहीं दिया था सवेरे ? पीपर का दृष्टान्त दिया था या नहीं ? पीपर... पीपर। लींडीपीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट पड़ी है या नहीं ? पड़ी है या नहीं ? घूंटते हैं, तब कहाँ से आती है ? पत्थर में से आती है ? पाँच पहरी, पच्चीस पहरी, पचास पहरी, चौंसठ पहरी कहाँ से आयी ? अन्दर में पड़ी है, उसमें से आती है परन्तु उसे खबर कब है ? घिसने से आवे तो कंकर और कोयला घिस डाले। धूल में से आयेगी ? वहाँ कहाँ अन्दर में थी !

इस पीपर के दाने-दाने में जैसे चौंसठ पहरी चरपराहट अर्थात् पूरी। चौंसठ अर्थात् रुपया। पूरा-पूरा। अब सौ पैसे का रुपया (हुआ), पहले अपने चौंसठ चलता था न ! चौंसठ पैसे का रुपया कहो, सोलह आना कहो, पूर्ण कहो या रुपया कहो। चारों बोल एक है। एक पीपर में पूरा-पूरा चरपरा रस शक्तिरूप पड़ा है और हरा रंग भी पूरा-पूरा पड़ा है, इसी तरह कोमलता भी पूरी-पूरी अन्दर पड़ी है। बाहर तो कड़काई है न ? क्या कहलाता है वह ? कर्कर। दाना-दाना जरा बारीक-बारीक होवे न ! अन्दर कोमलता पूरी पड़ी है, हरा रंग पूरा पड़ा है, चरपरा पूरा पड़ा है। समझ में आया ? तीन हो गये। चौथा खोजे, परन्तु हाथ आना चाहिए न अन्दर से !

इसी प्रकार भगवान आत्मा के अन्दर में—शक्ति में; वर्तमान अवस्था तो एक समय की

दशा है, परन्तु अन्दर में अनन्त ज्ञानरूपी चौंसठ पहरी शक्ति पड़ी है, अनन्त आनन्दरूपी चौंसठ पहरी शक्ति पड़ी है, अनन्त वीर्यरूपी चौंसठ शक्ति पड़ी है और ज्ञान के साथ दर्शन भी चौंसठ पहरा पड़ा है। अरे भगवान! कौन जाने यह तत्त्व क्या है, इसका कभी विचार किया (नहीं)। सुना हो, तब विचार किया हो न! मुश्किल से अवसर आया तब बन्द कर दूँ। नहीं, सुनना नहीं, भाई! वहाँ सुनने जाओगे तो मर जाओगा। ऐ! मगनभाई! बात तो सत्य है। अरे! भगवान! ठेठ से चलता है न! अरे! भगवान! बापू! तेरी बात प्रभु कहते हैं, वह तुझे सम्प्रदाय में कहीं नहीं है, वाड़ा में कहीं नहीं है। तुझे क्या खबर पड़े, यह क्या वस्तु है। आहाहा! कहते हैं कि भाई! तुझे धर्म करना है न? आहाहा! किसमें? वह धर्म क्या होगा? खबर है इसे? पर्याय होगी या द्रव्य होगा? भगवान जाने, किसे क्या खबर? यहाँ द्रव्य और पर्याय दो बातें ली हैं।

**श्रोता :** द्रव्य की तो खबर पड़े।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** द्रव्य अर्थात् क्या खबर पड़े? पैसे की? एक व्यक्ति को मैंने पूछा था, बहुत वर्ष पहले। सुन्दर वीरा के उपाश्रय में एक साधु इकट्ठे हुए थे। मोहनलालजी। मैंने कहा, तुम त्रस हो या स्थावर? वे कहें, गुरु ने सिखाया नहीं। कहा, देखो! अन्ध चला है। उसमें पर्याय है यह पर्याय शब्द कितनों ने सुना नहीं होगा। जो वीतरागमार्ग का मूल एकड़ा है।

त्रिकाल रहनेवाला तत्त्व और उसकी अवस्था क्षण-क्षण में होती है, उसे पर्याय कहते हैं। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्, यह तो वीतराग के घर का महा सिद्धान्त है। अब वे सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जो अवस्था पलटती है, ऐसे आत्मा त्रिकाल रहनेवाला, उसकी ज्ञान अवस्था पलटती है। वह पर्याय पलटे, उसे पर्याय कहा जाता है; कायम रहे, उसे द्रव्य कहा जाता है। अब यहाँ शुभ-अशुभराग, कर्म, शरीर, वाणी, मन तो इसकी पर्याय में भी नहीं है। द्रव्य में तो नहीं, द्रव्य में तो अनन्त चतुष्टय है। क्या कहा? द्रव्य में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, बेहद शक्ति—आनन्द आदि वस्तु में पड़ी है, ऐसे त्रिकाल अनादि-अनन्त। उसकी एक समय की पर्याय में क्या है? यहाँ जानने की ताकतवाली दशा है। एक समय की पर्याय जितनी। यहाँ तो पूर्ण जानने का, पूर्ण देखने का, आनन्दरूप वस्तु त्रिकाल आत्मा है कि जिसमें से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, वीर्य उसमें से प्रगट होता है परन्तु उसकी वर्तमान दशा में जो ज्ञान की वर्तमान पर्याय—मतिज्ञान आदि एक समय की पर्याय कहते हैं... समझ में आया? अभी तो एक समय की पर्याय लेना। यहाँ तो वापस मति आदि के सब भेद हैं न, उस भेद को भेदरूप से न माने और उनका एकपना (एक ही माने), ऐसी पर्याय होने पर भी ज्ञान की पर्याय एकरूप है।

यहाँ तो एक समय में अनेकपना जो जानने का भाव है, इतना उस पर्याय का स्वभाव है। रागादि, पुण्य आदि, शरीर आदि इसका स्वरूप नहीं है, इसका धर्म नहीं है, इसमें वे नहीं हैं, परन्तु उन सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान होता है, ज्ञान में ज्ञात होता है कि यह राग है, दया है, पुण्य है यह भाव, यह जानने की पर्याय में अनेकपने का ज्ञान (हो), उतना आत्मा का वर्तमान पर्याय का स्वभाव है। परन्तु वह अज्ञानी इतनी पर्याय में अनेकपना है, ऐसा न मानकर, एकपना करना चाहता है कि यह सब ज्ञात होता है न, इसमें से निकाल डालूँ। निकाल डालूँ तो अकेला मेरा ज्ञान स्पष्ट रहे। यह उसकी मान्यता अत्यन्त मूढ़ की है। यह तो सादी भाषा में बात चलती है, बहुत गहरे से नहीं चलती। यह सब बैठे हैं।

**श्रोता :** कल की अपेक्षा दूसरे प्रकार से है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कल की अपेक्षा दूसरे प्रकार से है। परन्तु यह सब आये हैं तो यह क्या कहते हैं, इतना ख्याल न आवे तो वह लगावे अकेला तो क्या करे ? कल तो दूसरी सूक्ष्म बात की थी। समझ में आया ? आहा !

अरे ! भगवान ! तेरी चैतन्यशक्ति ! कहते हैं कि उस पूर्ण शक्ति की तो क्या बात करना ! परन्तु तेरी एक समय की एक ज्ञान की वर्तमान अवस्था का स्वभाव अनेक को जाननेरूप है, अनेक को अपने करनेरूप नहीं। इसलिए और दो बोल हुए। इस ज्ञान की वर्तमान अवस्था को जड़ आदि अनेक की क्रिया करे, ऐसा धर्म नहीं और इन अनेक वस्तु को पर्याय में, अपनी माने, ऐसा इसका धर्म नहीं। मात्र इसका पर्याय का स्वभाव अनेक है, उसे अनेकरूप से ज्ञान की दशा में जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। इतना ज्ञान का अनेकपने का स्वरूप न मानकर, अकेला ऐसे रह जाऊँ, उसे निकाल डालूँ, कहते हैं। तो कहते हैं कि वह अनेकपना इसका ज्ञान में जानने का स्वभाव है, उसे धो डालना चाहता है तो उसकी ज्ञानदशा धुल जाती है। समझ में आया ? भारी बात ! इसकी अपेक्षा तो ऐसा कहे कि यह कन्दमूल न खाना। ऐसा कुछ है ? ऐई.. !

यहाँ कहते हैं, मिथ्यात्व के बड़े भसरडे हो। सुन न ! मिथ्यात्व के खां हो। अनन्त जीव को मार डालने का भाव मिथ्यात्व का है। उस मिथ्यात्व को तू अन्दर में भरडे हो, घोंटते हो। क्या ?—कि ज्ञान की एक समय की दशा में अनन्त चीजों पर हैं, उन्हें मैं कर सकता हूँ, यह मानता है वह मिथ्यात्व को घोंटता है। अनन्त जीवों को मार डालने के मिथ्यात्वभाव को घोंटता है। अपने चैतन्य के जीवन की शक्ति की उसे खबर नहीं है। समझ में आया ? आहाहा ! प्रभु

कहते हैं, देख तो सही, भाई! अरे! तेरी बात तू सुन, बापू! तूने तेरी बात सुनी नहीं, भाई! तू कितना बड़ा द्रव्य और कितनी तेरी एक समय की दशा पर से पृथक्! यह क्या है, वह बात तूने सुनी नहीं, भाई! और सुने बिना तुझे उसकी पहिचान तथा श्रद्धा कहाँ से होगी? और पहिचान तथा श्रद्धा बिना तुझे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? और सम्यग्दर्शन बिना चारित्र-फारित्र हो नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया?

**श्रोता :** महा कठिनता से यहाँ सुनने आये...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सुनते हैं न। इसलिए आये भी न! यह कहते हैं ऐइ... जयन्तीभाई! परन्तु आये हैं या नहीं? परन्तु आये या नहीं? यह तो अन्दर बैठे थे। आये तो सही। कुछ कहते हैं तो सुनेंगे। कुछ दूसरा कहते हैं। यहाँ काका कितने वर्ष से ऐसे के ऐसे बैठे हैं। बनिया है या नहीं? कुछ तौलेगा या नहीं? तुलना करेगा या नहीं? ऐसा का ऐसे पागलपने कहीं यह बात नहीं है। धीरुभाई! आहाहा!

भाई! सर्वज्ञ परमात्मा... देखो! २५ मिथ्यात्व में आता है या नहीं? कि अजीव को जीव माने, वह मिथ्यात्व। आता है? अधर्म को धर्म माने तो मिथ्यात्व। आता है? अब इसका अर्थ अपन करते हैं कि यह शरीर, वाणी, मन, कर्म है, वह अजीव है। यह उनकी हालत होती है, वह भी अजीव है। वह मुझसे होती है यह अजीव को जीव माना, यह मिथ्यादृष्टि है। ऐ... नेमिदासभाई! यह सब सेठिया रहे, देखो न! ये सब सेठिया बड़े सिरवाले थे। कलकत्ता के स्थानकवासी के प्रमुख। यह सब प्रमुख थे। यह सब बड़े प्रमुख। देखो! 'वडिया' के। वडिया? 'वडा.. वडा।' भूधर जेचंद न्यालचंद। उपाश्रय के अग्रेसर सामने। बापू! सुनो! बापू! भाई! तुझे परमात्मा परमेश्वर ने तत्त्व कहा है, वह जानना है या तेरे आग्रह की मानी हुई बातें अनादि की, वे जाननी हैं? यह तो तू कर रहा है।

यहाँ तो क्या कहना है? सुनो! अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व और जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व। यह तो आता है या नहीं? अब इसकी व्याख्या क्या? यह तो शब्द हुए। अजीव अर्थात् शरीर, कर्म, वाणी यह सब अजीव है। इस अजीव का कोई भी अंश पर्याय का जो है, वह मुझसे होता है, ऐसा माने तो अजीव को जीव माना। समझ में आया? अब अधर्म को धर्म माने। आत्मा की दशा में पुण्य-पाप के विकल्प और भाव होते हैं, वह विकार है। वह विकार मेरा धर्म है, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो अभी इससे तीसरी बात लेनी है। ऐ... रतिभाई!

यह तो वीतराग के घर में ही यह होता है। वीतराग के अतिरिक्त अन्यमति में तीन काल-तीन लोक में यह वीतराग कथित ऐसा मार्ग अन्यत्र हो नहीं सकता। सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे हैं। ऐसे परमेश्वर अरिहन्त देव अनन्त हुए। वर्तमान में बीस तीर्थकर विराजते हैं। लाखों केवली प्रभु परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान मौजूद है। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सर्वज्ञ। आज थोड़ा लेख आया है। भाई! अभी पढ़ा न वह सर्वज्ञ का। सन्मति सन्देश। थोड़ा पीछे से बाकी रहा। थोड़ा पढ़ा। यह सब देखो। सर्वज्ञ जो पहले हैं, उन्हें तो तुम पहिचानते नहीं और तुम धर्म (मान बैठे)।

सर्वज्ञ पूरे धर्म का आधार है और सर्वज्ञ हैं वे तीन काल को जानते हैं। सर्वज्ञ कहाँ यहाँ आये? सर्वज्ञ अर्थात्? सर्व—ज्ञ। तीन काल—अनन्त पदार्थों की जो अवस्था हो गयी, जो होती है और होगी (वे) तीन काल भगवान जानते हैं और तीन काल जाने ऐसा यदि निर्णय करने जाए तो जो द्रव्य की पर्याय समय-समय में होनेवाली है, वह क्रम-क्रम से होनी है, ऐसा होने पर सर्वज्ञ में तुम्हें क्रमबद्ध को उड़ाना है, इसलिए सर्वज्ञ को उड़ाओ। बेचारे ने ठीक लिखा है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान! प्रभु! एकबार सुन तो सही, बापू! ऐसा मनुष्यदेह मिला। अनन्त काल में मुश्किल से पाँच-पचास वर्ष, साठ वर्ष (मिले)। फू... होकर चला जाएगा। अनन्त काल से भटकता इसमें। उसमें यह वीतराग ने कहा हुआ ऐसा आत्मा, वीतराग ने कहे हुए जड़ और चैतन्य दो भिन्न, और पुण्य-पाप के भाव तथा आत्मा की धर्मपर्याय भिन्न। समझ में आया? ऐसा जानने में, मानने में, पहिचानने में नहीं आया (तो) वह सब उसका व्यर्थ अवतार है। रतिभाई!

**श्रोता :** जैन तो है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जैन कहाँ था? कौन जैन कहते हैं? ऐ... न्यालभाई! यह सेठिया है न वहाँ का।

जैन अर्थात् क्या? जैन अर्थात् जीतना। जीतने में दो प्रकार आये। एक कायम रहनेवाली चीज़, वह अज्ञान, राग को जीतकर वीतरागरूप हो, उसे जैन कहा जाता है। द्रव्य और पर्याय दो माने तो जैन कहलाये, परन्तु वह इस प्रकार से माने (तो)। समझ में आया? जैन अर्थात् कहीं सम्प्रदाय है? वह तो वस्तु का स्वरूप है। जैसा वीतराग ने वस्तु का स्वभाव देखा, वैसा कहा, वैसा जाना, वैसा है। कहीं भगवान वाडा नहीं यह जैन का। वस्तु स्वभाव ऐसा है



अनादि-अनन्त आत्माओं का, अनन्त... यह भगवान के ज्ञान में देखा। और देखा कि जीते। इसलिए तेरा भगवान आत्मा अनन्त गुणसम्पन्न, अनन्त चतुष्टय सम्पन्न है। तेरी पर्याय में- अवस्था में राग-द्वेष आदि, पर आदि हो वह तेरी चीज़ नहीं, पुण्य-पाप आदि तेरी (चीज़) नहीं, परवस्तु तेरी नहीं। इतना नहीं परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान हो, उतनी पर्याय जितना भी तू नहीं है। क्या कहा ?

शरीर, वाणी, मन तो नहीं, पुण्य-पाप के भाव तो नहीं और एक समय के ज्ञान की दशा में यह सब ज्ञात हो, ऐसी अपनी ज्ञानपर्याय, इतना भी तू पूरा नहीं। पूरा तो अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य है, वह पूरा है। ऐसे आत्मा की दृष्टि करके राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे नहीं और इसके (स्वयं के) स्वभावसन्मुख ढले और सम्यग्दर्शन करे, उसे जैन कहा जाता है। जैन क्या कोई वाडा बाँधा है ? कोथली में भरा हो चिरायता और ऊपर लिखा मिश्री। चिरायता मिश्री हो जाता होगा ? चालीस रुपये का मण। लिखो न, कौन इनकार करता है। भरा है अन्दर चिरायता। इसी प्रकार अन्दर मिथ्यात्व के जहर भरे हों और ऊपर लिखे—हम जैन हैं। कहाँ से जैन हो जाता था ? ऐसा होगा ? ऐई! सेठ! क्या होगा ? ऐसा है ? आहाहा!

अरे! भगवान! कहते हैं कि तेरी दशा के अंश में और अंशी त्रिकाल अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें यह पर को इतना... इतना... इतना मानने जाए, कहते हैं उसकी तो बात छोड़ दे, परन्तु तेरे ज्ञान की पर्याय में अनेकपने का ज्ञान होता है, वह तो तेरा स्वरूप है। इतना पर्याय का स्वरूप, हों! इतने पर्याय को भी माने परन्तु त्रिकाली को न माने तो मिथ्यादृष्टि है और त्रिकाली को माने, तो माने ऐसा जहाँ आया, वह मानने की पर्याय तो ज्ञान की वर्तमान हुई है। उस पर्याय में तो अनेकपने का ज्ञान होता है। उस ज्ञान की पर्याय को अनेकपने हो, उसे इतने को न माने और पूरे द्रव्य को माने, तो भी वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? ऐ... नटुभाई! पढ़ा है न सम्यग्दर्शन ? आहाहा! अरे! यह समझने जैसा है। हसमुख! वहाँ कमा-कमाकर पूरा मजदूर है पूरे दिन ? मजदूर होगा या क्या होगा ? बड़ा मजदूर है। सेठ कौन कहता था ? वे सब मजदूर हों, वे इसे सेठ कहे। छोटा मजदूर बड़े मजदूर को सेठ कहे। सेठ अर्थात् श्रेष्ठ। मजदूरी करने में श्रेष्ठ। राग-द्वेष करने में बड़ा।

यहाँ तो भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं... आहाहा! यह तो तुम्हारे प्रमाण में बात आयी है आज, हों! कहते हैं, 'पशु ज्ञानं न इच्छति' शब्द तो अब आयेगा। यह तो अभी उपोद्घात चलता है। आहाहा! भाई! आहा! अरे! प्रभु! तेरी चैतन्य रत्नाकर शक्ति, तत्त्व, अरे!

उसे तू न माने और यह शरीर, वाणी अपना माने, उसकी बात तो छोड़ दे, परन्तु पूरी चीज़ को न माने और एक समय की अवस्था को माने तो भी अज्ञान है, मिथ्यात्व है। इस एक समय की अवस्था में अनेकपना है, उसे न माने, अकेला आत्मा करना चाहे तो वह तेरी दृष्टि में मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया ?

इसलिए ज्ञेय वस्तु को जानते हुए ज्ञान का अशुद्धपना मानता है। उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञान का द्रव्यरूप एक पर्यायरूप अनेक ऐसा स्वभाव साधता है। इतना तो अभी उपोद्घात किया है। श्लोक में हमारे क्या कहना है, इसकी बात की है। इस श्लोक में हमारे अब ऐसा कहना है। वस्तुरूप से भगवान आत्मा वस्तुरूप से एक है। यह रजकण, शरीर, कर्म आदि से भिन्न और पर्यायरूप से अनेक। ज्ञान की दशा में अनेकपना लोक का ज्ञात हो इतना, हों! ज्ञात हो इतना। मेरापना नहीं, मात्र ज्ञात हो इतना। यह अनेकपना पर्याय का धर्म है, उसे ऐसा जानना चाहिए। वस्तु एकरूप है, उसे एकरूप जानना चाहिए। ऐसा न जानकर अकेले द्रव्य को एकरूप जाने और पर्याय में अनेकपना है, उसे निकाल डालना चाहे— अनेकपने का ज्ञान निकाल डालना चाहे; वस्तु निकाल डालना चाहे अलग बात है। राग-द्वेष, शरीर, वाणी वह तो निकाल डाली हुई चीज़ इसमें है ही नहीं, परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान निकाल डालना चाहे तो मूढ़ है। आहा! ऐसा कहते है।

‘पशुः ज्ञानं न इच्छति’ अब शब्द शुरु होते हैं। अरे पशु! आचार्य महाराज ने तो पशु कहा है। अरे पशु! पश्यते बध्यते इति कर्म इति पशु। जो अज्ञानभाव से नये अनन्त कर्म को बाँधे, उसे यहाँ अज्ञानी को पशु कहा है। फिर भले त्यागी होकर मानता हो, गृहस्थ होकर बैठा हो, करोड़ों-अरबोंपति हो, साधु होकर पंच महाव्रत की क्रिया के राग को करता हो! परन्तु उस राग की क्रिया, वह मेरा धर्म; जड़ की क्रिया मैं कर सकता हूँ और मेरे ज्ञान की पर्याय में जानने का हो, उतना उसे भिन्न पड़ता नहीं और जानने का हो उतना मैं नहीं, पूरा त्रिकाल हूँ और त्रिकाल होने पर भी ज्ञान की पर्याय में अनेक जानना, वह मेरा पर्यायधर्म है, ऐसा नहीं मानता, उसे यहाँ पशु कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? भाषा भी कठिन कही जाती है, हों! मनुष्य को उसका पिता नहीं कहता, पागल! नहीं कहता? लड़का-बड़का तूफान करे (तो कहे) मूर्ख! पागल! नहीं कहते? उसकी माँ कहती है या नहीं?

श्रोता : चतुर करने लिये कहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे चतुर करने के लिये कहती है। भाई! प्रभु! तेरी चीज़ क्या है ?

तेरी दशा की मर्यादा कितनी है ? तेरे ज्ञान की वर्तमान दशा की मर्यादा कितनी है ? और उस मर्यादा में कितना ज्ञान पर का आने पर भी उसका अनेकपना, परवस्तु उसमें आ नहीं गयी, अनेकपने का ज्ञान वह तो पर्यायस्वभाव का धर्म है। एकपने का त्रिकालपना वह द्रव्य का स्वभाव है। ऐसा न माने, वह 'पशुः ज्ञानं न इच्छति'

एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानमात्र जीववस्तु को नहीं साध सकता है... क्या कहते हैं ? अकेली ज्ञान की पर्याय अनेकपने को जाननेवाली है, उसे वह नहीं साध सकता। अनुभवगोचर नहीं कर सकता है। लो ! क्या कहते हैं ? आत्मा त्रिकाली एकरूप होने पर भी और ज्ञान की पर्याय में अनेक का जानना होने पर भी, वह ज्ञान एकरूप ही है। अनेकरूप दशा में जाननेरूप हुआ, परन्तु ज्ञान अनेकपने के पदार्थरूप नहीं हुआ। ऐसी अन्तर की दृष्टि में द्रव्य को लेकर और ज्ञान की पर्याय में अनेकपना जानने पर भी वह आत्मा के अनुभव की पर्याय दशा, वह मेरी दशा है—ऐसे आत्मा के लक्ष्य से अनुभव करे तो उसे अनुभव, सम्यग्दर्शन होता है। यह अज्ञानी अनुभवगोचर नहीं कर सकता है। पर्याय का अनेकपना जानने का निकाल डाले तो वस्तु को अनुभवगम्य नहीं कर सकता।

कैसा है ज्ञान ? ऐसा करके फिर जरा सूक्ष्म बात है। 'स्फुटं', प्रकाशरूप से प्रगट है यद्यपि। क्या कहा जरा देखो ! ज्ञान की पर्याय प्रकाशरूप प्रगट होती है। आहाहा ! वर्तमान ज्ञानदशा में उस पर का जानना होता है, वह तो ज्ञान का प्रकाश प्रगट है। अपने अस्तित्व में उस ज्ञान की पर्याय को जानना होता है, ऐसे प्रकाश के पर्याय धर्म को न जानता हुआ, अनेकपना कलंक है—ऐसा निकाल डालना चाहता है, उसे आत्मा का अनुभव और सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिए, इस प्रमाण आत्मा जैसा पूर्ण है, उसकी पर्याय में अनेकपना है, ऐसा जानकर आत्मा की दृष्टि करना, उसे अनुभव हो सकता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है। (विशेष कहेंगे....)

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

७

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२५६, प्रवचन - २५४  
दिनांक - १९-१२-१९६५

समयसार कलश। दसवाँ कलश चलता है। 'पशुः सीदति एव'। ऊपर से पहली लाईन। थोड़ा वाँचन हो गया है परन्तु इसके साथ पूरी सन्धि है न वापस। कल और हिन्दी में बहुत पढ़ा गया था न!

'पशुः सीदति एव' क्या कहते हैं? एक पक्ष दृष्टिवाला। इस देह की अवस्था के लक्ष्यवाला जीव। देह है न, देह! उसकी जो अवस्था होती है, उसके लक्ष्यवाला जीव। जिस क्षण देह की अवस्था को जानने के ज्ञान की उत्पत्ति हुई, उस क्षण में उसके ज्ञान में देह की अवस्था का अवलम्बन—निमित्त है। समझ में आया? वह देह की अवस्था जहाँ ऐसे बदल जाती है, वहाँ ज्ञान की अवस्था बदलने पर मैं कुछ चीज़ द्रव्यरूप रहता हूँ, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। क्या कहा? समझ में आया?

'पशुः' एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को साधने के लिये भ्रष्ट है। अवश्य ऐसा है। कैसा है एकान्तवादी? 'अत्यन्ततुच्छः' वस्तु के अस्तित्व के ज्ञान से अति ही शून्य है। क्यों? यह स्वकाल के अस्तित्व का श्लोक है। अर्थात् क्या?—कि आत्मा स्वयं परद्रव्य की अवस्था के जानने के काल में, उस क्षण में ज्ञान की अवस्था की उत्पत्ति होने पर भी दूसरी अवस्था ज्ञेय की पलटे, तब यह अवस्था भी पलटती है, तथापि यह पलटती है, वह पर के कारण नहीं। स्व ज्ञायक के ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसे स्व पूर्ण के अस्तित्व के कारण वह ज्ञान अवस्था बदलती है। वह स्वकाल से अस्तित्व माननेवाला सम्यग्दृष्टि जीव है। सूक्ष्म बात है। यह अनेकान्त है न? समझ में आया?

यहाँ अभी बतलाना है स्वकाल के अस्तित्वरूप आत्मा, परन्तु उसके पहले परकाल के अस्तित्वरूप आत्मा, ऐसा बताते हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप की अवस्था, इस शरीर की जीर्णता... देखो! एक दृष्टान्त मरण का देते हैं। मृत्युकाल में इस देह की अवस्थाएँ सब जीर्ण होंगी। जीर्ण होने पर अज्ञानी का लक्ष्य उस देह पर है और देह की ऐसी बहुत जीर्णता होने पर मानो ज्ञान भी गहरे-गहरे चले जाने पर... समझ में आया?

द्रव्यस्वरूप चैतन्यमूर्ति अखण्ड आनन्दकन्द की तो अस्ति की प्रतीति है नहीं। इसलिए इस देह के अवयवों के शिथिलपन के काल में जिस ज्ञान अवस्था से उस क्षण उसकी उत्पत्ति जो सामने की पर्याय है, उसी क्षण अपनी ज्ञान की अवस्था की उत्पत्ति (होती है)। उसमें जो ऐसा शिथिल होने लगा तो मेरी ज्ञान पर्याय भी (शिथिल हो गयी)। वह बदला तो मैं पूरा बदल गया। वह बदलने पर मैं पूरा उसमें गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। उसके लिये तो यह दृष्टान्त है। समझ में आया? भाई ने ऐसा उतारा है। काया के ऊपर ही उतारा है। बनारसीदास ने। काया के नाश से पर्याय का—आत्मा का नाश मानता है। इस प्रकार उतारा है। स्थूल रीति से लोगों को पकड़ में आये। समझ में आया?

यह वस्तु है न भगवान आत्मा, तो एक समय में पूर्ण अनन्त ज्ञान का कन्द, ज्ञानस्वरूप ध्रुव वस्तु है। उस वस्तु की वर्तमान अवस्था में ज्ञान की अवस्था के उत्पत्ति काल में, अवस्था उत्पन्न होती है न! उस उत्पत्ति काल में देह की अवस्था की उत्पत्ति देखकर मेरी उत्पत्ति उसके कारण हुई है और उसे जाने पर मेरी पर्याय भी चली जाती है। मैं कहीं चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ, यह अज्ञानी को प्रतीति में नहीं रहता। समझ में आया?

एकान्तपक्षी अत्यन्त तुच्छ हो गया। यह सब ढीला पड़ने लगा अथवा शरीर की अवस्था जहाँ ज्ञान के लक्ष्य में, ज्ञान की वर्तमान उत्पत्ति के क्षण में यह जो देह की अवस्था लक्ष्य में थी, उस अवस्था का जहाँ बदलाव हुआ तो उस प्रकार की अपने में जो ज्ञान की उत्पत्ति अपने कारण से थी, ऐसा न मानकर, यह नाश हुआ तो मेरी पर्याय भी नाश हो गयी, परन्तु उसका परिणमनेवाला त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि अज्ञानी को अन्तर में नहीं रहती। समझ में आया? यह तो अनेकान्त है न? इसमें कोई दृष्टान्त-वृष्टान्त, न्याय दे... यह दृष्टान्त दिया। कल तो बहुत दृष्टान्त दिये थे। समझ में आया?

भगवान आत्मा... प्रतिमा का दिया था। कल तो हिन्दी था न। वह प्रतिमा परद्रव्य है, यह भी परद्रव्य है। इस परद्रव्य की वर्तमान अवस्था जो वर्तती है, उसे जानता हुआ ज्ञान वर्तमान में उस क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति उस प्रकार की अवस्था के लक्ष्य से अपनी उत्पत्ति भी ऐसी होती है। वह ज्ञेयाकार—जैसी सामने अवस्था है, वैसे ज्ञेयाकार ज्ञान का परिणमना—ज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति होती है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि वह अवस्था जहाँ पलटी, पलटी अर्थात् अवस्था यहाँ भी पलटती है, परन्तु वह पलटी, इसलिए यहाँ पलट गया। मैं एक पलटनेवाला द्रव्य ज्ञायकमूर्ति हूँ, इसलिए पलटता हूँ—ऐसा अज्ञानी को प्रतीति में नहीं बैठता। आहाहा! समझ में आया?

अपने मरते हुए भी कहा जाता है। यह बात याद थी। यह सब शिथिल पड़ता जाए न, चर्बी और शिथिल... शिथिल... ( हो जाए )। इसलिए उसको ऐसा लगे कि मेरा आत्मा गहरा उतर जाता है। गहरा उतर जाता है अर्थात् यह सब ढीला हुआ न, उसे ढीले की ओर की अवस्था का लक्ष्य है और उसमें एकत्वबुद्धि है, इसलिए वह ढीला पड़ने पर ज्ञान की अवस्था भी ढीली... ढीली... ढीली अभावरूप होती जाती है, ऐसा अज्ञानी को अन्तर श्रद्धा में भासित होता है। बीच में क्यों खाली है? नजदीक आओ, नजदीक। खाली क्यों रखा? पीछे वे लड़के खड़े हैं।

पशु अर्थात् कि आत्मा की वर्तमान पर्याय की दशा को परपर्याय से उत्पन्न हुई माननेवाला। अर्थात् यहाँ द्रव्यस्वरूप एक अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ, उसके लक्ष्य से उत्पन्न होता है अथवा उसकी हुई है, यह द्रव्य ज्ञायकमूर्ति आत्मा है, इसकी हुई यह अवस्था है, ऐसा पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्त पक्ष को देखनेवाला, त्रिकाल द्रव्य पलटता है, उसकी यह पर्याय है— ऐसा न मानकर, अवस्था को अवलम्ब कर, निमित्त के अवलम्बन से जो ज्ञान की उपादान पर्याय में जैसा निमित्त है, उस ज्ञेयाकार परिणमता ज्ञान, ज्ञेयाकार का परिवर्तन होने पर मैं भी बदल जाता हूँ, नाश हो जाता हूँ, उसे अज्ञान का लाभ—मिथ्यात्व का (लाभ) होता है। समझ में आया? उसे एकान्तदृष्टि—मिथ्यात्व कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

‘अत्यन्ततुच्छः’ अर्थात्? कि वस्तु अखण्ड ज्ञानज्योति चिदानन्द द्रव्यस्वरूप है, उसके अन्तर में दृष्टि में उसके अस्तित्व की मौजूदगी का ख्याल नहीं। त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति, त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति का ख्याल नहीं, इसलिए वर्तमान काल की ज्ञान की त्रिकाल वस्तु एकरूप है, उसका वर्तमान काल ज्ञान की पर्याय त्रिकाल वस्तु के अवलम्बन से हुई है अथवा उसका यह अंश है, ऐसा अज्ञानी न मानकर, उस त्रिकाली वस्तु का यह अंश नहीं परन्तु जिसके अवलम्बन से है, जिसका निमित्त है, उसके कारण से उत्पन्न हुई पर्याय के पलटने से मैं भी पलटकर नाश हो जाता हूँ, इसका नाम मिथ्यादृष्टि और एकान्त अज्ञानी कहा जाता है। नवनीतभाई! बहुत सूक्ष्म परन्तु भाई यह। कहो, समझ में आया इसमें?

‘अत्यन्ततुच्छः’ अर्थात्? शरीर की अवस्था के व्यय से—नाश से—अभाव से, उसके अवलम्बन से अर्थात् उसके निमित्तरूप से किया हुआ ज्ञान, किया स्वयं से, अवलम्बन वह निमित्त था, उसका ऐसे अभाव होने लगा, वहाँ ज्ञान की अवस्था, उसके कारण से थी और उसके कारण से बदली, वहाँ मेरा अभाव हो गया—ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे स्वद्रव्य त्रिकाली चैतन्य भगवान है, उसकी अस्ति की प्रतीति की खबर नहीं है। समझ में आया?

वस्तु के अस्तित्व के ज्ञान से ही शून्य है। और कैसा है? 'न किञ्चन अपि कलयन्' ज्ञेय अवस्था का जानपनामात्र ज्ञान है,... देखो! इस देह की अवस्था का बदलना होने पर उसे अवलम्ब कर निमित्तरूप हुआ ज्ञान, जहाँ देह की अवस्था बदली, ज्ञेय अवस्था के जानपने मात्र ज्ञान था। त्रिकाली ज्ञानमात्र की यह एक अवस्था थी, ऐसा न माननेवाला, ज्ञेय को जाननेमात्र अवस्था थी, उससे भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है। इतनी ही पर्यायमात्र निमित्त के अवलम्बन से अपने में हुई, निमित्त वह और उपादान यह, परन्तु उस निमित्त का अवलम्बन लक्ष्य में था इसलिए, यह बदली इसलिए मैं गया। किञ्चित् मात्र ज्ञानमात्र वस्तु रही, ऐसा अज्ञानी की श्रद्धा में नहीं आता। समझ में आया?

ज्ञेय-अवस्था का जानपनामात्र ज्ञान है, उससे भिन्न कुछ वस्तु... ज्ञानवस्तु मानो पदार्थ ही नहीं, द्रव्य ही नहीं। समझ में आया? यहाँ यह बात ली है। एक तो बाह्य वस्तु पलटने पर ज्ञानपर्याय उस आकार से पहले परिणामी थी, बाद में उसे पलटने पर ऐसे परिणम जाती है, अर्थात् कि उस वस्तु के कारण से यह थी और यह एक ज्ञान की उत्पत्ति का काल गया, इसलिए दूसरा हुआ, इसलिए मानो मैं ही दूसरा हो गया। मेरी वस्तु ही स्वयं त्रिकाल ज्ञायक है, ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया? यह सूक्ष्म बात है, भाई! अन्तर और अन्तर में मिथ्यात्व तथा अन्तर और अन्तर में सम्यक्त्व।

उससे भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है... जानपनेमात्र वस्तु। बाह्यवस्तु के कारण एक मानना, वह मिथ्यात्व है और बाह्य वस्तु निमित्त के अवलम्बन से अपने में उत्पन्न हुआ ज्ञान उतना ही मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है। दो बातें हुईं। यह आयेगा आगे। 'बाह्यवस्तुषु' के अर्थ में आयेगा। अन्दर 'बाह्यवस्तुषु' के अर्थ में आयेगा। समझ में आया? समझ में आता है इसमें? ऐसा धर्म कैसा होगा यह?

भाई! धर्म के विरुद्ध का अधर्म अभी कहा जाता है, बाद में कहा जाएगा धर्म। अधर्म अज्ञानी कैसे उत्पन्न करता है?—कि परवस्तु की वर्तमान अवस्था का जो भाव है, उसके लक्ष्य से उत्पन्न हुआ अपने में ज्ञान की ज्ञेयाकाररूप पर्याय, वह पर्याय—अवस्था पर की पलटने से यह पलट जाती है, यह ज्ञेयाकार जितनी पर्याय, उतना ही मैं हूँ, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि अपनी अवस्था पलटने पर मानों मैं नाश हो जाता हूँ, (ऐसा मानता है)। उसे द्रव्यस्वरूप त्रिकाल ज्ञायक है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान तो नहीं। समझ में आया? कहाँ गये? 'दास' आये थे न? गये? गये। सवेरे कहीं नहीं थे? नहीं था? ठीक!

ऐसी अनुभवरूप प्रतीति करता है। देखो! अंशमात्र भी मैं रहा नहीं, हों! ऐसे पानी

का लोढ़ चलता हो न, पानी का लोढ़ । इस प्रकार ज्ञानपर्याय उसे जानती है न, पर्याय । वह लोढ़ जैसे ऊँचे ( जाए ), वैसे ज्ञान उस प्रकार से ज्ञेयाकार परिणमा । ऐसा जहाँ लोढ़ हुआ, वह भी मन में ऐसे हो जाता है । तू कहाँ ऊँचा-नीचा होता है ? उस ज्ञान की पर्याय में ऐसा जो ऊँचा लोढ़ ज्ञात होता है और ऊँचा लोढ़ जहाँ नीचे आता है, वहाँ ऐसे कर डालता है, परन्तु तुझे ऐसे करने का क्या कारण है ? और वह लोढ़ जहाँ वापस ऐसे आवे तो ऐसे करे, परन्तु ऐसा तुझे क्या है ? तेरी पर्याय तो तुझमें तेरे कारण से परिणम रही है । ऐसा होता है या नहीं ? रमणीकभाई ! हमारे उमराला में बहुत पानी आवे । दो-दो कोस गहरा पानी । ऐसे रहंट चले न, छोटी उम्र में यह सब बहुत देखा हुआ । बहुत लोढ़ । माथोडा-माथोड़ा पानी । सिर भले ऐसा हो, वह ऊँचा हो वहाँ,... उसे पर ज्ञेयाकार पर्याय पर के कारण होती है, इसलिए ऊँचा होवे तो स्वयं ऊँचा होता है । वह जहाँ नीची हो तो ( स्वयं नीचा हो जाता है ), परन्तु उसका कारण क्या ? समझ में आया ?

इसी प्रकार इस शरीर के शिथिलपने के काल में जब ज्ञान उसे जानता हुआ उत्पन्न होता है, तब उसे ज्ञान की अवस्था उसके कारण से हुई, ऐसा जानता है । वह जहाँ शिथिल पड़ने लगी, ऐसे कड़क थी, कड़क, कठिन ( थी ), वह कठिन की जहाँ शिथिल पड़ी, तब ज्ञान भी मानो शिथिल पड़ने लगा । ऐसा परालम्बी ज्ञेयाकार से परिणमता ज्ञान, उतना ही मैं हूँ और उसके कारण मैं हूँ, ऐसा माननेवाला ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द आत्मा को श्रद्धा में नहीं साध सकता । समझ में आया ?

ऐसी अनुभवरूप प्रतीति करता है । 'कलयन्' है न ? 'कलयन्' । 'कलयन्' अर्थात् अभ्यास से है । ऐसा उसे अभ्यास हो गया, अनुभव हुआ । बस ! है ? यहाँ तक तो कल अपने आया था । कल यहाँ तक आया था न ? इसमें तो इतना सिद्ध किया है कि भगवान आत्मा एक समय का ध्रुव चिदानन्दमूर्ति सत्... सत् अखण्ड, उसकी एक समय की पर्याय— अवस्था ऐसी अवस्था में उसका ऐसा स्वभाव है कि जो निमित्त है, वैसा ही यहाँ ज्ञान ( होता है ) । ज्ञान का स्वभाव जैसी अवस्था है, वैसा ज्ञान यहाँ स्वयं के कारण से होता है, हों ! उसके बदले यह मानता है कि उसके कारण से हुआ । एक तो यह भूल । दूसरा, उसके पलटने पर मानो मैं भी उसे पलटने से पलट गया । दो भूलें । तीसरा, ज्ञान की अवस्था में जितनी यह ज्ञानपर्याय पर को जानती है, उतना पर्याय का धर्म नहीं है । उस पर्याय का धर्म स्वद्रव्य को जानने की पर्याय है, तो पर को जानने की पर्याय का धर्म है । समझ में आया ? इन तीनों में अज्ञानी की भूल होती है । न्याय समझ में आता है इसमें ?



भगवान आत्मा स्वरूपज्ञान की मूर्ति! वह तो चिदानन्द आनन्दकन्द अखण्डानन्द ध्रुव वस्तु है, पदार्थ है न! उसकी एक समय की ज्ञान की पर्याय से ही यहाँ बात लेनी है। अतः वह ज्ञान की एक समय की दशा, उसे जैसा निमित्त है, वैसा ही यहाँ ज्ञेयाकार ज्ञान परिणमने का अपना उपादान पर्याय का धर्म है। अब वह धर्म निमित्त के लक्ष्य से हुआ, निमित्त के कारण हुआ माननेवाला एक तो मिथ्यादृष्टि है। उसे स्व का लक्ष्य होता नहीं। एक बात। और जैसा निमित्त अवलम्बन है, अवलम्बन कहो, या निमित्त कहो, दोनों एक ही है। पाठ में अवलम्बन पड़ा है न? अवलम्बित निमित्त। उसके पलटने से मेरी अवस्था, उसके पलटने से मेरी पलट गयी, उसके कारण से पलट गयी। परन्तु मैं एक द्रव्य हूँ और मेरी पर्याय का परिणमने का—पलटने का स्वभाव है, ऐसा नहीं जाना। समझ में आया? वह भी मिथ्यात्व और अज्ञान और अधर्म का दुःखरूप वेदन है। तीसरा, भगवान आत्मा की एक समय की ज्ञान पर्याय, उस पर्याय का इतना पर्यायपना है, पर्याय का इतना पर्यायपना होना चाहिए कि स्वज्ञेय को पर्याय जाने, स्वज्ञेय को जाने और परज्ञेय को जाने, इतना पर्याय का धर्म है। इतना उस पर्याय को उसने नहीं माना तो द्रव्य को भी नहीं माना और पर्याय भी नहीं मानी। आया था न? पर्याय साधती नहीं। आया था न? पहले में आया था। नीचे से है।

(कलश २४८)। सर्वथा वस्तुरूप मानता है अथवा सर्वथा पर्यायमात्र मानता है, वे जीव एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं क्योंकि वस्तुमात्र माने बिना पर्यायमात्र मानने से पर्यायमात्र भी नहीं सधती, वहाँ अनेक प्रकार से साधन-बाधन है, अवसर प्राप्त होने से कहेंगे; अथवा पर्यायरूप माने बिना वस्तुमात्र मानने से वस्तुमात्र भी नहीं सधती... है न? समझ में आया? एक समयमात्र का मानने से वस्तु भी नहीं सधती। किसकी है यह पर्याय? किसकी यह पर्याय? अकेली वस्तु मानने से भी मानने की जो पर्याय है, वह क्या है? समझ में आया? वस्तु को अकेली माने और पर्याय नहीं है। यह वस्तु, यह वस्तु। तो अकेली वस्तु को मानने जाए तो मानना, यह क्या है? वह तो पर्याय है। दोनों का नाश हो जाता है। क्यों, देवानुप्रिया! लॉजिक है या नहीं यह भगवान का? कुछ न्याय से बात करते हैं या नहीं? आहाहा!

कहते हैं, भाई! अकेली चीज को मानने से, वस्तु अकेली है पर्याय नहीं, तो वह वस्तु सिद्ध नहीं होगी। क्यों?—कि मानना, वह पर्याय है। मानना वह पर्याय है। जानना कि यह है, वह पर्याय है। इसलिए यह वस्तु है, ऐसा अकेले मानने से पर्याय सिद्ध नहीं होती तो द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता। अकेली पर्याय को मानने से, वह पर्याय किसकी है? कहाँ से आयी और

किसकी है ? अकेली पर्याय मानने पर किसकी पर्याय ? वस्तु सिद्ध नहीं होती और पर्याय भी सिद्ध नहीं होती। समझ में आया ? यह तो अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान है, उसकी यहाँ बात है। उसका साधन और बाधन और उसका ध्येय सब अन्तर में और अन्तर में है। समझ में आया ?

उससे भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है। 'कलयन्' ऐसी प्रतीति अज्ञानी करता है। मेरी ज्ञानदशा... क्योंकि वस्तु त्रिकाल है, वह तो श्रद्धा में है नहीं और वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में—ध्येय में परद्रव्य है और परद्रव्य के पलटने से यह भी पलटी। ऐसा हूँ, वह पलटनेवाला है, इसलिए पलटता हूँ, ऐसा तो है नहीं। वस्तु के लक्ष्य से—ध्येय से यह अवस्था पलटती है तो वस्तु को नहीं मानता, अकेली पर्याय को मानता है। यह अधिकार है न ? पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता। दूसरी लाईन हुई हुई है। समझ में आया ?

एक समय की ज्ञान की, श्रद्धा की अवस्था आदि की मानने से वस्तु को नहीं मानता तो वह पर्याय पर के अवलम्बन से लक्ष्य हुआ, इसलिए ध्येय उसका निमित्त में गया है। यहाँ तो ध्येय है नहीं। वहाँ ही गया है। वहाँ गया और वहाँ पलटने लगा तो मैं भी पलट गया, मैं कुछ रहा नहीं। पलटने पर कोई चीज़ पूरी रही ? कि मैं रहा ही नहीं। समझ में आया ? अब यहाँ से शुरुआत होती है। यहाँ तक तो कल आया था।

'पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्' 'पूर्व' किसी पहले अवसर में... कोई पहले समय में। जो देह की अवस्था लक्ष्य में थी और ज्ञान की उत्पत्ति अपने में उपादान से हुई, निमित्त वह देह की अवस्था थी। पहले अवसर में जानकर उसकी आकृतिरूप हुई... आलम्बित अर्थात् निमित्त। आलम्बन अर्थात् निमित्त। उसे जानकर उसकी आकृति हुई। जो ज्ञेयाकार ज्ञानपर्याय। 'बोध्य' अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेयाकार। यहाँ ज्ञान की पर्याय अपने में अपने से (हुई)। उसके नाश के समय पहले की पर्याय जहाँ वहाँ गयी, वहाँ विनाश सम्बन्धी किसी अन्य अवसर में... अर्थात् वहाँ गयी तो यहाँ भी मेरी गयी। दूसरे समय में पर्याय ही गयी, मैं कुछ रहा नहीं। ऐसा ज्ञानमात्र जीववस्तु का नाश मानता है। भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, त्रिकाल वस्तु ऐसी की ऐसी है। उसकी वर्तमान अवस्था ज्ञेय के लक्ष्यवाली पलटने पर भी वस्तु का नाश कभी नहीं होता। यह अंश पलटा है, पूरा अंशी गया नहीं; परन्तु अंश जाने से निमित्त के ध्येय से—अवलम्बन से प्रगट हुआ ज्ञान, निमित्त पलटने पर मैं पूरा पलट गया, किंचित्मात्र मेरी चीज़ पूरी ध्रुव रही, ऐसा वह नहीं मानता। जरा यह तो सब लॉजिक-न्याय से बात है, भाई! अभी तो अनेकान्त है या नहीं ?

पर के अवलम्बन से हुआ ज्ञान, उसके पलटने से पूरा द्रव्य नाश हो जाता है, यह एकान्त माननेवाले हैं। समझ में आया ? यह तो अभी बड़ा अन्तर अभी तो। वर्तमान ज्ञानदशा... यह शरीर की कमजोरी, कड़काई, निरोगता है, वह अवस्था लक्ष्य में आयी, तो कहते हैं कि निरोगता, वह कर्ता और यह पर्याय, वह कार्य—यह तो बड़ी आठ पंशेरी की भूल। मण में आठ पंशेरी की ( भूल है )। क्या कहते हैं तुम्हारे ? सम्पूर्ण। अज्ञानदशा, जैसा वह निमित्त है, वह कर्ता है। क्योंकि उस सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान होता है, इसलिए उस सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान ( हुआ ), इसलिए यह निमित्त, वह कर्ता ( है ) ऐसा अज्ञानी मानता है और वह स्वयं उसके कारणरूप है, इसलिए यहाँ ज्ञेयाकार परिणमा, इसलिए उसे ही कारण मानता है। उस निमित्त को ही आधार मानता है। समझ में आया ?

वर्तमान ज्ञानदशा ऐसी ही ज्ञेयाकार और जैसा लक्ष्य है, उसी प्रकार से परिणमने का, उस काल में अपने काल में परिणमने का स्वभाव है, उसके काल की अवस्था के कारण से नहीं, तथापि यह अवस्था उसके आधार से यह अवस्था हुई, ऐसा माननेवाला पर से नास्ति है, ऐसा नहीं मानता; परन्तु मैं पर से अस्ति हूँ, ऐसा मानता है। समझ में आया ? गजब बात, भाई ! ऐसा है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। इसलिए उसे दुःखरूप दृष्टि अन्तर उत्पन्न होती है। वह पूरा आकुलता में वेदा जाता है। क्योंकि पूरा आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, वह दृष्टि में नहीं है और क्षणिक अवस्था उसके कारण से उत्पन्न हुई पराधीन दृष्टि और क्षणिक अवस्था जितना मैं, वह भी अंश में पूरा माननेवाला मिथ्यादृष्टि दुःख को ही वेदता है। आहाहा ! समझ में आया ? देखो ! यह पर के कारण से नहीं, हों ! इस निरोगता के कारण से सुख और रोग के कारण से दुःख, यह बात भी यहाँ नहीं है। तब तो निरोगता ने यहाँ कल्पना का सुख उपजाया। ऐसा नहीं है। इसने स्वयं उत्पन्न किया है। समझ में आया ? इसी प्रकार सरोगता ज्ञान में आयी, इसलिए दुःखरूप इसकी कल्पना हुई, ऐसा नहीं है। इसने कल्पना खड़ी की है। मैं सरोग हूँ। सरोग का ज्ञान मैं हूँ, ऐसा न मानकर, मैं सरोग हूँ—ऐसा माना, उसने अंश में ही पूरा आत्मा मान लिया। अथवा पर के कारण आत्मा की वर्तमान पर्याय है, ऐसा मान लिया। ऐसी असत्य की मान्यता को तो दुःख ही होगा, दूसरा क्या होगा ?

**श्रोता :** इस शरीर के कारण से दुःख आया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इस शरीर के कारण नहीं आया। जेचन्दभाई ! कहो, समझ में आया इसमें ? यह चिल्लाहट मचाते हैं, शरीर के कारण ऐसा हो गया, ऐसा हो गया। अब धूल भी नहीं कुछ। आहाहा ! ऐसे तो बराबर ख्याल है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा !

कहते हैं, पहले अवसर में जो आलम्बित आकृतिरूप ज्ञान की पर्याय ज्ञेयाकार हुई, उसके विनाश सम्बन्धी। पहले समय में थी, दूसरे समय में गयी। गयी, इसलिए मानो मैं पूरा गया, पूरा खिंच गया। मानो पानी में ऐसे लक्ष्य था न? पानी ऐसे बहने लगा, इसलिए मेरी पर्याय ही बहने लगी। ऐसे... ऐसे...। हालत—कल्लोल पानी में उठती है न? मैं भी चला साथ में परन्तु तू कहाँ? ते तो यहाँ है। इसी प्रकार शरीर की हालत रोग अवस्था होने पर जहाँ फेरफार होकर जहाँ गहरी उतरने लगी (तो) मैं गहरा उतर गया। अर्थात् कि मेरा अभाव हो गया। गहरे का अर्थ यह है। मेरे जानने के स्वभाव का ही अभाव हो गया। आहाहा! समझ में आया या नहीं? ऐसा माननेवाला भगवान ज्ञाता-दृष्टा त्रिकाली है और उसकी पर्याय उसके द्रव्य में से द्रव्य के परिणमन से परिणमन होता है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया?

श्रोता : भाई हिले....

पूज्य गुरुदेवश्री : हिले? कहाँ हिले और कहाँ जाए? आहाहा!

उसको स्याद्वादी सम्बोधन करता है— लो। उसे स्याद्वादी—अनेकान्तवादी—सम्यग्दृष्टि समझाता है अथवा कहता है अथवा स्याद्वादी कैसे होते हैं, यह समझाते हैं। 'पुनः स्याद्वादवेदी' स्यात् अर्थात् अपेक्षा से माननेवाला। पर के अवलम्बन से अपनी पर्याय ज्ञेयाकार होने पर भी उस ज्ञेयाकार का मुझसे परिणमन हुआ है और उतने ज्ञेयाकारमात्र भी मेरी पर्याय इतनी ही नहीं। मेरी पर्याय ज्ञान के आकार स्वज्ञेय को जाने, ऐसे ज्ञेयाकार का परिणमन (मेरा है)। स्वज्ञेय और परज्ञेय। उसके आकार परिणमने की मेरी पर्याय है, ऐसा ज्ञानी मानता (है)। एकान्तदृष्टि जिस प्रकार कहता है, उस प्रकार नहीं है... तब क्या है? समझ में आया? अनेकान्त अनुभवशील... देखो! एक समय की पर्याय इतना पर को जानने पर भी और पर पलटने पर भी, वह मेरी पर्याय पर के कारण पलटी नहीं है। क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि ध्रुव के ऊपर है, ध्रुव ज्ञायक के ऊपर है। ज्ञायक के ऊपर होने से उसकी पर्याय ज्ञायक के लक्ष्य से पलटी है। इसलिए वह अनेकान्तदृष्टि अनुभवशील पुरुष कहा जाता है। समझ में आया? वह (अज्ञानी) अनुभव से शून्य था, आत्मा के अनुभव से शून्य था। यह अनुभवशील है। भाषा देखो, प्रयोग की है! है न?

अनेकान्त अनुभवशील जीव... भगवान आत्मा त्रिकाली ज्ञायक वस्तु हूँ, ऐसा जहाँ प्रतीति (हुई है) और ज्ञान की पर्याय में पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लिया है, इससे पूर्ण के लक्ष्य से वर्तमान पर्याय स्वज्ञेय के आकार से परिणमन (होता है) और पर है, उसका भी ज्ञेयाकार परिणमन (होता है), ऐसा मानकर वह पर्याय पलटने पर भी मैं तो पूरा द्रव्य हूँ, इसी तरह दूसरे

समय भी मेरे द्रव्य का ही परिणमन है, ऐसे अनुभवशील अपने आत्मा को अनेकान्तदृष्टि अनुभवता हुआ आनन्द आता है। समझ में आया ? उसको (अज्ञानी को) दुःख आता है, इसे आनन्द आता है। यह भारी बात ! सत्य न मानने से दुःख और मानने से सुख। वास्तव में ऐसा है। आहाहा !

अनेकान्त अनुभवशील जीव... 'पूर्णः तिष्ठति' अर्थात् ? त्रिकालगोचर ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा अनुभव करता हुआ उस पर दृढ़ है। होता है, उसकी वर्तमान पर्याय पलटने पर भी उस पर्याय का आरूढ़पना त्रिकाली द्रव्य के ऊपर है। यहाँ काल के दो प्रकार लिये हैं। त्रिकाल वस्तु है, वह एक काल, वर्तमान अवस्था, वह वर्तमान काल, वह भेदरूप काल। भेदरूप काल अकेले को माननेवाला, त्रिकाली वस्तु को नहीं माननेवाला, वह मिथ्यात्व है और त्रिकाल ज्ञायक वस्तु को माननेवाला वर्तमान उसका काल पर्यायभेद—त्रिकाल का एक अंश भेदपर्याय, त्रिकाल पर आरूढ़ होने से उसकी पर्याय अनेकान्तरूप से परिणमती हुई आनन्द और सम्यग्दर्शनरूप परिणमती है। समझ में आया ? यह धर्म कैसा ?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या होता है ? आनन्द होता है। मरे कौन ? कौन मरे ? कहा न यह। गहरा-गहरा कोई उतरता नहीं। गहरे जाता है अन्दर। क्या कहा ? देखो !

अनेकान्त अनुभवशील जीव त्रिकालगोचर ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा अनुभव करता हुआ उस पर दृढ़ है। कहाँ जाता है ? ज्ञायकभाव त्रिकाल हूँ, वहाँ दृष्टि लगी है। निमित्त और वर्तमान पर्याय पर दृष्टि है, वह पर्यायमूढ़ स्वकाल में अस्ति अपनी है, ऐसा नहीं मानता और स्वकाल से त्रिकाल में हूँ, ऐसे अपने ज्ञायकभाव पर दृष्टि का आरूढ़ होने से, वर्तमान पर्याय पलटती (होने) पर भी मैं कहीं पूरा नाश नहीं हो जाता, ऐसी ज्ञायक त्रिकाल पर (दृष्टि) आरूढ़ होने से उसे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन और सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा ! गजब बात भाई यह ! ऐसा मुम्बई में रखें तो कहेंगे, यह क्या ? यह क्या लगायी है ? समझे नहीं।

भाई ! यह तो अकेले तत्त्व के मर्म हैं। मर्म में मर्म। समझ में आया ? भगवान आत्मा एक समय की अवस्था से परिणमता होने पर भी और वह अवस्था बदलती होने पर भी वस्तु त्रिकाल ज्ञायक और आनन्द है, ऐसे ज्ञानमूर्ति भगवान पर जिसका अस्तित्व-दृष्टि पड़ी है, उसकी पर्याय परिणमती है, एकरूप रहनेवाला परिणमता है, ऐसा अनेकान्त होने पर भी उसकी दृष्टि में द्रव्य पड़ा है; इसलिए उसे सम्यग्दर्शन और आनन्द का अनुभव होता है।

अनेकान्त का फल अमृत है, एकान्त का फल दुःख है। आहाहा! शशीभाई! गजब बातें, भाई यह! वेदान्त को कुछ है? एक आत्मा, जाओ! हो गया। एक आत्मा सर्व व्यापक।

**श्रोता :** विचार तो करना चाहिए न...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मूढ़ हो जाए। क्या विचार करना चाहिए। यहाँ वस्तु जितने क्षेत्र में है, उतने में उसका त्रिकाल और वर्तमान काल है। इतने क्षेत्र में है। यह क्षेत्र में आ गया है। इतने क्षेत्र में है। क्योंकि उसका एकाग्रपना इतने में होता है, ऐसे नहीं होता, समझ में आया? असंख्य प्रदेशी भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, वर्तमान समय की अवस्थारूप परिणमे, यहाँ काल की बात चलती है इसलिए। वह काल भी वर्तमान असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में अनन्त गुण, ऐसा जो पिण्ड, उसका वर्तमान काल का समय, वह समय भी इतने असंख्य प्रदेशी के ऊपर ही एक समय की पर्याय वर्तती है। बाह्य ऐसे वर्तती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो इस जीव की दया और मृत्यु तथा सामने जो दिखता है न ज्ञान की पर्याय में, वह पर्याय का धर्म है कि वहाँ जीव और शरीर भिन्न पड़े उनके रूप से ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान परिणमे। वह ज्ञानपर्याय उन्हें भिन्न नहीं कर सकती, इकट्ठे नहीं रख सकती। तथा उस प्रकार का यहाँ ज्ञान परिणमा, उतना ज्ञानमय भी आत्मा नहीं है। यह तो जिसने ज्ञान की पर्याय को इतनी मानी कि दूसरे का अस्तित्व रखे और टाले, ऐसा ज्ञान की पर्याय का अस्तित्व उसने पर के कारण माना या पर के अंशों का अस्तित्व इस ज्ञान की पर्याय के कारण माना यह तो बड़ी विपरीत मिथ्यात्व एकान्तदृष्टि है। आहाहा!

यहाँ तो अन्दर के दो प्रकार के अंशों में ही एकान्त और अनेकान्त उतारा है। समझ में आया? भगवान आत्मा वस्तु... वस्तु... वस्तु... अनन्त-अनन्त अचिन्त्य अमाप स्वभाव का सागर प्रभु है। उसके ऊपर जिसकी ज्ञान की पर्याय आरूढ़ है, वह पर्याय पलटने पर भी मैं कहीं पूरा पलटकर अभाव हो जाता हूँ, ऐसा नहीं है। मेरापना रखकर—ध्रुवरूप रहकर मैं पलटता हूँ, इसका नाम अनेकान्तदृष्टि—सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उस पर के कारण नहीं।

दूसरे प्रकार से कहें तो पर की दया के काल में जो शुभभाव हुआ... समझ में आया? वह शुभभाव भी पर की दया पली, इसलिए हुआ—ऐसा नहीं है और वह शुभभाव है, इसलिए ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमा—ऐसा नहीं है और ज्ञेयाकार इतना परिणमा, इतना भी आत्मा नहीं है। समझ में आया? नेमिदासभाई! बहुत सूक्ष्म। उकताहट आती होगी, ऐसा होगा यह? कभी पक्ष में चढ़ा नहीं। वीतरागमार्ग क्या है, उसके पहलू को सुनने में आया नहीं। ऐसे का

ऐसा काल बिताया। हम जैन हैं, जैन हैं, जैन (हैं)। अजैन को जैन मानकर थोथा किये। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि जिसमें एक समय की अवस्था में पर के कारण यह अवस्था हुई, ऐसा माननेवाला वह अजैन मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। और जैन उसे कहते हैं... जैन अर्थात् वस्तु की स्थिति। एक समय की अवस्था पर के लक्ष्य में उसके ज्ञेयाकार परिणामी होने पर भी वह पर्याय इतनी और इतना मैं नहीं। वह पर्याय उसके कारण नहीं, उतनी पर्याय जितना नहीं। मैं तो एक अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ, ऐसी जिसकी पर्याय द्रव्य के ऊपर ढली है, उसे राग की एकता टली है और जैनदशा की वीतरागपर्याय उत्पन्न हुई है, उसे जैन कहा जाता है। ठीक परन्तु यहाँ आ गये, यह ठीक किया। कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा !

यह तो भगवान का अमृत है। बापू! आहाहा! कहते हैं, समझ में आया ? ‘पूर्णः तिष्ठति’ त्रिकालगोचर ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा अनुभव करता हुआ... ‘पूर्णः तिष्ठति’ की व्याख्या की। ‘पूर्णः’ अर्थात् त्रिकालगम्य वस्तु ‘तिष्ठति’ अर्थात् उसमें इसका लक्ष्य लग गया है। समझ में आया ? भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा अनन्त गुणस्वरूप आत्मा स्वयं अनन्त गुणस्वरूप, जैसे परमात्मा की—अरिहन्त की पर्याय प्रगटी है, ऐसा ही यह आत्मा द्रव्य से अखण्डानन्द प्रभु है। ऐसा पूर्ण भगवान, उस पर जिसकी दृष्टि है, उसका पर्याय का परिणामन बदलने पर भी, शरीर के आकार ज्ञान होता और बदलने पर भी मैं पूरा बदल जाता हूँ, ऐसा नहीं है। क्योंकि पूर्ण के ऊपर जिसकी दृष्टि है। क्योंकि त्रिकाल ज्ञायकमात्र भगवान के ऊपर दृष्टि है इसलिए ‘पूर्णः तिष्ठति’ वह अपूर्ण पर्याय में अपना (अस्तित्व) मानकर नाश हो जाता है। यह ‘पूर्णः तिष्ठति’ यह जीता है। क्या कहा ?

एक समय की अवस्था में ज्ञेयाकार समबन्धी ज्ञान होने पर, ज्ञेयाकार पलटने से मैं पलट जाता हूँ, (ऐसा जो अनुभव करता है), वह जीव मर जाता है। अपनी दृष्टि में तत्त्व को मार डालता है। यह ‘सीदति’ दुःखी होता है; और यह ‘पूर्णः तिष्ठति’। ज्ञायकस्वभाव भगवान आत्मा की पर्याय का पलटन होने पर भी और पर के आकार ज्ञान का अपना स्वभाव होने पर भी उसका अपना ज्ञान पूरा है, उस प्रमाण भी यहाँ पर्याय में ज्ञान होने पर भी, इतनी पर्याय जितना मैं नहीं। उस पर्याय को स्थापित किया है द्रव्य में। समझ में आया ? आहाहा ! इसका नाम अनेकान्त और इसका नाम जैन। यह जैन कोई वाडा नहीं। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा जिसे अनुभव में आवे, उसे जैन कहा जाता है। समझ में आया इसमें ? थैली में डाला चिरायता, ऊपर लिखा मिश्री, वह कहीं चिरायता मीठा नहीं हो

जाता। (इसी प्रकार) जैन नाम से थैली में नाम रखे, अन्दर भान कुछ नहीं हो। पर्याय कौन और द्रव्य कौन? अभी तो नाम भी सुने न हों। पर्याय क्या होगी?

**श्रोता :** द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ... होवे तो उसे खबर नहीं। क्योंकि वह पर्याय त्रिकाल द्रव्य की है, ऐसा नहीं मानता और पर के कारण मानता है, उसे भी द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं। और जिसे एक समय की पर्याय पर के कारण नहीं, परन्तु मेरे कारण से है, इतना ही माने तो भी त्रिकाल द्रव्य के कारण माना नहीं, तो पर्याय भी यथार्थ मानी नहीं। किसकी पर्याय? उसने द्रव्य और पर्याय दोनों माने नहीं। नवनीतभाई! गजब यह... वस्तु तो यह है। आहाहा!

त्रिकाल गोचर अर्थात् पूर्ण। 'तिष्ठति' अर्थात् उसमें दृष्टि को दृढ़ किया है। समझ में आया? धर्मी जीव ने जैन जीव ने अर्थात् जैन होनेवाले आत्मा ने अपना ज्ञायक त्रिकाल स्वभाव, उसमें वर्तमान पर्याय को वहाँ स्थापित किया है, इसलिए पर्याय पलटने पर भी द्रव्य ऐसा का ऐसा रहता है, मेरा नाश नहीं होता। अविनाशी भगवान आत्मा हूँ, ऐसा जिसकी दृष्टि में वर्तता है, उसकी पर्याय में राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान शान्ति को वेदता है, उसे जैन और समकिति कहा जाता है। समझ में आया? ऐ... जयन्तीभाई! कभी सुना नहीं होगा वहाँ तुम्हारे। क्यों, भगवानजीभाई! तुम्हारे रिश्तेदार तो कहते हैं, हों! यह कभी सुना नहीं। आहाहा!

अरे! भगवान का मार्ग... भगवान अर्थात् आत्मा, हों! वह तीन लोक का नाथ है। एक समय में तीन काल-तीन लोक को पर के लक्ष्य बिना परिणमकर जाने, ऐसी उसकी ताकत है। आहाहा! समझ में आया? तीन काल और तीन लोक तो है, तो भी ज्ञान की पर्याय क्यों नहीं होती! यदि उसके कारण होती हो तो। वह पर्याय ही स्वयं, पर्यायवान भगवान आत्मा त्रिलोकनाथ है, उसके लक्ष्य से वह केवलज्ञान की पर्याय परिणम जाती है, तब लोकालोक को निमित्त कहा जाता है। अवलम्बन है न? अवलम्बन शब्द। तब निमित्त को अवलम्बन कहा जाता है। यह तो केवलज्ञान तक ले गये अवलम्बन में। समझ में आया? अवलम्बन कहो... आता है न? प्रवचनसार में आता है। जो निमित्त अवलम्बन है, उस ज्ञेय का ज्ञान— पूर्ण ज्ञान न करे तो ज्ञान किसका? और वह ज्ञान पूर्ण रीति से ज्ञायक में अर्पणता न करे तो वह ज्ञेय किसका? लालचन्दभाई! प्रवचनसार, नोट (फुटनोट) किया है। है या नहीं? ३६... ३६। देखो! यह निकला, देखो! **ज्ञान को ज्ञेयभूत द्रव्य आलम्बन अर्थात् निमित्त है। ज्ञान ज्ञेय को न जाने तो ज्ञान का ज्ञानत्व क्या? ज्ञेय को ज्ञान का आलम्बन अर्थात् निमित्त है। ज्ञेय ज्ञान में न ज्ञात हो तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व क्या?** सर्वज्ञ कहना और उसे सर्वज्ञता सिद्ध



न होना, वह सर्वज्ञ कैसा ? तीन काल, तीन लोक का एक समय में सर्वज्ञ और सर्वज्ञतापना प्रगट होता है। सबपने का ज्ञान उसे एक समय में प्रगट होता है। आहाहा! विवाद उठा। यदि भगवान ऐसा सब जाने तो नियत हो गया। भगवान के ज्ञान में सब ज्ञात हो जाए तो भगवान ने जो देखा, वह नियत हो गया। अरे! सुन, यह क्या कहते हैं। यह नियत का इनकार किया ही नहीं। वह तो एकान्त नियत का निषेध किया है। साथ में पुरुषार्थ, स्वभाव, नियत, भवितव्य और उस काल में उस प्रकार के कर्म का अभाव—सब पाँचों (समवाय) भगवान ने देखा है और सम्यग्दृष्टि को पाँचों ज्ञान में आते हैं। आहाहा! भारी बात परन्तु भाई! समझ में आया ?

एक समय में सर्वज्ञपना परिणम गया। कहते हैं कि वह पर्याय लोकालोक के कारण हुई, उस पर्याय में लोकालोक का ज्ञान है, हों! परन्तु उस पर्याय का इतना ज्ञान नहीं, पूरे द्रव्य-गुण अपनी (ज्ञान) पर्याय में है और सबका है। उस पर्याय को जानने से लोकालोक ज्ञात हो जाता है। जल को देखने से जल में तारा के आकार इकट्टे दिखाई दे जाते हैं। समझ में आया ? जल के (तालाब नदी) पानी को देखने पर ऊपर के तारे, ६६९७५ क्रोड़क्रोड़ी तारे एक चन्द्र के साथ होते हैं। एक चन्द्र और एक सूर्य के साथ ६६९७५ क्रोड़क्रोड़ी तारे। मानो ऐसा बड़ा समुद्र स्वच्छ हो। ऐसे देखने पर—इसे देखने पर वे दिख जाते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा का सर्वज्ञपद, उस पर्याय को देखने पर लोकालोक उसमें ज्ञात हो जाता है। समझ में आया ? इतनी पर्यायवाला द्रव्य न माने और आगे-पीछे जाने—ऐसा माने, वह असर्वज्ञ माना, उसने सर्वज्ञ माना नहीं। उसे द्रव्य की पूर्ण सामर्थ्य की शक्ति की प्रतीति नहीं है। वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया ?

केवलज्ञान में लोकालोक ज्ञात हुआ। लोकालोक का पलटन होता है तो यहाँ पर्याय पलटती है। अपनी पलटती है। वहाँ उसकी वर्तमान पर्याय है, वह भूत में जाती है और भविष्य की है, वह वर्तमान होती है। ऐसा यहाँ ज्ञान भी पलटता है। उसके कारण से पलटता है ?

**श्रोता :** निमित्त नहीं रहे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परन्तु वह निमित्त तब कहलाता है। उसके कारण से पलटे तो निमित्त नहीं कहलाता, तब तो कर्ता हो गया। समझ में आया ? भगवान केवलज्ञान की पर्याय स्वकाली है। वह परकाल की अवस्था के कारण से नहीं है, परकाल से नास्ति है। इसमें आया या नहीं ? समझ में आया ? इस परकाल के कारण स्व की अवस्था में पर की अवस्था के कारण माने, वह मूढ़ है, उसकी अवस्था की खबर नहीं और पर अवस्था पलटी, इसलिए यहाँ ज्ञान की

पर्याय पलटती है, वह मूढ़ है। अवस्था का पलटना, द्रव्य का परिणमन स्वभाव वह नहीं मानता। समझ में आया ?

भाई ! जैन परमेश्वर ने वस्तु देखी है, वैसी है, वह कहीं भगवान ने की नहीं है। भगवान ने कोई वस्तु को किया नहीं। वह तो जैसी है, वैसी जानी है और जानी है, वैसी कही है। वे कहीं किसी के कर्ता-बर्ता नहीं हैं। ऐसी जो वस्तु जिसके ज्ञान में न बैठे और उससे उल्टा बैठे, वह मिथ्यादृष्टि-एकान्तदृष्टि दुःखी होकर भटकता है। धर्मी जीव अनेकान्त अनुभवशील, अपनी वर्तमान पर्याय में भले अवलम्बन अर्थात् निमित्त दूसरी चीज़ हो, तथापि मेरी ज्ञान की पर्याय पलटने पर भी मैं ध्रुवरूप से पलटता हूँ। क्योंकि पर्याय का आधार द्रव्य है। इसलिए द्रव्य में ही उसने पर्याय को स्थापित की है। इसलिए पर्याय का आधार द्रव्य है, उस पर्याय का आधार निमित्त नहीं है। समझ में आया ?

कैसा दृढ़ है ? 'बाह्यवस्तुषु मुहुः भूत्वाव विनश्यत्सु अपि' बाह्य वस्तु शब्द प्रयोग किया है। उसके दो अर्थ करेंगे। **समस्त ज्ञेय...** परन्तु बाह्य वस्तु अथवा ज्ञेयाकार परिणमित ज्ञानपर्याय... अनेक, वह भी बाह्य वस्तु। समझ में आया ? अभ्यन्त पूरी चीज़ एकाकार भगवान वस्तु ज्ञायकमूर्ति, उसकी अपेक्षा से एक समय की ज्ञान की पर्याय भी बाह्य है। त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति अभ्यन्तर तो यह एक समय की पर्याय बाह्य है अथवा उस समय की पर्याय से बाह्य दूसरी चीज़ है, वह भी बाह्य है। 'बाह्यवस्तुषु' इनके कथन का ढंग ही दूसरे प्रकार का है।

**समस्त ज्ञेय...** लोकालोक ज्ञेय अथवा ज्ञेयाकार परिणमित ज्ञान पर्याय। उसके अनेक भेद, सो वे अनेक पर्यायरूप होते हैं। बाहर की वस्तुएँ भी ऐसे भिन्न-भिन्न रूप परिणमती है और अपनी ज्ञान की पर्याय भी भिन्न-भिन्न रूप परिणमती—अवस्था भिन्न-भिन्न रूप होती है। 'मुहुः भूत्वा' 'मुहुः' है न ? (अर्थात्) बारम्बार। 'मुहुः' अर्थात् बारम्बार। 'भूत्वा' अर्थात् होता है। 'विनश्यत्सु' अनेक बार विनाश को प्राप्त होते हैं... पर्याय उत्पन्न होती है, बाह्य चीज़—पर्याय उत्पन्न होती है और विनश जाती है। पर्याय भी उत्पन्न होती है अपने में और ऐसे बदल जाती है। तो भी दृढ़ रहता है। तो भी दृढ़ ज्ञायक भाव पर दृष्टि है, इसलिए अपना ध्रुवपना कायम रखता है। समझ में आया ? इसमें क्या करना ? दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, ऐसा होवे तो समझ में भी आये। अज्ञान। उसमें क्या समझना था ? अनादि का मिथ्यात्वभाव कर रहा है। उसमें आत्मा कहाँ आया और उसमें सम्यक् कहाँ आया ? समझ में आया ?

यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ तीर्थकर भगवान ने आत्मा कैसा पर्याय से और द्रव्य से देखा, ऐसी इसकी प्रतीति में आवे, तब इसे जैन और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कैसे आवे, कहते हैं?—कि बाह्य वस्तु पलटने पर भी और अपनी पर्याय पलटने पर भी इतना मैं नहीं, मैं त्रिकाल हूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, उसकी पर्याय में भी अनेकान्तरूप शान्ति का वेदन भले पलटता जाए, पलटता जाए, परन्तु पलटता है ध्रुव के अवलम्बन से पलटता है, निमित्त के अवलम्बन से पलटता है—(ऐसा नहीं)। त्रिकाल ज्ञायक भाव त्रिकाल एक वस्तु के अवलम्बन से पलटता है। वर्तमान सामने पर्याय है, उसके कारण पर्याय पलटती है, ऐसा धर्मी-ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि नहीं मानता।

**श्रोता :** क्यों नहीं मानता ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** क्योंकि ऐसा है नहीं। क्योंकि ऐसा है नहीं। जो अपनी पर्याय का पलटना अपने त्रिकाल ज्ञायकभाव के अवलम्बन से पलटता है, ऐसा मानता हुआ अपने ध्रुव में दृष्टि स्थापित की है, निमित्त और पर से दृष्टि उत्थापित की है। समझ में आया ?

‘मुहूः’ बारम्बार भले पलटे, कहते हैं। पर्याय भले पलटे। समझ में आया ? अनेक बार विनाश को प्राप्त होते हैं... पर्याय उत्पन्न भी हो और विनाश भी हो। तो भी वस्तु तो वस्तु, जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है, इसलिए उसका परिणमन भी द्रव्य के कारण से प्रगट हुआ है। और कैसा है? ‘अस्य निजकालतः अस्तित्वं कलयन्’ लो। ज्ञानमात्र जीववस्तु... देखो! निजकाल ऐसा लिया, पूरा त्रिकाल। ज्ञानमात्र जीववस्तु का... ‘निजकालतः’ त्रिकाल शाश्वत ज्ञानमात्र अवस्था... त्रिकाल ज्ञानमात्र अवस्था अर्थात् वस्तु। एक त्रिकाल ज्ञायकमात्र भगवान पूर्णानन्द है, ऐसी जिसकी वर्तमान पर्याय में दृष्टि हुई है, उसे अनेकान्ती समकिती—अनेकान्त का अनुभव करनेवाला जैन और धर्मी कहा जाता है। बाकी दूसरे को जैन और धर्मी नहीं कहते। आहाहा! गजब बात, भाई! धरमचन्दजी!

वस्तुपना अथवा अस्तिपना अनुभवता है स्याद्वादी जीव। अर्थात्? वस्तु सामने पूरी सब पलटे और एक समय की अवस्था भी पलटे, परन्तु पलटती अवस्था, वह पलटनेवाला पूरा ध्रुव है, उसके ऊपर दृष्टि रहकर पलटती है, इसलिए त्रिकाली अस्तित्व की दृष्टि में जो वर्तमान पर्याय का परिणमना होता है, द्रव्य के लक्ष्य से होता है; इसीलिए शान्ति का, सम्यग्दर्शन का परिणमन होता है। इसलिए उसे अनेकान्ती जीव—धर्मी कहा जाता है, बाकी दूसरे को अधर्मी और अज्ञानी कहा जाता है। (विशेष कहेंगे....)

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

८

श्री समयसार, सर्वज्ञत्वशक्ति, प्रवचन - ३५४  
दिनांक - ०२-०९-१९६२

समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार चलता है। हिन्दी लिया हिन्दी ? समयसार अर्थात् आत्मा। उसका सार-सार। सार क्या है यह अधिकार इसमें चलता है। उसमें शक्तियाँ तो आत्मा में अनन्त हैं, परन्तु ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। अध्यात्मदृष्टि करने के लिये उनका वर्णन चलता है। नौवीं शक्ति हुई। अब जरा आज मुद्दे की शक्ति आती है। क्या कहते हैं ? यह आत्मपदार्थ है न, आत्मा-आत्मा। छे अर्थात् है। इतना थोड़ा-थोड़ा शब्द में अन्तर है। देह, वाणी, मन, कर्म, जड़ से पृथक् आत्मा यह आत्मदेव है, देव।

**श्रोता : कब ?**

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी। कब क्या ? अभी यह आत्मा देव है और अनन्त शक्तियाँ दैवी शक्ति अन्दर पड़ी है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ / दैवी शक्तियाँ (पड़ी हैं), उन्हें यहाँ ४७ शक्तिरूप से वर्णन किया है। वर्णन किया है, ऐसा समझना। थोड़ी-थोड़ी भाषा... भाई तो २२ दिन रह गये हैं। शोभालालभाई ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा पोतानो अर्थात् अपना। अपना अन्तर स्वभाव सर्वज्ञशक्ति रखता है। अपने द्रव्य में सर्वज्ञशक्ति है। प्रत्येक आत्मा में है। भगवान आत्मा शरीर, वाणी से भिन्न, कर्म से भिन्न, मन, वाणी से भिन्न और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा के विकल्प—राग उठता है, उससे भी भिन्न। भाई ! यह पुण्य और पाप के विकल्प, पाप का भाग न हो, तब दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति का शुभभाव होता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। आत्मा को—पंचम काल के धर्मी प्राणी को। समझ में आया ? यह शुभभाव व्रत का, दया का, दान का, भक्ति का, प्रभावना का राग मन्द होकर शुभभाव होता है। इसी प्रकार भगवान की पूजा, भक्ति, यात्रा, शुभभाव होता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। सेठ ! वर्तमान में तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। उसमें सब धर्म मानते हैं। धर्म नहीं है।

धर्म तो अपने आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव चैतन्यमूर्ति प्रभु, उसकी अन्तर में दृष्टि करने से,

अन्दर में दृष्टि करने से जो सर्वज्ञस्वभाव का धारक भगवान आत्मा है, उसकी अन्तर्दृष्टि से जो सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति अपनी पर्याय में (होती है), वह पुण्य-पाप के विकल्प से लक्ष्य छोड़कर शुभ-अशुभभाव जो होते हैं, उनसे लक्ष्य छोड़कर, आश्रय छोड़कर, अवलम्बन छोड़कर। सूक्ष्म बात तो है, भाई! समझ में आया ?

यह भगवान आत्मा चैतन्यदेव, उसमें अनन्त शक्ति की दैवी शक्ति (पड़ी है), उसमें सर्वज्ञशक्ति पड़ी है। अतः अपना सर्वज्ञस्वभाव अन्तर धरनेवाला भगवान, उसके ऊपर दृष्टि करने से पर्याय में-अवस्था में सर्वज्ञशक्ति का सर्वज्ञपने भले पहले परिणमन न हो, परन्तु उसकी सर्वज्ञ शक्ति की प्रतीति करने से और सर्वज्ञशक्ति का आधार आत्मद्रव्य की प्रतीति करने से अपनी पर्याय में मैं सर्वज्ञ हूँ, अपनी पर्याय में अन्तर शक्ति की स्थिरता द्वारा सर्वज्ञ होऊँगा, ऐसी सम्यग्दर्शन की प्रतीति, सर्वज्ञ स्वभाव को माननेवाले आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? सेठी ! जगत को बात भारी कठिन। यह व्यवहार-व्यवहार करते हैं न ? भाई ! व्यवहार हो, कौन इनकार करता है। राग की क्रिया की मन्दता हो, परन्तु उसमें संवर निर्जरा की गन्ध है, यह नहीं। यह दृष्टि निकाल दे। पाटनीजी ! क्यों ?—कि मेरा सर्वज्ञस्वभाव है। मैं तो सर्वज्ञ हूँ। जब पर्याय में—अवस्था में सर्वज्ञ का परिणमन होगा, उस सर्वज्ञ के परिणमन की शक्ति कहाँ रही है ?—मेरे आत्मा में है। समझ में आया ? यह दृष्टान्त देते हैं न हर समय। वहाँ सागर में भी दिया था। सेठ को याद हो या न हो। लींडीपीपर का। याद है ?

**श्रोता :** चौंसठ पहरी....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, यह, सेठ को याद है। चौंसठ पहरी। छोटी पीपर होती है न ? उसे क्या कहते हैं हिन्दी में ? छोटी पीपर। तो पीपर पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट की ताकत भरी है। हमारी भाषा में तिखाश पड़ी है। काठियावाड़ी में उसे तिखाश कहते हैं। हिन्दी भाषा में चरपराई पड़ी है। एक-एक दाने में चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है। बराबर है ? सेठी ! तो पत्थर घिसने से उसमें से आती है ? पत्थर में घिसने से आवे तो कोयला और रेत घिसने से उसमें से भी निकले। उसमें है ही नहीं। प्राप्त की प्राप्ति होती है। जिसमें हो, उसमें से मिलता है। जिसमें न हो, उसमें से प्राप्त नहीं होता। लो, और हिन्दी चला सब। समझ में आया ?

भगवान आत्मा... जैसे छोटी पीपर में चौंसठ पहरी, चौंसठ पहरी समझ में आया ? यह तो अभी सौ पैसे का रुपया हुआ, नहीं तो अपने चौंसठ पैसे का रुपया था न ? चौंसठ पैसे का रुपया। तो चौंसठ पैसा कहो, रुपया कहो, सोलह आना कहो, पूर्ण कहो, यह सब एक बात

है। तो पीपर में चौंसठ पहरी अर्थात् चरपराहट पूर्ण भरी पड़ी है, अतः शक्ति में है तो अन्तर में प्रगट होकर पर्याय में प्राप्त होती है। निमित्त से नहीं, हों! पत्थर से नहीं। पत्थर को स्पर्श भी नहीं किया। छोटी पीपर पत्थर को कभी छूती भी नहीं। क्योंकि एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का अत्यन्त अभाव है। समझ में आया ? यह तो जड़ है तो अन्योन्याभाव है।

पत्थर की पर्याय है, वह ऐसे गति करती है और पीपर की पर्याय प्रगट होती है। वह पर्याय और जड़ की-पत्थर की पर्याय में अन्योन्याभाव है। दोनों में अन्योन्याभाव है। इससे यह होता है और इससे यह होता है—ऐसा वस्तु में है नहीं। समझ में आया ? यह लॉजिक से तो बात चलती है तुम्हारे जज की। समझ में आया ? यह समझाय छे कांई अर्थात् समझ में आता है ? तुम्हारी भाषा में ऐसा कहते।

भगवान आत्मा अन्तर में जैसे चौंसठ पहरी शक्ति उसमें पड़ी है तो पूर्ण सर्वज्ञपर्याय की प्रगट दशा होती है। पहले उसमें अल्प चरपराहट प्रगट होती है। चार पहरी, पाँच पहरी, दस पहरी। पहरी कहते हैं न यह ? ऐसे करते... करते... करते... करते... चौंसठ। उसी प्रकार भगवान आत्मा अपने अन्दर सर्वज्ञ पूर्ण शक्ति, सोलह आना, रुपया, चौंसठ पैसा पूर्ण भगवान आत्मद्रव्य के अन्दर में सर्वज्ञशक्ति विराजमान है। आहाहा ! सर्वज्ञ अर्थात् पूर्ण ज्ञान प्रगट करने की वह ताकत रखता है। निमित्त में ऐसी ताकत नहीं है। भगवान आत्मा-आत्मा...

सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन, भक्ति वह राग है, उसमें से कोई सर्वज्ञपद प्राप्ति होती है, ऐसा है नहीं। नवनीतभाई ! राग हुआ, तो क्या राग में से सर्वज्ञपद प्राप्त होता है ? अल्पज्ञ वर्तमान पर्याय है, वर्तमान अल्पज्ञ क्षयोपशम की अल्पज्ञ दशा (है), क्या उसमें से सर्वज्ञपद प्राप्त होता है ? नहीं। अल्पज्ञता का तो नाश होता है। जैसे पचपन पहरी का नाश होकर छप्पन पहरी उत्पन्न होती है। त्रेसठ पहरी का नाश होकर चौंसठ पहरी उत्पन्न होती है, परन्तु वह चौंसठ पहरी आयी कहाँ से ? पत्थर से नहीं, त्रेसठ में से नहीं, त्रेसठ में से नहीं। त्रेसठ में से—थोड़ी में से अधिक (चरपराहट) कहाँ से आवे ? वह चौंसठ पहरी अन्तर में से आयी है। समझ में आया ? समझ में आता है ? समझ में आता है ?

इसी प्रकार भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सच्चिदानन्द प्रभु, सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का वह पिण्ड है। ज्ञान और अतीन्द्रिय रस का वह पिण्ड है। उसमें सर्वज्ञशक्ति पड़ी है, तो सर्वज्ञशक्ति का धारक द्रव्य—देव—चैतन्यदेव अपना स्वरूप, उसमें सर्वज्ञ दैवी शक्ति, उस शक्ति का धारक द्रव्य है, उसका अवलम्बन करने से पर्याय में—

अवस्था में मैं सर्वज्ञ होनेयोग्य हूँ और मैं उस पद में स्थित होकर सर्वज्ञपद प्राप्त करूँगा, ऐसी प्रथम सम्यग्दर्शन में सर्वज्ञस्वभाव के अवलम्बन से प्रतीति होती है। भारी सूक्ष्म बात, भाई! पाटनीजी! आहाहा! यह बाहर के किसी अवलम्बन से प्रगट हो, ऐसा नहीं है। उसे पहले ऐसी प्रतीति आती है कि मेरा सर्वज्ञपद, केवलज्ञान का पद, अरिहन्त पद कहाँ से आयेगा? मेरे अन्तरस्वभाव में मैं एकाग्र होकर, अध्यात्मस्वभाव में लीन होकर मैं केवलज्ञान को प्राप्त करूँगा, ऐसा पहले सम्यग्दर्शन, स्वभाव के सन्मुख के आश्रय में पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और इस सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं और चारित्र-फारित्र एक बिना के शून्य हैं।

सम्यग्दर्शन बिना, एक बिना के शून्य अंक में गिनने में नहीं आते। कोरे कागज में। कोरा कागज समझते हो? कोरा कागज होता है न कोरा? करोड़ शून्य करोड़। एक बिना गिनती में नहीं गिने जाते। एक अंक आवे पश्चात् एक शून्य लिखे तो नौ को बढ़ाता है। एक शून्य, परन्तु एक अंक होवे तो। इसी प्रकार भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द, अखण्डानन्द प्रभु, मैं पुण्य-पाप के विकल्प से, निमित्त से, कर्म से, मन से, वाणी से, अतीत हूँ, भिन्न हूँ। मेरी चीज में यह मन, वाणी, राग-द्वेष है ही नहीं। यह पुण्यभाव, दया-दान, व्रत आदि पूजा का विकल्प है, वह मेरी वस्तु में है ही नहीं। मेरी चीज में है तो सर्वज्ञपद है। ऐसे अन्तर्मुख दृष्टि करने से पर्याय में प्रतीति हुई कि मैं अल्पकाल में केवलज्ञान लेकर मोक्ष की प्राप्ति होगी। मेरे स्वभाव का अन्तर्मुख साधन करने से, बाहर के साधन करने से नहीं। दूसरी बात।

**समस्त विश्व के... देखो! दसवीं। समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से... समस्त विश्व के विशेष भाव को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** क्या कहते हैं? देखो! सर्व जगत के—तीन काल तीन लोक द्रव्य अर्थात् शक्तिवान पदार्थ, गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था—हालत। द्रव्य-गुण और पर्याय—वस्तु, शक्ति और हालत। तीन काल तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, उनमें यह द्रव्य-गुण-पर्याय जितने हैं, उन सबको एक ज्ञान सर्वज्ञ की पर्याय में एक समय में पूर्ण भगवान जानता है। पूर्ण जाने सबको, तो जैसा सर्वज्ञ ने जाना, वैसा प्रत्येक पदार्थ में होना है, नया तो होता नहीं। सेठी!

आज-कल गड़बड़ करते हैं कि सर्वज्ञ ने सब नहीं देखा, सामान्य देखा है। विशेष—इस समय में यह पदार्थ की यह पर्याय होगी, ऐसा भेद करके सर्वज्ञ नहीं जानते, ऐसा कितने ही लोग अभी कहते हैं। ऐसा नहीं है। खबर नहीं। सर्वज्ञ को सिद्ध करने जाए कि एक समय

में सर्वज्ञ हैं, वे तीन काल-तीन लोक को हस्तावलम्बन में जैसे आँवला दिखता है, वैसे देखते हैं। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल तीन लोक देखते हैं। समस्त विश्व, समस्त पदार्थों का समूह, समस्त पदार्थों का समूह। अनन्त समूह, लोक और अलोक अनन्त, अनन्त आत्माओं से अनन्तगुने परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और एक आकाश। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने छह द्रव्य देखे हैं, छह द्रव्य। उनका विस्तार करो तो उसमें नौ तत्त्व होते हैं। ऐसा भगवान को (ज्ञान प्रगट हुआ है)। उसमें है, होगा—सब बात सर्वज्ञ एक समय की पर्याय में प्रत्यक्ष विशेष प्रकार से जानते हैं। दसवीं (शक्ति) है।

इसमें विवाद करते हैं कि सर्वज्ञ भगवान जिस प्रकार से देखे, वैसा होवे, तब तो समय-समय में जैसी पर्याय होनी हो, भगवान ने देखी वह होती है। भगवान ने देखी वैसी होगी, तो इसमें हमारा पुरुषार्थ करने का कहाँ रहा? यह बहुत अध्यात्म की जरा सूक्ष्म बातें हैं। सैंतालीस शक्तियाँ तो बहुत सूक्ष्म हैं। पूरे चौदह पूर्व और बारह अंग का सार है। समझ में आया? क्या कहते हैं?

**समस्त विश्व के विशेष...** विशेष अर्थात् सभी पदार्थों को भिन्न-भिन्न करके—पर्याय को, गुण को, द्रव्य को, सबको चैतन्य, जड़ को, लोक-अलोक को और लोक-अलोक के एक-एक प्रदेश को भिन्न-भिन्न करके सर्वज्ञ परमात्मा अपने ज्ञान की एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक विशेष जानते हैं। तो जैसा जानते हैं, वैसा वहाँ होता है। शोभालालभाई! जैसा जानते हैं, वैसा होता है। 'जो जो देखी वीतराग ने।' 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होशी वीरा रे, अनहोनी कबहु न होसी काहे होत अधीरा रे।'

सर्वज्ञ परमात्मा कि जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सर्व विशेष ज्ञात हुआ। तो हो गया। प्रत्येक पदार्थ की जिस समय में जो पर्याय होनी होगी, दूसरे समय जो होनी होगी, तीसरे समय जो होनी होगी, वह होगी। यह तो क्रमबद्ध हुआ। जिस द्रव्य में, जिस समय, जो पर्याय होनी होगी वह होगी, ऐसा भगवान ने देखा है। तो होनेवाली होगी, होगी तो हमारे उसमें पुरुषार्थ करने का अवकाश कहाँ रहा? ऐसा प्रश्न लोग उठाते हैं। अरे! सुन तो सही, भाई!

सर्वज्ञ परमात्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन लोक, तीन काल विशेषरूप से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् जानते हैं। ऐसी सर्वज्ञ पर्याय का स्वीकार हुआ, अपनी पर्याय में—अपनी अवस्था में, सर्वज्ञ जगत में हैं—ऐसा पर्याय में स्वीकार हुआ, सत्कार हुआ, आदर हुआ अर्थात् कि सर्वज्ञ की स्तुति अपने में हुई। किस प्रकार से हुई?—कि निज ज्ञायक स्वभाव-



सन्मुख देखने से क्रमबद्ध होता है। मैं तो पर का कर्ता नहीं और मुझमें दया, दान, पुण्य का राग आता है, वह भी मेरा कर्तव्य नहीं, मैं करनेवाला नहीं। मैं तो सर्वज्ञपर्याय का स्वीकार करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ की पर्याय की स्तुति करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञस्वभाव मुझमें है, उसका आदर करनेवाला मैं हूँ, ऐसी जब प्रतीति हुई, उसमें स्वभावसन्मुख का अनन्त पुरुषार्थ हुआ। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! कहाँ अरे..! देखे परन्तु प्रभु?

यह सर्वज्ञ परमात्मा जिनपति-जिनदेव जगत में हैं और उनकी दिव्यशक्ति की व्यक्तता / प्रगटता पूरी हो गयी। उसका जिसकी वर्तमान पर्याय में, अवस्था में, हालत में आदर हुआ (कि) अहो! यह है। अतः उसका आदर कब हुआ? कि अपना पुरुषार्थ अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति करेगा, तब सर्वज्ञ का आदर-जिनपति का (आदर) हुआ, ऐसा कहने में आता है। भारी सूक्ष्म बात!

यह बाहर के भगवान का नहीं। सेठी! बाहर के भगवान सर्वज्ञ होंवे न समवसरण में? साक्षात् समवसरण में परमात्मा विराजमान हैं। वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर परमात्मा साक्षात् केवलज्ञानरूप से विराजमान हैं। महाविदेहक्षेत्र पृथ्वी के ऊपर है। वर्तमान पाँच सौ धनुष ऊँचे, करोड़ पूर्व का जिनका आयुष्य है, ऐसे बीस तीर्थकर भगवान साक्षात् भरतक्षेत्र के आगे महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान विराजमान हैं। कहते हैं कि उनके समवसरण में उनके दर्शन करने से शुभभाव होता है, धर्म नहीं। अरे! गजब! समझ में आया?

धर्म कब होता है? कि यह सर्वज्ञ है, ऐसा अपनी अल्पज्ञ में, अपनी अल्पज्ञ पर्याय है न वर्तमान में? तो यह सर्वज्ञ है, ऐसी सत्ता का स्वीकार, ऐसी सत्ता का हकार, ऐसी सत्ता का सन्मान करनेवाली की दृष्टि अपने ज्ञानस्वभाव पर झुकती है, तब वह सर्वज्ञ है, उसे ऐसे सत्कार की श्रद्धा हुई। शोभालालजी! यह तो २२ दिन रह गये न, परिचय में है। ये कहते थे कि बड़े भाई को लाऊँगा। समझ में आया? अरे! भगवान! तेरी महिमा कैसी है, उसकी तुझे खबर नहीं। बाहर में भटकता है। देह की क्रिया, जड़ की क्रिया, वाणी की क्रिया, अन्दर शुभाशुभ परिणाम हों, तो वह मेरी क्रिया, अरे! सुन तो सही। वह तो विकार क्रिया है। समझ में आया? तेरी क्रिया सर्वज्ञपद में अन्तर... ओहो! मैं अल्पज्ञ वर्तमान हूँ परन्तु अल्पज्ञ रह नहीं सकता। मैं तो सर्वज्ञ हो सकता हूँ। मैं सर्वज्ञ हो सकता हूँ। क्योंकि सर्वज्ञ परमात्मा विराजमान हैं, वे आत्मा हैं, तो उस आत्मा में से सर्वज्ञपद की पर्याय प्रगट हुई है, उसे कोई पुण्य-पाप की क्रिया या व्यवहार की क्रिया या निमित्त से हुआ नहीं। ऐसे भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा... यह तो लॉजिक से-न्याय से बात चलती है कि ये ऐसे हैं तो ऐसे होंगे।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा इसकी दृष्टि में, ज्ञान में कब आवे ? यह कहा न भाई पहले, 'वंदितु सव्वसिद्धे' समयसार शुरु किया न ! समयसार शुरु किया । कुन्दकुन्दाचार्य । 'वंदितु सव्वसिद्धे' इस प्रकार से पहला पद शुरु किया समयसार ४१५ गाथा में पहली गाथा । इसका अर्थ क्या ? टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'वंदितु सव्वसिद्धे' उसकी दृष्टि कहाँ है ? जो सर्व सिद्ध को वन्दन करता है, उसकी ( दृष्टि कहाँ है ) ? मैं सर्व सिद्ध का आदर करता हूँ । अर्थात् मैं संयोग का आदर नहीं करता, दया, दान, पुण्य, पाप के भाव का सत्कार नहीं करता, मैं तो अनन्त सिद्धों का सत्कार करता हूँ । कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अरे ! भव्य प्राणियों ! मैंने मेरे आत्मा में सिद्धपद को स्थापित किया है । तुम्हारे— श्रोता के हृदय में भी हम सिद्धपद को स्थापित करना चाहते हैं । तू सिद्ध है, ऐसी पहली हाँ कर । आहाहा ! नवनीतभाई ! 'वंदितु सव्वसिद्धे' टीका अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसी ली है ।

अपने आत्मा में अनन्त सिद्ध, अनन्त सिद्ध, अभी तक जो अनन्त सिद्ध हुए, केवलज्ञान प्राप्त करके अशरीरी परमात्मा हुए, उन सबका आदर करता हूँ, प्रभु ! मेरी दशा में आप अनन्त सिद्ध आ जाओ, हम सत्कार करते हैं । पधारो ! किस प्रकार पधारना होता है ? वे तो आते नहीं परन्तु अपनी पर्याय में अनन्त सिद्धों का आदर करने से अपना द्रव्यस्वभाव सर्वज्ञपद जो अन्दर है, उसका आदर होता है । उसके आदर में निमित्त का आदर छूट जाता है, राग का आदर छूट जाता है, अल्पज्ञ की वर्तमान पर्याय का आदर छूट जाता है, तब अनन्त सिद्धों को आत्मा में स्थापित कर सकता है । समझ में आया ?

श्रोता को कहते हैं कि हम तुम्हारे हृदय में सिद्धपद को स्थापित करके पश्चात् तुम्हें समयसार सुनायेंगे । समझ में आया ? लोग जाते हैं या नहीं ? दूसरे गाँव जाना हो तो वार-क्वार हो तो प्रस्थाना रखते हैं । तुम्हारे हिन्दी में क्या कहते हैं ? प्रस्थाना कहते हैं या नहीं, आज तो मंगलवार है, ठीक नहीं, कल बुधवार को जाना है तो प्रस्थाना रखो उस रूप से । पश्चात् जाते समय ले जाएँगे । इसी प्रकार परमात्मा—सिद्ध परमात्मा; कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं ( कि ) हम तेरी ज्ञान की दशा में सर्वज्ञपद का पस्ताना रखते हैं । अभी सर्वज्ञपद प्राप्ति का काल नहीं है, परन्तु जब काल आयेगा, तब इसमें से उठाकर सर्वज्ञ हो जाएगा । प्रस्थाना रखते हैं या नहीं ? वार-क्वार हो कि भाई ! कल क्वार है, आज नहीं । इसलिए रखो बाहर । फिर जाते समय ले जाएँगे । कल दो दिन बाद ले जाऊँगा ।

इसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा, वर्तमान में कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं, देखो ! यह

शक्ति की इसमें प्रतिष्ठा करते हैं। तेरी पर्याय में—हालत में सर्वज्ञपद का प्रस्थाना रखते हैं, वहाँ रखते हैं। जब तेरी दृष्टि अनन्त सिद्ध का आदर करनेवाली हुई तो अन्तर सर्वज्ञस्वभाव का पर्याय में आदर हुआ तो पर्याय में अनन्त सिद्धों को तूने स्थापित किया। राग नहीं, पुण्य नहीं, व्यवहार विकल्प जितने उठे, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान हो, परन्तु आदर नहीं है। सेठी! है, जाननेयोग्य चीज़ रह जाती है। जाननेयोग्य, आदरनेयोग्य नहीं। आदरनेयोग्य तो अपना भगवान है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पहली गाथा में शुरु किया। हमारे हृदय में, ज्ञान में अनन्त सिद्धों को हमने स्थापित किया है। मेरी ज्ञान अल्पज्ञ पर्याय है, परन्तु अनन्त सर्वज्ञ को मैं अन्तर सत्कार करता हूँ। किस प्रकार से सत्कार करता हूँ?—कि मेरे स्वभाव के ऊपर मेरी दृष्टि पड़ी है न, तो स्वभाव में सर्वज्ञपद पड़ा है, उसका मेरी पर्याय में आदर हुआ। तो अनन्त सिद्धों का आदर हो गया। सूक्ष्म बात तो है, भाई! अध्यात्म बात ऐसी सूक्ष्म है कि इसने कभी अनन्त काल में बात सुनी नहीं—सुनी नहीं। बाहर में क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति औ उसमें धर्म... धर्म... धर्म... धर्म... संवर और निर्जरा मान करके अवतार खो बैठा। समझ में आया ?

कहते हैं कि भगवान! यह सर्वज्ञपद, जाना (कि) जगत में ऐसा होगा। उसमें आया न यह तो ? हे नाथ! आपकी आज्ञा में तीन भुवन हैं—तीन लोक हैं। आपके ज्ञान के वश हैं। ज्ञान के वश हैं, इसका अर्थ समझे?—कि ज्ञान में सब ज्ञात हो गया है। ज्ञान में सब ज्ञात हो गया है, तत्प्रमाण होगा। चक्रवर्ती की आज्ञा फिरे परन्तु आपकी आज्ञा जगत में छह द्रव्य से नहीं फिरती। आपने जैसा देखा, वैसा वहाँ होगा ? परन्तु इसकी प्रतीति करनेवाले की पुरुषार्थ गति कहाँ होती है ? कि भगवान ने देखा होगा, वैसा होता है। तो ज्ञान, सर्वज्ञ परमात्मा है तो ऐसा ही होता है, तो मैं भी सर्वज्ञ होने के योग्य—मेरी शक्ति में सर्वज्ञपद पड़ा है। ऐसा अन्तर्मुख होकर प्रतीति करे तो वह अनन्त पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख हो जाता है। अनन्त पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख होता है और विकार तथा निमित्त से विमुख होता है। तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। समझ में आया ? यह तो आज सब हिन्दी चला। यह सेठ आये। और थोड़ा न समझे तो। समझ में आया इसमें कुछ ?

अरे! भगवान केवलज्ञानी प्रभु, सबको जाने! कि इस भव में यह महावीर भगवान (होगा)। पहले अनन्त केवली हुए तो केवली के ख्याल में आया था कि महावीर भगवान का जीव इस समय केवल(ज्ञान) पाकर मोक्ष जाएगा। ख्याल है या नहीं ? भगवान के ज्ञान में है

या नहीं ? भगवान का पूर्व भव, दसवाँ भव सिंह का था, सिंह का। सिंह हिरण को मारता था। दसवें भव में तो तीर्थकर होनेवाला है। परन्तु दस भव पहले ? वहाँ दो मुनि ऊपर से उतरे। नग्नदिगम्बर मुनि ऊपर से आये। यह (चित्र) सामने है न यहाँ। यह सामने रहे। सामने है सामने, देखो ! दो मुनि खड़े, यही न ? हाँ, यह। देखो ! सिंह सामने है। इस दरवाजे के सामने। सिंह हिरण को ऐसे थाप मारकर खाता था। वहाँ दो मुनि ऊपर से उतरे। अरे ! हमने सुना है कि तुम दसवें भव में तीर्थकर होओगे। यह क्या ? सिंह को भी ऐसा लगा कि ऊपर से मुनि आये ! मेरे पास आते हुए सब मनुष्य डरते हैं और यह ऊपर से निकट आये। ऊपर से नजदीक आये।

**श्रोता :** ऊपर जानेवाले हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह नीचे आये। नीचेवाले डरकर भाग जाते हैं, यह तो ऊपर से नीचे आये। क्या है ? सिंह को विस्मयता हुई।

अरे ! आत्मा ! मैंने सर्वज्ञ परमात्मा के निकट सुना है कि आप तो दसवें भव में तीर्थकर होओगे। यह चीज़ (हिरण फाड़ना आदि) आपको शोभा नहीं देती। आहाहा ! आँख में आँसू की धारा, आँसू की धारा बहती है। समाधिमरण किया। माँस-माँस छोड़ दिया और समाधिमरण किया, तो सर्वज्ञ ने पहले देखा है या नहीं ? कि इस भव में यह सिंह सम्यक्त्व पायेगा, पश्चात् अमुक भव में मोक्ष होगा। तो सर्वज्ञ ने देखा ऐसा ही होगा, परन्तु सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाला पर का कर्ता मिटकर, राग का कर्ता मिटकर अपने स्वभाव की दृष्टि करता है, तब उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है। तब भगवान ने देखा, ऐसा माना। अकेला माने तो स्वच्छन्दी है। होना होगा वह होगा, हमारे क्या ? ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

अभी पण्डित लोगों में बड़ी गड़बड़ चलती है न, सोनगढ़ के सामने ! यहाँ सोनगढ़ कहता है कि क्रमबद्ध होगा। समय-समय में जो द्रव्य की पर्याय होगी... होगी... होगी... क्रमसर। एक के बाद दूसरी, पश्चात् तीसरी, ऐसा। आज रविवार हुआ है, रवि के पश्चात् सोम; सोम के पश्चात् मंगल; मंगल के पश्चात् बुध, गुरु, शुक्र आयेंगे। रविवार के पश्चात् गुरुवार आवे, ऐसा कभी नहीं होता। ऐसे अनन्त द्रव्य की पर्याय जिस समय में जो होनेवाली है, वह होगी। दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी। समझ में आया ? समझ में आया इसमें ?

शनि, रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि। क्रमसर आते हैं। आगे-पीछे वार आते हैं ? आगे-पीछे वार नहीं आते। इसी प्रकार नक्षत्र। एक के बाद एक नक्षत्र आता है। एक के

बाद एक। अश्वनी, धरणी, कृतिका, रोहिणी... इत्यादि... इत्यादि... इसी प्रकार भगवान आत्मा और सब द्रव्य पदार्थ, जिस समय में जो उसका स्वकाल-कार्यकाल है, जिस समय का कार्यकाल है, उस समय में वह पर्याय होगी। परन्तु ऐसी प्रतीति करनेवाला, उसकी दृष्टि पर से हटकर, राग-व्यवहार से हटकर, अल्पज्ञ पर्याय से दृष्टि हटकर सर्वज्ञस्वभाव पर दृष्टि होती है, तब भगवान ने देखा, वैसा होगा, इसकी सच्ची प्रतीति हुई। जरा सूक्ष्म बात है। हीरालालजी! समझ में आया? ये तो भारी गड़बड़ है। कभी सुना नहीं। यह झ्रया?

क्या कहते हैं, देखो! **समस्त विश्व के विशेष भावों को...** जगत में समस्त पदार्थों का समूह पड़ा है लोकालोक, उसका विशेष भाव, पृथक्-पृथक् पर्याय, गुण और द्रव्य **जाननेरूप परिणमित...** भगवान आत्मा का ज्ञान सर्वज्ञशक्ति के कारण से जाननेरूप हुआ, परिणमन हुआ, ऐसा आत्मज्ञानमय-आत्मज्ञानमय... कितने ही कहते हैं कि सर्वज्ञ ने लोकालोक देखा, यह तो व्यवहार है, इसलिए वास्तव में लोकालोक देखते नहीं इसलिए वास्तव में सर्वज्ञ नहीं है। मिथ्या बात है। यहाँ तो कहते हैं कि लोकालोक का ज्ञान, लोकालोक के समूह का अपनी ज्ञानपर्याय में सर्वज्ञ स्वभाव की अन्तर्दृष्टि करने से जब एकाकार पर्याय—परिणति हुई, वह आत्मज्ञानमय सर्वज्ञशक्ति (परिणमित हुई)। वे सर्वज्ञ पर को जाने, इसलिए नहीं है। पर को जानना और स्व को जानना, वह अपनी एक समय की पर्याय के सामर्थ्य में अपने में हुआ है। पर को जानना, ऐसा कहना, वह तो व्यवहार है। बहुत सूक्ष्म बात।

आत्मज्ञानमय। कितने ही कहते हैं कि सर्वज्ञ न? तो पर को जाने। इसलिए वास्तव में सर्वज्ञपना हो नहीं सकता। दूसरे को मानो नहीं हो सकता। यहाँ तो कहते हैं कि स्व और पर सर्व की अपनी ज्ञानपर्याय में, अपने ज्ञानसामर्थ्य में आत्मज्ञानमय सर्वज्ञशक्ति में स्व और पर पूर्ण अपने में ज्ञात हो जाते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। सूक्ष्म बात। समझ में आया?

**आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञ शक्ति।** कही है। आत्मज्ञान, अपनी पर्याय में अन्तर स्वभावसन्मुख—अन्तर्मुख हुआ तो विकार और निमित्त का अनादर और निषेध हुआ, आदर रुक गया। अन्तर में एकाकार होकर अपनी आत्मज्ञानमयी पर्याय में सर्वज्ञपना परिणम गया है, वह लोकालोक के कारण से नहीं। सेठी! गजब! आत्मज्ञानमयी। वे पण्डित लोग विवाद करते हैं न? भगवान ने देखा, ऐसा नहीं। भगवान ने तो पर को जाना, यह तो व्यवहार है। इसलिए सर्वज्ञपना तो उपचार से है। अरे! सुन तो सही!

आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति। अपनी पर्याय में... फिर तुरन्त ही दर्पण का लेंगे। पश्चात्

दर्पण का स्वच्छत्व लेंगे। अपने आत्मा में... आहाहा! इसमें कभी इसका निधान अन्दर में शोधना-अवलोकना (किया नहीं)—अवलोकन कभी किया नहीं। अनादि काल से पुण्य-पाप, शुभाशुभभाव, संयोग का अवलोकन किया, परप्रकाशक रहा, स्वप्रकाश का नाश किया, मिथ्यादृष्टि होकर चौरासी में भटका। समझ में आया? कहते हैं कि एक बार तेरे अन्तर में चैतन्यनिधान में सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, उस सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति तू स्वभाव सन्मुख होकर कर तो तुझे ख्याल आयेगा कि जब सर्वज्ञपद परिणमेगा तब एक समय में सर्व लोकालोक का ज्ञान मेरी पर्याय में मेरे कारण से हो जाता है, पर के कारण से नहीं, पर में नहीं। अपना सर्वज्ञपद अपनी पर्याय में परिणम जाता है। भारी सूक्ष्म! पाटनीजी! कहते हैं न यह लोग सब विवाद करते हैं।

यह तो आत्मज्ञानमयी, सर्वज्ञशक्ति कही है। सर्वज्ञशक्ति। जैसे चौंसठ पहरी पीपर पर्याय में हो गयी, स्वयं के कारण से स्वयं की पर्याय में हुई है, चौंसठ पहरी कहीं पत्थर में से नहीं हुई। शक्ति में जो थी, वह अपनी पर्याय में प्रगटी। उस पर्याय की चौंसठ पहरी की ताकत है। तो उस छोटी पीपर की पर्याय का वह स्वरूप है। इसी प्रकार ऐसा अपना सर्वज्ञस्वभाव शक्तिरूप, गुणरूप अन्तर में पड़ा है, उसकी प्रतीति और अनुभव करता है। जब सर्वज्ञपद पर्याय प्रगटी, अपनी पर्याय में सर्वज्ञ—आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञ हुए हैं, परज्ञानमयी नहीं। भारी बात। समझ में आया?

देखो! क्या शब्द पड़ा है? यह तो अमृत है, अमृत! ४७ दैवी शक्ति का वर्णन। ऐसी अनन्त शक्तियाँ तो एक जिन्दगी में कही नहीं जा सकती। क्योंकि एक सेकेण्ड में एक कहे तो अनन्त सेकेण्ड चाहिए, तो अनन्त सेकेण्ड में तो अनन्त वर्ष जाते हैं। ४७ शक्ति का वर्णन करके भगवान निधान सच्चिदानन्द प्रभु, परमब्रह्म आत्मा भगवान, उसमें सर्वज्ञपद पड़ा है। तेरे निजपद में सर्वज्ञपद पड़ा है। पर की दृष्टि छोड़ दे। मैं पर को करनेवाला और पर में फेरफार करनेवाला, आगे-पीछे करनेवाला। किसका करे तू? उसकी पर्याय उसके काल में होगी, उसमें तेरा क्या कार्य है? मुझमें राग भी आगे-पीछे कर दूँ, तू क्या कर सकता है? पर्याय में राग आनेवाला है, वह आता है। तू ज्ञायक होकर स्वभाव के ऊपर दृष्टि देकर जान कि राग हुआ। जाननेवाला हूँ। तू जाननेवाला है। दूसरी कोई चीज़ तू नहीं है। सेठी! भारी सूक्ष्म, भाई! एक को बैठाने जाए तो दूसरी उठी, दूसरा बैठाने गये तो तीसरी उठी, नवनीतभाई! यह मक्खन है। आहाहा!

अरे! भगवान! लो! एक का नाम भगवानदास है। देखो! यहाँ भगवान का आदेश करते

हैं, हों! गुरु ऐसा ही कहते हैं, शिष्य को ऐसा ही कहते हैं। हे भगवान! ऐसा कहते हैं। प्रभु! तू तो प्रभु है न! लड़के को बाप नहीं कहते? ऐ! होशियार! ऐसा कहते हैं या नहीं? भाई! तू तो चतुर है न, भाई! चतुर कहते हैं न? सयाना-सयाना। तुम्हारी भाषा में सयाना कहते हैं। हमारी भाषा में डाह्यो कहते हैं। डहापना डाल। डाह्या! तू तो चतुर है न भाई! तुझे कुछ यह क्लेश-तूफान शोभा देता है? पालवे को हिन्दी में क्या कहते हैं? शोभता है? तुझे क्लेश शोभता है? बालक! तू तो सयाना है न।

इसी प्रकार भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा और सन्त आत्मा को प्रभु कहकर बुलाते हैं। पहले प्रभुत्वशक्ति आ गयी है। प्रभुत्वशक्ति पहले आ गयी है—आठवीं। आठवीं थी न? सातवीं-सातवीं। पहले सातवीं शक्ति आ गयी है। पश्चात् आठवीं विभुत्व, नौवीं सर्वदर्शी और यह दसवीं। हे भगवान! समयसार में बहुत जगह आता है। भगवान आत्मा। वह पामर नहीं है। वह पुण्य-पाप के विकल्प में अटका, वह आत्मा नहीं है। समझ में आया? वह तो आस्रवतत्त्व, आस्रवतत्त्व है। आस्रव में रुके, वह आत्मा नहीं है। आस्रव से भिन्न पड़कर अपनी दृष्टि अपने अनुभव में करे, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया? अरे! उसे उसके समय का भान, समय अर्थात् आत्मा, उसका एक समय भी भान अनन्त काल में किया नहीं और बाहर से धर्म खोजने-शोधने लगा। बाहर से मिलेगा। धूल में भी बाहर नहीं है। तेरा चैतन्यपिण्ड अन्दर पड़ा है। समझ में आया? आहाहा! यहाँ से मिलेगा... यहाँ से मिलेगा... यहाँ से मिलेगा... आता है न भाई उसमें! नहीं? बनारसीदास। 'कोई ... चढ़कर यात्रा करके भगवान वहाँ से आते हैं।' तेरे भगवान वहाँ नहीं हैं। सेठी! तेरा भगवान तो अन्दर विराजमान है। तेरी महिमा की तुझे खबर नहीं है। मृग की नाभि में कस्तूरी है। कस्तूरी मृग की नाभि में है। वह गन्ध बाहर से नहीं आती। वन में शोधता है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने स्वभाव की सुगन्ध अपनी शक्ति में रखता है। अपने गुणधाम में रखता है। चैतन्य भगवान धाम, उसमें असंख्य प्रदेश में अनन्त चैतन्य... यह तो कहा था न एक बार? नहीं? 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण केवली बोले ऐम।' हे सर्वज्ञ परमात्मा, सन्त ऐसा कहते हैं। 'जहाँ चेतन वहाँ सर्व गुण।' सर्व गुण अर्थात् यह शक्तियाँ तुझमें सब पड़ी हैं। 'केवली बोले ऐम, प्रगट अनुभव आपका यह निर्मल करो सप्रेम, रे चैतन्यप्रभु तेरी ऋद्धि रे तेरे धाम में।' हे चैतन्यप्रभु! तेरी सम्पदा रे तेरे धाम में। अन्यत्र कहीं मिले ऐसा नहीं है। तेरे पास पड़ी है, परन्तु तुझे तेरी खबर नहीं है। क्योंकि करवट बदली नहीं है। पडखूं समझे न? क्या कहते हैं? करवट। ऐसी करवट बदलकर देखता है पर्याय को, राग को, निमित्त

और पर को, परन्तु करवट बदलकर अन्दर में मेरे निधान में शक्ति पड़ी है, ऐसा करवट बदलकर देखता नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

यह व्यवहार के-निमित्त के झगड़े। नवनीतभाई ! अभी कल ही आया है। निश्चय जितना व्यवहार है। उपादान जितना निमित्त है। अरे ! प्रभु ! सुन तो सही ! निमित्त तो एक बारदान रूप से बाहर की चीज़ है। आहाहा ! अपनी उपादान शक्ति की पर्याय अपने सन्मुख होकर प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान ( प्रगट होते हैं ), वह राग और निमित्त की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से प्रगट होते हैं। ऐसा आत्मा का निरपेक्ष सम्यग्दर्शन स्वभाव है। तो कहे, नहीं। व्यवहार से ( होता है )। धूल में भी नहीं होता, सुन न ! व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार करें, व्यवहार करें तो निश्चय प्राप्त होगा। ऐई ! शून्य में से एकडा आयेगा ? व्यवहार तो कोयला है। कोयला रखकर लाख मण साबुन से धोकर सफेद होगा ? एक बार दियासलाई लगा दे। दियासलाई लगावे तो कोयला सफेद होगा, ऐसा का ऐसा नहीं होगा लाख मण साबुन से।

इसी प्रकार तेरी पर्याय में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा का राग है, वह व्यवहार विकल्प कोयला है। दियासलाई लगा कि इससे धर्म नहीं होता। समझ में आया ? इससे होगा... इससे होगा। लाख मण साबुन से कोयला सफेद नहीं होता। आहाहा ! बहार से कठिन लगे न मनुष्य को। क्यों फूलचन्दजी ? कैसे है यह बाहर ? बराबर है ? व्यवहार का लोप हो जाता है। आहाहा ! अरे ! निश्चय और व्यवहार दोनों समकक्ष रखो। अरे ! सुन तो सही अब। तेरा व्यवहार तो बारदान-थैली है। माल तो चावल है। समझ में आया ? चार मण, ढाई सेर चावल की होती है न थैली-थैली, थैली। तौलने में आती है। चार मण ढाई सेर। ढाई सेर तो वारदान है, चार मण चावल है। ढाई सेर चावल छूटे तो कहीं बारदान पकता है ? बारदान की रसोई होती है ?—कभी नहीं। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपनी पर्याय में पुण्य-पाप, दया-दान के विकल्प होते हैं, वे बारदान हैं। उनसे हटकर चैतन्य आनन्दकन्द की दृष्टि और अनुभव करता है, तब व्यवहार की अपेक्षा नहीं रहती। व्यवहार को सुलगा दे कि तेरा आश्रय मुझे नहीं है। तुझसे मुझे निश्चय प्रगट नहीं होता। समझ में आया ? भारी गड़बड़। नरभेरामभाई !

व्यवहार के स्थान में व्यवहार हो, परन्तु उससे निश्चय की प्राप्ति होती है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। समझ में आया ? यह कहते हैं कि भगवान ! जब सर्वज्ञशक्ति प्रगट हुई, तब लोकालोक जाना। ऐसी तुझमें सर्वज्ञशक्ति है, ऐसा तू अन्तर्मुख होकर प्रतीति कर तो



तुझे प्रतीति में आयेगा रागादि होते हैं, उनका मैं जाननेवाला हूँ। संयोग में शरीर, वाणी, मन में जो क्रिया होती है, वह हो। मैं जाननेवाला हूँ, मैं करनेवाला नहीं। कर्तापना छोड़कर सर्वज्ञ की श्रद्धा करनेवाले आत्मा के ज्ञान को अकर्ता (करते हैं), विकार और पर का अकर्ता करते हैं। अकर्ता करते हैं, तब सर्वज्ञ की प्रतीति का सम्यग्दर्शन हुआ। जब तक मैं राग करूँ, मैं निमित्त लाऊँ, निमित्त जुटाऊँ—ऐसी दृष्टि पड़ी है, तब तक दृष्टि में मिथ्याधर्म है। समझ में आया? तुझे भ्रमणा है। क्या मिला कर सके? तू परचीज को मिला सकता है? और तू पर चीज को दूर कर सकता है? ऐसी तुझमें ताकत है? परपदार्थ पराधीन है कि तेरे आधीन होकर दूर हो जाए और तेरे आधीन होकर नजदीक आवे? ऐसा नहीं होता। और तुझमें रागादि पर्याय हुई, उस काल में आनेवाली हो वह आती है, होती है, परन्तु कहते हैं कि आत्मा सर्वज्ञ है और उन्होंने देखा होगा—ऐसा जिसे अपने स्वभाव में निश्चय हुआ, उसे व्यवहार का लक्ष्य हट जाता है और स्वभाव की दृष्टि में लीन होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है। सेठी! कहाँ तो निरपेक्ष निश्चय रहा एक। व्यवहार किया इसलिए हुआ... व्यवहार किया इसलिए हुआ... लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आयी।

**श्रोता :** दुनिया में तो नहीं आती।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दुनिया में आती है? यह ढोकला-ढोकला बनाते हैं न? क्या कहते हैं? ढोकला बनाते हैं न? प्याज—प्याज-डुंगली, लहसुन-लहसुन आता है न? ढोकला बनाते हैं न? ढोकला को तुम्हारे हिन्दी में क्या कहते हैं? चावल की ढोकली में ऊपर डालकर बनाते हैं। बाद में मिर्ची डालते हैं। लहसुन की चटनी। यह खूब खाने के बाद कस्तूरी की डकार आती है? धूल में भी नहीं आती।

इसी प्रकार विकल्प और पुण्य-पाप का कर्ता होकर अन्तर्मुख हो, ऐसा कभी तीन काल में नहीं बनता। समझ में आया? आत्मा सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाला, भगवान ने देखा वैसा होगा—ऐसी श्रद्धा करनेवाला आत्मा को ज्ञान में अकर्ता बनाता है। मैं राग का भी कर्ता नहीं, व्यवहार का भी कर्ता नहीं। व्यवहार हो भले, परन्तु व्यवहार मेरा कर्तव्य है, इसलिए करूँ—ऐसी दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया? देवीलालजी! परन्तु कठिन बहुत, हों! लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो जैन परमेश्वर का मार्ग ऐसा होगा! यह वीतराग का यह मार्ग है? बाकी सब कल्पित अज्ञानी ने कर डाला है। वीतराग का मार्ग तीन काल तीन लोक में 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' परमार्थ का पंथ दो-तीन-चार नहीं होते। एक ही पंथ यह जो कहने में आता है, वह एक ही पंथ है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ का पंथ यह ही है। सन्त, दिगम्बर

महामुनि जंगल में-वन में बसनेवाले हैं, उन्होंने पुकार करके यह ( एक ) मोक्षमार्ग बताया है । दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है ।

कहते हैं, अहो ! समस्त विश्व के... विश्व अर्थात् लोकसमूह, लोकालोक समूह । विशेष भावों को... और ऐसा कहे कि इस भव में इन्द्र मोक्ष जाएगा, भगवान ऐसा नहीं जानते, नहीं जानते तो भगवान ने जाना क्या ? तो भगवान कहाँ रहे ? समय-समय की तीन काल तीन लोक की द्रव्य की पर्याय भगवान ने देखी है । साक्षात् केवलज्ञानी महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं । भगवान पाँच सौ धनुष ऊँचे हैं । समवसरण में वर्तमान विराजते हैं । महाविदेहक्षेत्र में जमीन से सीधे, हों ! सीधे ! देवलोक में नहीं । महाविदेहक्षेत्र है, वहाँ विराजते हैं । वर्तमान भगवान त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर । सीमन्धर प्रभु जैसे बीस तीर्थकर महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान मनुष्य देह में करोड़पूर्व का आयुष्य, पाँच सौ धनुष के देह में विराजमान हैं और महाविदेहक्षेत्र में लाखों केवली विराजमान हैं, लाखों केवलज्ञानी । यह तो तीर्थकर कहे । जिनका पुण्य भी बड़ा और पवित्रता भी बड़ी । पवित्रता और पुण्य में पूर्ण, उन्हें तीर्थकर कहते हैं । पवित्रता पूर्ण परन्तु पुण्य किंचित् हो, ऐसे जीव को केवली कहते हैं । समझ में आया ?

भगवान के मुख में से यह बात निकलती है कि हम सर्वज्ञ हैं, तू सर्वज्ञ, तेरे गर्भ में सर्वज्ञ स्थित है । गर्भ में बालक हो, तब जन्मता है न ? गर्भ में हो कुत्ती और जन्मे मनुष्य, ऐसा होता है ? उसी प्रकार भगवान आत्मा में अल्पज्ञ शक्ति हो और प्रगट सर्वज्ञ शक्ति हो, ऐसा होता है ?—नहीं । अन्तर में सर्वज्ञशक्ति आत्मा के गर्भ में-पेट में पड़ी है । पेट समझे ? पेट अर्थात् शरीर नहीं; आत्मा के मध्य में ।

भगवान असंख्यप्रदेशी चिद्घन आनन्दमूर्ति के मध्य में, जैसे समुद्र के मध्य में से पानी उछलकर बाढ़ आती है । कहाँ से बाढ़ आती है ? ऊपर २५ इंच बरसात हुआ हो और हजारों नदियाँ समुद्र में मिले, परन्तु जब उनके भाटा का समय हो । ओट को क्या कहते हैं ? भाटा—वापिस मुड़ने का काल हो तो वह वर्षा सौ नदी के पानी में ज्वार नहीं ला सकती है ?—कभी नहीं ला सकती और मध्यबिन्दु में से जहाँ ज्वार उठा और १२०-२५ डिग्री गर्मी हो तो भी मध्यबिन्दु में से जब समुद्र किनारे आता है, तब उस ज्वार को रोकने में कोई समर्थ नहीं है । समझ में आया ? बाहर की गर्मी रोक नहीं सकती और बाहर की नदी के पानी ज्वार ला नहीं सकते ।

इसी प्रकार पुण्य-विकल्प से ज्ञान का स्मरण, शास्त्र का वाँचन और व्यवहार श्रद्धा

करना, इससे आत्मा में ज्ञान का ज्वार और श्रद्धा का ज्वार आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? सर्वज्ञस्वभाव उसके मध्य में पड़ा है भगवान आत्मद्रव्य में अन्दर। जैसे पीपर में चौंसठ (पहरी) शक्ति अन्दर मध्य में पड़ी है, वैसे भगवान आत्मा में सर्वज्ञपद पड़ा है। उसकी अन्तर्दृष्टि करने पर, अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह अन्तर में से पर्याय आयी है, किसी राग में से, निमित्त में से नहीं आयी और वही वर्तमान में स्थिर होकर एकाग्र होते... होते... होते... सर्वज्ञ हो जाएगा। अन्तर का अनुभव करने पर निर्विकल्प में-आनन्द में रहने से सर्वज्ञ हो जाएगा। कोई क्रियाकाण्ड करते-करते केवलज्ञान होगा, ऐसी बात तीन काल तीन लोक में आत्मतत्त्व में नहीं है। समझ में आया ? परन्तु यह बात रुचना-रुचना, सुहाना कठिन है। गोठे समझे न ? रुचना। अन्दर श्रद्धा में लाना कि यह ही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग तीन काल तीन लोक में नहीं है। भगवान के पास जाए, इन्द्र के पास जाए, भरत में हो परन्तु मार्ग तो यह एक ही है, दूसरा मार्ग है ही नहीं। तो कहते हैं... आहाहा!

**आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** कहो, पाटनीजी! पर को जाने, इसलिए पर की सर्वज्ञशक्ति, ऐसा नहीं। जैसे कुछ खट्टा लगा खट्टा। इमली खट्टी है। अपने ज्ञान में जाना न कि यह खट्टी है, यह खट्टी है। तो ज्ञान परिणाम न, ऐसा खट्टा है, ऐसा ज्ञानरूप परिणामन है न ? या इमली में है ? या इमली से है ? इमली खट्टी होती है न ?

**श्रोता :** आपने तो कहा कि ज्ञानपना अन्दर...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अन्दर आया... ज्ञान में ज्ञात हुआ कि यह खट्टी है, परन्तु यह ब्रह्माल स्वयं का परिणाम है, इमली के कारण से नहीं, इमली में नहीं। अन्तर में ख्याल आया कि यह खट्टा। वह अपने ज्ञान में परिणामन हुआ है, उस ज्ञानरूप में परिणामन हुआ है। इसी प्रकार लोकालोक है, वैसा ज्ञानरूप में परिणामन हुआ है; लोकालोक में नहीं और लोकालोक के कारण से नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म!

मीठा लो, मीठा लो। क्या कहते हैं ? मीठा। मिश्री मीठी लगे, तो मीठी पर्याय तो जड़ में है। आत्मा में आती है ? वह तो जड़ है। ख्याल आया कि यह मिश्री मीठी है। तो ख्याल का ज्ञान की पर्याय में परिणामन स्वयं से हुआ है कि यह मीठा है, ऐसा परिणामन अपने में हुआ है, अपने कारण से हुआ है, मिश्री के कारण से नहीं, मिश्री में नहीं।

इसी प्रकार सर्वज्ञपद अपनी पर्याय में परिणाम है, लोकालोक के कारण से नहीं और लोकालोक में नहीं। परन्तु अपनी पर्याय में सर्वज्ञपद का परिणामन करके प्रगट हुआ है। अपना

सर्वज्ञपद आत्मज्ञानमयी पर्याय है, वह परमयी पर्याय नहीं। समझ में आया ? यह व्यवहार-निश्चय की बहुत गड़बड़ चलती है। ऐसी गड़बड़-गड़बड़ कि व्यवहार ही पूरा मालिक हो गया। माल बिना का साथ में एक छड़ीदार रखा, वहाँ वह मालिक हो गया कि मैं राजा हूँ। छड़ीदार रखते हैं न ? एक छड़ीदार रखते हैं। खम्मा अन्नदाता महाराजाधिराज विराजते हैं मालवा के अधिपति भर्तृहरि। वहाँ वह कहे, मैं हो गया। परन्तु तू नहीं है। यह तो वह है।

इसी प्रकार अन्दर में दया, दान, शुभाशुभपरिणाम हुए, कोई शुभ हुआ (तो) स्वामी हो गया कि हमें धर्म है। वह धर्म नहीं है। छड़ी तो निमित्त है। अन्तर की दृष्टि निमित्त से छूटकर मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा, मैं तो जानन-देखन त्रिकाल ज्ञायकभाव से कभी छूटा ही नहीं। कभी छूटा ही नहीं। मैं राग को कभी स्पर्शा ही नहीं। सेठ ! ऐसी आत्मा की दृष्टि हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। मैं कभी राग को स्पर्शा ही नहीं। निमित्त को तो स्पर्शा नहीं, व्यवहार उत्पन्न हो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा हो, आवे, परन्तु उसे मैं स्पर्शा नहीं, स्पर्शा नहीं। हमारी भाषा में अड़ा नहीं, ऐसा कहते हैं। स्पर्शा नहीं। विकार को चैतन्य स्पर्श और चैतन्य विकार को स्पर्श, ऐसा स्वरूप में है ही नहीं। समझ में आया ?

ऐसी आत्मा की सर्वज्ञशक्ति (का) अन्तर में जाकर पर्याय में प्रतीति हुई, अनुभव हुआ, उस सर्वज्ञशक्ति के धारक का साक्षात्कार हुआ। पर से हटकर मैं आत्मा पूर्णानन्द हूँ, ज्ञानशक्ति से भरपूर हूँ—ऐसी अपनी बुद्धि, राग के कर्तृत्व से और पर के कर्तृत्व से हट गयी तथा ज्ञान और आनन्द का परिणमन हुआ, उसने सर्वज्ञशक्ति है, ऐसा माना और प्रतीति हुई, ऐसा कहने में आता है। ऐसे भगवान सच्चे और तुम भी सच्चे, ऐसा नहीं चलता। ऐसा नहीं चलता। ऐसा नहीं चलता। भगवान के मार्ग में। भगवान सच्चे, प्रभु तू सच्चा, परन्तु तू यहाँ सच्चा हुए बिना वह सच्चा तुझे कहाँ से आया ? नवनीतभाई ! एक दसवीं शक्ति वर्णन की। आहाहा ! गजब ! पूरा जैनदर्शन का रहस्य रख दिया। अब ग्यारहवीं शक्ति स्वच्छत्वशक्ति लेंगे...

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव ! )

९

श्री समाधितन्त्र, श्लोक-३१-३२, प्रवचन - ४०  
दिनांक - १९-०१-१९७५

३१वीं गाथा। इसके विशेष का पैराग्राफ है। जब अन्तरात्मा,... अन्तरात्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यघन आनन्दस्वरूप अपने को सिद्धसमान... स्वयं सिद्धस्वरूपी है, ऐसा जानकर बुद्ध... वह ज्ञान का पिण्ड है, अकेला ज्ञायकस्वभाव है। और ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करता है... मैं एक जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, शुद्ध पवित्र हूँ, दर्शन-ज्ञान से भरपूर मेरा स्वभाव है, ऐसा जब आत्मा अन्तर्मुख होकर आत्मा की सेवा करता है। भगवान तो सेवा करनेवाले हैं और मैं सेवक हूँ, यह तो विकल्प है। आहाहा! तीर्थकर सर्वज्ञ परमात्मा, वे उपास्य-सेवा करनेयोग्य है और मैं सेवक हूँ—सेवा करनेवाला हूँ, यह तो विकल्प है। आहाहा! यह धर्म नहीं। मैं स्वयं ही शुद्ध, बुद्ध सिद्ध परमात्मस्वरूप भरपूर पदार्थ, वह मुझे उपास्य है और मैं उसका उपासक हूँ। समझ में आया ?

इस अभेदभावना के बल से... शुद्ध चैतन्यस्वभाव से भरपूर मैं अकेला ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाववाला हूँ। ऐसी अभेद भावना के बल से... भावना शब्द से एकाग्रता। शुद्धात्मा में तन्मय हो जाता है,... शुद्धस्वरूप में लीन हो जाता है, तब वह सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है;... बहुत संक्षिप्त बात की है। कहते हैं कि तुझे परमात्मा होना हो, पर्याय में-अवस्था में अरिहन्तपद को प्राप्त करना हो... आहाहा! वह तेरा अरिहन्त स्वरूप अन्दर है। अकेला शुद्ध ज्ञान, आनन्द का कन्द वह है। ऐसी अभेदबुद्धि से स्वरूप का सेवन करने से तन्मय हो जाए, तब सर्व बन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त में यह मुद्दे की रकम है।

इसीलिए स्वयं उपासक और अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य... वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि तू उपासक और मैं उपास्य, यह तो विकल्प है, यह तो राग है। समझ में आया ? आहाहा! तू उपासक और तू उपास्य। तेरा स्वरूप शुद्ध पवित्र बुद्ध आनन्दकन्द, परमस्वरूप परमात्मस्वरूप ही तू है। स्वभाव से-शक्ति से-गुण से वह परमस्वरूप ही है।

परमपारिणामिकस्वभाव। वह शुद्धात्मा उपास्य है, सेवा करनेयोग्य है और उसकी निर्मल पर्याय, वह उपासक है। ...भाई! बहुत कठिन बात। वीतरागमार्ग ऐसा है।

यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकर को प्रगट हुआ और देखा, जाना कि यह वस्तु है। तुझे यदि धर्म करना हो और परमात्मा अर्थात् सिद्धपना यदि प्रगट करना हो तो तेरा स्वरूप ही सेवन योग्य है। ऐ... पोपटभाई! अन्तर की सेवना में वह न रह सके, तब उसे विकल्प आवे। भगवान की भक्ति आदि का, वह सब पुण्यबन्ध का कारण है, ऐसी बात है।

**श्रोता :** पुण्य करते-करते धर्म होगा ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पुण्य करते करते होगा ? राग करते-करते संसार नाश होगा ? राग को छोड़ते हुए होगा। आहाहा! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु!

‘समाहिवरमुत्तमं दिंतु’ नहीं आता ? ...भाई! लोगस्स में आता है। ‘समाहिवरमुत्तमं दिंतु’ लोगस्स में आता है न ? ‘लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे...’ नहीं किया होगा। सामायिक में आता है। ‘लोगस्स उज्जोअगरे,’ लोक में उद्योत के करनेवाले तीर्थकरदेव। लोगस्स अर्थात् लोक की स्तुति—परमात्मा की। उसमें पाँचवाँ पाठ है, सामायिक में। पहला नमो अरिहंताणं, दूसरा .... तीसरा इच्छामि, चौथा... पाँचवाँ लोगस्स, छठवाँ... सातवाँ नमोत्थुणं। यह तो ७५ वर्ष पहले किया था। दस वर्ष की उम्र में। आहाहा! उसमें यह पहाड़े गिने। कुछ खबर नहीं। आहा!

कहते हैं कि ‘समाहिवर’ अर्थात् उत्तम मेरा स्वभाव जो समाधिस्वरूप है। आनन्द है। समाधि अर्थात् आनन्द। वह आनन्दस्वरूप ही मेरा सेवन करने योग्य मुझे है और मैं उसके निर्मल पर्याय द्वारा उसका सेवक हूँ। राग और विकल्प से नहीं। आहाहा! अरे! जिन्दगी चली जाती है। आँखें बन्द करके कहाँ जाएगा ? राग में रहेगा तो भटकना पड़ेगा, रात्रि में कहा था। विकल्प जो है, दया, दान, व्रतादि का, उसमें यदि दृष्टि रहेगी तो राग में रहने से भटकना पड़ेगा। यह भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु, इसकी सेवा करनेवाली पर्याय निर्मल... आहाहा! विकल्प वह नहीं।

शुद्ध स्वभाव से भरपूर ‘शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम’ श्रीमद् में आता है। ‘दूसरा कितना कहें कर विचार तो पाम।’ आहाहा! विचार का अर्थ वह साधक पर्याय। मौजूद है। परमात्म शक्ति से भरपूर प्रभु को शक्ति और शक्तिवाला, वैसा भेद करना, वह भी व्यवहारनय का विकल्प है। आहाहा! समझ में आया ? आनन्दस्वरूप हूँ, आनन्दवाला हूँ—ऐसा भी भेद

है, वह भी एक विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति है। मैं एक शुद्ध ज्ञानानन्द हूँ, उसकी ओर के झुकाव से जो निर्मल अवस्था हो, उस निर्मल अवस्था द्वारा मैं निर्मल अवस्था-उपासक हूँ, वस्तु मेरी उपास्य है। आहाहा! समझ में आया? ओहोहो! तू देव का देव है। पाँचों पद तेरे स्वरूप में पड़े हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह निर्मल दशा का स्वरूप है। कोई नग्नपना या पंच महाव्रत के विकल्प, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! आत्मा की निर्मल पूर्ण और अपूर्ण दशा के पाँच पद हैं। पूर्ण दशा अरिहन्त और सिद्ध। आचार्य, उपाध्याय और साधु, यह स्वरूप की शुद्धता की सेवा करने में जिनकी निर्मल दशा रागरहित, वीतरागी पर्याय निर्ग्रन्थपना प्रगट हुआ है, वह स्वयं सेवक है, वस्तु सेव्य है। आहाहा! ऐसा मार्ग भगवान का लोगों को कठिन पड़े, सुना नहीं न!

तू जिसकी सेवा करना चाहता है, वह पूर्ण वस्तु है या नहीं और वह तू है या नहीं? समझ में आया? तू वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की सेवा करना चाहे तो वह तो परवस्तु है। वह पूर्ण रूप तेरा वहाँ है? तुझमें है? ऐसा जो शुद्धस्वभाव, ज्ञातादृष्टा और मैं ही वह हूँ, ऐसी जो शुद्धदशा, वह आराधक है; आराध्य वह त्रिकाली भगवान है। आहाहा! लोगों को बेचारों को ऐसे चढ़ा दिये... जिन्दगी चली जाए। सफल न हो, अफल जिन्दगी जाए। आहाहा! ...वस्तु का भान होकर शुद्ध... होने पर पूर्ण अन्तर में लीन न हो, तब तक उसे भक्ति का, पूजा का ऐसा विकल्प आता है, परन्तु आता है, वह बन्ध का कारण है। वह तो पाप के भाव से बचनेमात्र बात है, वह धर्म नहीं है। आहाहा! कहते हैं न?

**ऐसा समझकर...** अर्थात् क्या? मैं एक उपासक हूँ और मैं अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है। आहाहा! **ऐसा समझकर...** पहले उसका ज्ञान तो कर, कहते हैं। **ऐसा निर्णय करके, अन्तर्मुख होकर...** यह चारित्र हुआ। पूर्ण शुद्ध चैतन्य अकेला वीतरागरसस्वरूप से भरपूर भगवान है। वह वीतरागता जो पर्याय में आती है, वह कहाँ से आती है? बाहर से आवे ऐसा है? आहाहा! वीतरागरस कहो या अकषायस्वभाव कहो या नित्य चारित्रस्वभाव कहो! ऐसा जो भगवान पूर्ण चारित्र की शान्ति से भरपूर, वह मुझे उपास्य अर्थात् सेवनयोग्य है और मेरी परिणति निर्मल, वह उसकी सेवक है। भगवान मुझे सेवनयोग्य है। और मैं सेवक हूँ, तब तक तो विकल्प है और पुण्य का कारण है। समझ में आया? ऐसी चीज़ है। लोगों को बेचारों को मिलती नहीं। जैन में जन्मा हो तो भी जैनपना वीतराग किसे कहते हैं, (यह समझे) बिना जिन्दगी जाती है, भाई!

**ऐसा समझकर...** अर्थात्? मैं नित्यानन्द रस, नित्य रस, शान्तरस, निर्विकल्प रस से

भरपूर पदार्थ हूँ। वह मुझे सेवनयोग्य है, परन्तु उसका ज्ञान न हो तो किस प्रकार करना ? तो पहले ज्ञान कर। आहाहा! यह वस्तु है, वह पूर्ण है, ध्रुव है। नित्यानन्द सहजानन्द की मूर्ति है। आहाहा! परसों कहा था। नहीं ? चार सज्जायमाला है। श्वेताम्बर में चार सज्जायमाला है। एक-एक सज्जायमाला में २५०-२५० सज्जाय है। दुकान पर पढ़ी थी। (संवत्) १९६३-६४ की बात है। संवत् ६४-६५। पहले से संस्कार थे न! पिताजी की घर की दुकान थी इसलिए... अपना थोड़ा-थोड़ा निवृत्ति से करते थे। दूसरे नहीं मिलते। उसमें—सज्जामाला में एक आया था। कहा था परसों

**सहजानन्दी रे आत्मा... सहजानन्दी रे आत्मा**

**सूतो कंई निश्चिन्त रे... मोह तणा रे रळिथाय भमे...**

मिथ्यात्व-परसन्मुख की वृत्तियाँ सिर पर चोर भ्रमते हैं।

**जाग-जाग मतिवन्त रे, लूटे जगतनां जन्त रे।**

हम पुत्र हैं, तुम्हारे घर में आये हैं। हमारा ध्यान नहीं रखो तो... यह जगत के जीव लूटते हैं। स्त्री कहती है, किसलिए हाथ पकड़ा था ? ...सब करना पड़ेगा। शान्ति रखना, हों! ... ऐसा कहते हैं। आहाहा! राजा की रानियाँ राजा को कहती हैं। ऐसा सुना हुआ है। आहाहा! कहते हैं, 'नाखी वांक अनंत रे... कोई विरला उगरंत रे...' आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें प्रवेश करने के लिये कोई ... हो जाएगा ? आहाहा! भाई! मेरा आहार तो अन्दर है। आनन्द का आहार लेने के लिये मैं तो निवृत्ति लेता हूँ। समझ में आया ?

राज के राजकुमार हों, आठ-आठ, दस वर्ष की उम्र हो परन्तु अन्दर में प्याला देखा। ओहो ! यह आत्मा तो निर्विकल्प आनन्द का रस है !! इसे शुभ-अशुभ क्रिया के राग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, तो फिर यह शरीर और स्त्री और पुत्र का उसे सम्बन्ध है नहीं। ... आहाहा! गुण-गुणी का सम्बन्ध भी व्यवहारनय का विषय है, वस्तु का नहीं। आहाहा! पर के साथ सम्बन्ध की तो बात ही क्या करना! राग को जीव का सम्बन्ध, यह भी असद्भूत व्यवहारनय से है, झूठा है। आहाहा! (असद्भूत) अनुपचार है और यह पर के साथ, स्त्री, पुत्र के साथ सम्बन्ध वह तो असद्भूत उपचार है, झूठा ... है। आहाहा! समझ में आया ? मेरा स्वभाव चैतन्यमूर्ति और मैं आनन्दवाला, ऐसा भेद सम्बन्ध भी व्यवहार है, कहते हैं। मैं तो अभेद चैतन्यमूर्ति हूँ। यह राजकुमार दीक्षित हो। ... है न ? चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में। प्रवचनसार में। दीक्षा लेते समय आज्ञा माँगता है—हे स्त्री! तू शरीर को रमानेवाली है, मुझे नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। अब मुझे आज्ञा दे। मैं छूटना चाहता हूँ।



श्रोता : शरीर नहीं रहे तो धर्म कैसे होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर कहाँ था वह... ? पुण्य के भाव से धर्म नहीं। शरीर तो जड़-मिट्टी-धूल है यह तो। आहाहा! सवेरे तो कितना आया था! बहुत!

भगवान त्रिलोकनाथ... वस्तु है, द्रव्य—छह पदार्थ भगवान ने देखे हुए हैं। छह द्रव्य हैं। आत्मा, पुद्गल, काल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश—छह भगवान ने देखे और ऐसे ही हैं। ओहो! यह छह द्रव्य की जो वर्तमान पर्याय... गजब बात, भाई! और वह उसके काल में हो, स्वकाल में हो। ऐसा कहकर भी छह द्रव्य का... समय की पर्याय उस काल की वह होती है। उस पर्याय को भी... उत्पत्ति का कारण द्रव्य-गुण भी नहीं। आहाहा! लोक, अलोक, छह द्रव्य की वर्तमान पर्याय, उस-उस काल की वह-वह पर्याय उसी काल में वही होनेवाली है, ऐसी ही वह पर्याय, वह पर्याय स्वयं से है और द्रव्य-गुण से नहीं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं होती। समझ में आया ? आहाहा!

छह वस्तु और एक-एक वस्तु में अनन्त गुण। अक्रम से साथ रहे हुए और उनकी पर्याय—अवस्था क्रमसर होती है और क्रमसार में जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही उसके काल का, उस-उस काल की अस्ति है। ऐसी अस्तिवाली दया, फिर भले रागवाली हो, धर्मवाली हो, समकिति हो (और) साथ में राग भी हो, पूर्ण न हो तो, तथापि वह पर्याय... आहाहा! स्वयं से है और पर से नहीं। आहाहा! क्योंकि सत् का अंश है।

जड़ में भी जो पर्याय जिस समय में जो होती है, वह भी उस सत् का अंश है, वह सत् है। आहाहा! द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय। सत् का यह विस्तार है और आनन्दद्रव्य, आनन्दगुण, आनन्दपर्याय का विस्तार है। भगवान आनन्द द्रव्य—वस्तु, आनन्द गुण—शक्ति, आनन्दपर्याय—यह आनन्द आनन्द तीनों में व्याप्त है। आहाहा! आनन्द वस्तु, आनन्द गुण और आनन्द पर्याय, यह आनन्द का विस्तार है। समझ में आया ? आहाहा! उसमें भी यह आनन्द की पर्याय का जो काल है, उस काल में वह दशा होती है। उसे पर से नास्ति है और स्व से अस्ति है। वह धर्म की पर्याय प्रगट करने में भले सत् वस्तु का आश्रय हो, त्रिकाली भगवान परमात्मस्वरूप है, उसका आश्रय हो; होने पर भी... आहाहा! उस धर्म की-आनन्द की पर्याय को स्व से अस्ति और पर से नास्ति है। आहाहा! गजब काम किया है न परन्तु! अरे! ऐसी वस्तु की स्थिति है।

जो वस्तु की मर्यादा भगवान ने कही, उसे न जाने तो कहते हैं, पहले समझकर...

आहाहा! पश्चात् निर्णय करके, पश्चात् अन्तर्मुख होकर। आहाहा! भोगीभाई! वहाँ कहीं तुम्हारी मिल में भी नहीं मिले और वहाँ अन्यत्र सम्प्रदाय में मिले, ऐसा भी यह नहीं है। यह तो... कैसे? बल्लभभाई! भाई को पूछा। आहाहा! बल्लभाई को बहुत रस था। आहाहा!

कहते हैं, धर्म की पर्याय का काल है, धर्म की पर्याय का उत्पत्ति काल। उस उत्पत्ति काल की पर्याय उसे-उत्पाद को कषाय की मन्दता की नास्ति, द्रव्य-गुण की उसमें नास्ति। आहाहा! एक समय की एक पर्याय में अनन्त सप्तभंगी। अनन्त सप्तभंगी! एक पर्याय है, वह दूसरी पर्यायरूप नहीं है, उसकी सप्तभंगी; एक पर्याय है, वह गुणरूप नहीं, उसकी सप्तभंगी; ऐसे अनन्त गुणरूप नहीं, ऐसी सप्तभंगी। आहाहा! बड़ा समुद्र पड़ा है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, यह है... पर्याय में स्व काल में होता है परन्तु इसकी नजर कहाँ होती है?—नजर द्रव्य पर जाती है। समझ में आया? यह उपासना करनेवाले की पर्याय... भाई! उपासना करनेवाले की पर्याय तो स्वकाल में ही होती है। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी पर्याय हुई। सम्यग्दर्शन कहीं राग नहीं कि भगवान को माना है ऐसा (नहीं)... आनन्दघनजी कहते हैं, 'निर्विकल्प रस पीजिये...' आनन्दघनजी में आता है। निर्विकल्प यह—रागरहित आत्मा, इसकी उपासना करनेवाली निर्मल दशा। उसका रस पीवे। उसके रस का प्याला पी। यह कब होगा?—कि उसकी जो निर्विकल्प पर्याय प्रगट हुई, उसके स्वकाल में। उस पर्याय में द्रव्य की भी जिसमें नास्ति, गुण की नास्ति, राग की नास्ति, अनन्त परद्रव्य की नास्ति। आहाहा! ऐसी जो उसकी निर्णय दशा, वह द्रव्य के लक्ष्य से होती है। भले उस काल में वह होती है, परन्तु उस काल की उत्पत्ति इस काल में यह... इसका निर्णय द्रव्यसन्मुख हो, तब इसे सच्चा होता है। आहाहा! और द्रव्य सन्मुख हुआ, उसे ही ऐसी पर्याय होती है। समझ में आया? भाई! यह तो वीतराग मार्ग बापू! बहुत सूक्ष्म। आहाहा!

उस समय में... मोक्ष का मार्ग... ऐसा कहते हैं न? उपासक और मैं उपास्य। अब उपासक तो पर्याय है। वस्तु तो उपास्य है। अब उपासक पर्याय का सिद्धान्त तो यह था कि उस समय में वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का स्वकाल है, वहाँ वह होती है। आहाहा! परन्तु कैसे होती है? और उसका सच्चा निर्णय किसे होता है? भाई! मार्ग अलग, बापू! अभी तो बिखर गया, बहुत बिखर गया और सच्चे मार्ग को कोतवाल को दण्डे। ऐसा शब्द है। सच्चे मार्ग को कहते हैं, यह एकान्त है... यह एकान्त है। पुलिस को मारते हैं न। हड्डियाँ तोड़ डाले कहते हैं, भाई! तुझे कमाई करनी है? तो धन्धा किया करने से कमाई होगी? भग अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी को... भग-वान, उसका स्वरूप यह है।

आहाहा! अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन आदि लक्ष्मी का भण्डार वह आत्मा है। वह उपास्य है। जिसे आत्मा के मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगटी है, उस पर्याय द्वारा उपास्य वह चीज़ है। आहाहा! ... मोक्ष का मार्ग प्रगटे, वह उसके स्वकाल में होता है। वह स्वकाल में आ गया, भाई! स्वकाल में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रिकाली... जो आत्मा, उसके लक्ष्य से उत्पन्न हुआ, वह उत्पन्न हुई पर्याय स्व से है और द्रव्य-गुण से नहीं; स्व से है और राग से नहीं; स्व से है और देव-गुरु-शास्त्र से नहीं। आहाहा!

यहाँ तो उपासक आया न! उपासक तो पर्याय है। समझ में आया? और उपास्य है, वह तो वस्तु है। ... जो उसका जन्मक्षण है, उत्पत्ति काल है, उस पर्याय का जन्म अर्थात् उत्पत्ति काल है, उस काल में उत्पन्न होती है। अब वह उस काल में उत्पन्न होती है, इसका सच्चा निर्णय किसे होता है? और किसकी ओर झुकने से वह उपासकपना प्रगट होता है? आहाहा! ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर प्रभु है। आहाहा! उसकी ओर झुकने से उस काल में हो भले परन्तु उस काल में इस काल में यह होती है, उस पर्याय में भले द्रव्य-गुण की नास्ति, पर की नास्ति है। क्योंकि पर्याय और द्रव्य दोनों भिन्न पड़ गये। सेवा करनेवाली निर्मल पर्याय और सेवनयोग्य है ध्रुव। आहाहा! समझ में आया? मनसुखभाई! ऐसा... मार्ग है। मुश्किल ... वहाँ दूसरी विपरीतता में उलझ जाए। जगत को कुछ क्या हो! आहाहा! ... गाँधी के मकान के नीचे, नहीं थे? वढवाण... वढवाण। बाहर गाँधी के मकान में। ... स्वामीनारायण के मन्दिर के पीछे। वहाँ उतरे थे। तब एक आया था। .... 'करी ले ने आतमनी ओळखाणी, एक दिन जावुं छे निरवाणी...' ऐसा गाता था। मैं ऊपर सो रहा था। ... 'करी ले ने आतमनी ओळखाणी, एक दिन जावुं छे निरवाणी...' एक दिन सब छोड़ना है।

तू कौन है, इसका निर्णय और अनुभव कर, बापू! यदि तू उसका अनुभव करेगा तो अनुभव की दशा में भविष्य में रहेगा और यदि राग की रुचि में पड़ा तो भविष्य में राग में रहेगा। आहाहा! तुझे भविष्य में रहना तो है। मोहनभाई! भविष्य में आत्मा का नाश हो, ऐसा है? वह तो अनादि-अनन्त है। अरे! भविष्य में तुझे किस प्रकार रहना है? यदि राग की पर्याय में रहना होवे तो उस दुःख की पर्याय में भविष्य में जाएगा सादि-अनन्त काल। आहाहा! परन्तु यदि तुझे आत्मा की पर्याय को सेवक बनाकर सेव्य करना हो तो भगवान आत्मा अपनी निर्मल पर्याय में भविष्य में रहेगा। उसका परिभ्रमण मिटकर पूर्ण परमात्मा हो जाएगा। आहाहा! अब रुचि हो, वैसा कर, कहते हैं। ... है, भाई! अब तेरी रुचि हो वैसा कर। क्योंकि करना तो तुझे है। कुछ हम तेरा कर दें, ऐसा है?

यहाँ तो जरा विचार क्या आया ? उपासक और उपास्य । उपासक है, वह पर्याय है और उपास्य है, वह ध्रुव वस्तु है । अब जब उपासक पर्याय के लिये तो ऐसा आया कि वह उसका जन्मक्षण का-उत्पत्ति का काल हो, तब वह होती है । अब तब होती है तो उसके करनेवाले को अब क्या करना ? उसकी उत्पत्ति... जो है, उसका... है, वह तो पर्याय में उस काल आया, परन्तु ध्रुव के आश्रय बिना वह पर्याय का काल और श्रद्धा में—निश्चय में उसे आवे नहीं । इसलिए उसे ध्रुव पर नजर डालनी है । जिसकी सेवा करनी है, उस पर नजर डालनी है । आहाहा ! भगवान के सामने ऐसे टग-टग देखे तो उसके सामने देखे या नहीं ? यह सविकल्प से सेव्य और यह सेवक हुआ । अब निर्विकल्प से सेव्य-सेवक होना हो... आहाहा ! तो उसे टग—टग ध्रुव के सन्मुख देखना पड़ेगा । समझ में आया ? ध्रुव को ध्येय बनाकर ध्रुव की सेवा करनेवाले की पर्याय... आहाहा ! उसे धर्म कहते हैं और धर्म की पर्याय सेवा करे भगवान आत्मा की ! .... लोगों को प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति नहीं मिलती । धर्म के नाम से भी पूरे दिन यह प्रवृत्ति । यह पूजा की और यह पूजा की और सिद्धचक्र की की....

बापू ! तू जहाँ है, वहाँ बैठ न ! तू कहाँ है ? तू चैतन्यधाम में है । वह चैतन्यधाम भगवान पूर्णानन्द का नाथ... अरे ! उसकी महिमा की तुझे महत्ता नहीं आयी । उसकी महत्ता की तुझे महिमा नहीं आयी और राग तथा पर्याय की महत्ता में—राग की रुचि में रहा । आहाहा ! समझ में आया ? कहते हैं... यहाँ तो उपासक है न ! स्वयं उपासक । तो उपासक तो पर्याय है । और अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है... आहाहा ! दोनों की सन्धि जोड़ी है । जिसे धर्म की पर्याय उस काल में प्रगट हो, ऐसा उसका स्वरूप है, परन्तु उस काल में प्रगट हो, उस पर्याय का सेव्य कौन है ? अन्तर्मुख दृष्टि कर, अन्तर्मुख दृष्टि कर । तब वह उपासक की पर्याय प्रगटी, यह सत्य है । आहाहा ! समझ में आया ?

अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा... देखो ! यह उपासक । अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा... यह तो वीतराग की वाणी गम्भीर है । यह कहीं वार्ता और कथा जैसा नहीं कि चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना और बनायी खिचड़ी... आता है न ? छोटे लड़के को कहते हैं । ... कुम्हार ने ... यह बात करते हुए । ऐसी आत्मा की मूल बात छोड़कर सब बातें ( की है ) । ... अरे ! भगवान ! कहते हैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा । यह पर्याय । वस्तु को लक्ष्य में लेने से जो पर्याय स्व अर्थात् अपने से, सं अर्थात् प्रत्यक्ष, राग और मन के आश्रय बिना, ज्ञान द्वारा निज शुद्धात्मा की उपासना करना, परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है । लो । परमात्मा अर्थात् स्वयं परमात्मा, हों ! पूर्ण परमात्मा होने का यह उपाय है । वे कहे कि

व्यवहार निश्चय ... दोनों सच्चे हैं। अरे! सुन न! आहाहा! पंचाध्यायी में तो कहते हैं कि व्यवहार... मिथ्यादृष्टि है, नहीं कहते? व्यवहारनय एक-दूसरे के कार्य को एक-दूसरे के कहता है, यह कारण-कार्य का घोटाला करता है। यह कारण और यह कार्य, यह व्यवहारनय कहता है; इस प्रकार माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... उस क्षण में वह पर्याय होती है, ऐसा जो भगवान की वाणी आया, वह पर्याय कौन सी होगी? कि यदि द्रव्य पर लक्ष्य करे तो निर्मल होगी, राग पर लक्ष्य करे तो मलिन होगी। स्त्री-पुत्र पर ध्यान रखे तो अशुभभाव मलिन होगी। देव-गुरु-शास्त्र पर लक्ष्य करे तो मलिन शुभभाव होंगे.. भगवान पर नजर करके भाव करे तो शुभ होगा। आहाहा! परन्तु निवृत्ति कहाँ? स्त्री, पुत्र, धन्धा करना... उसमें यह मँहगाई। साधारण मनुष्य को... लोग शोर मचाते हैं। जिसे है, उसे है। मजदूर को भी मिलता है। घर के चार-पाँच आदमी हों तो पाँच-पाँच...

इसमें एक समय का दुःख अनन्त... अनन्त... अनन्त। आहाहा! ऐसे अनन्त दुःख और संयोग की प्रतिकूलता का पार नहीं। इस काल में भी आत्मा स्वभाव के सन्मुख होता है (और) समकित पाता है। नरक में। ... हम क्या कहें? हमें ऐसा करना पड़े। बापू! यह असुविधा तुझे बाधक नहीं है। आहाहा! तेरी मान्यता तुझे बाधक है कि इसके बिना मैं कैसे कर सकता हूँ? इसके बिना हो सकता है। पर की असुविधा का लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! इसी प्रकार सुविधा का लक्ष्य भी छोड़ दे। सुविधा उसके घर में रही, आत्मा में कहाँ थी? आहाहा! समझ में आया? उपास्य भगवान विराजता है और तू किसी की सेवा करने जाता है... आहाहा! समझ में आया?

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं, तू मेरी सेवा करने जा, उसमें तुझे पुण्य होगा, बन्ध होगा। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं। मुख के सामने ग्रास किसे खराब लगे? ... तुझे धर्म होगा। हमें आहार-पानी दो, तुम्हें धर्म होगा। भगवान कहते हैं, ... अरे! तीर्थंकर स्वयं जब छद्मस्थ हों। आहार लेते हैं न? आहार लेने जावें न छद्मस्थ हों तब। उन्हें आहार देने का भाव भी पुण्य है। आहाहा! समझ में आया? सेवक तू और सेव्य वे, यह भाव पुण्य है, परन्तु सेवक मैं और सेव्य यह।

‘सिद्धसमान सदा पद मेरो’ – सिद्ध के समान ही मेरा स्वरूप शक्तिरूप से

परिपूर्ण है। सामर्थ्यरूप है, सत् के सत्त्वरूप है। वह सिद्धस्वरूप ही मेरा स्वरूप है। आहाहा! परमात्मपद, बाहर में नहीं है;... तेरा परमात्मस्वरूप कहीं बाहर में नहीं है। आहाहा! वह तो मेरे में ही है, ... लोगों को ऐसा लगता है... यह तो कहीं निश्चय की बातें। परन्तु निश्चय अर्थात् सच्ची। व्यवहार की आरोपित बातें सभी। ....

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; पर्याय, वही व्यवहार है। उपासक पर्याय, वही साधक का व्यवहार है; उपास्य, वह निश्चय है। ऐ... पोपटभाई! .... बड़ोदरा होकर पालेज गये थे न? (संवत्) २०१३ के वर्ष। १८ वर्ष हुए। ऐ... मनसुख! ... तब हम वहाँ गये थे। ... महाराज! तुम कहो वह... परन्तु उसका साधन क्या? उन्हें तो यह भक्ति करना, (वह साधन)। धूल में भी साधन नहीं है, सुन न! यह उपासक (पर्याय) साधन है। समझ में आया? यह भक्ति (साधन) माननेवालों को यह बैठना कठिन पड़ता है। निश्चयभक्ति तो यह है, वह व्यवहारभक्ति है। आती है, है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शन की भक्ति अलग है। ... आहाहा! अर्थात्? ... अर्थात् कि जिसकी महिमा दृष्टि में लेनी है। आहाहा! उसका... पूर्ण आनन्द वह मैं, ऐसा भजन, वह सम्यग्दर्शन। समझ में आया?

उस चीज़ के जैसा। मेरा स्वरूप शक्तिरूप से परिपूर्ण है। परमात्मपद, बाहर में नहीं है; वह तो मेरे में ही है, निरन्तर ऐसी भावना के बल से... भावना शब्द से (आशय) विकल्प नहीं। स्वरूप की एकाग्रता के बल से जिसने ध्येय को-ध्रुव को ध्यान में लिया, उसके ध्यान में रहा हुआ जीव अन्दर में... आहाहा! आत्मा, परमात्मा बन सका है... वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। वह वस्तु परमात्मस्वरूप है। उसकी शक्तिरूप है। उसकी सेवना करने से पर्याय में परमात्मा बन जाता है। आहाहा! व्यवहार की रुचिवाले को ऐसा लगे... हाय... हाय! इसमें व्यवहार का लोप हो जाता है। बापू! साधक पर्याय व्यवहार... साधक पर्याय आत्मव्यवहार है और रागादि का निमित्त का व्यवहार सद्भूतव्यवहार है। आहाहा! समझ में आया?

निरन्तर ऐसी भावना के बल से आत्मा, परमात्मा बन सका है-ऐसी उसकी शक्ति है। वैसी उसकी शक्ति है। जो उस शक्ति का श्रद्धा-ज्ञान करता है, ... जो स्वरूप

की शक्ति की पूर्णता, उसका श्रद्धा-ज्ञान करता है, वही अपने शुद्धात्मा में रमणता करके,.... आहाहा! परमात्मपद को प्राप्त करता है। लो! यही आराध्य-आराधकभाव की व्यवस्था का स्वरूप है। अन्तिम लाईन है न? यही आराध्य, आराधक करनेवाला आराध्य कौन?—वस्तु और आराधक पर्याय। अर्थात्? पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें रमणता—यह आराधक। आराधन वह। आहाहा!

तेरी दशा की निर्मलता प्रगटने के लिये तुझे परसन्मुख देखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उसका संग्रह उस गुण में है; पर में नहीं कि पर के लक्ष्य से आवे। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई! इस रुपये में... पड़ी हो।... मुफ्त का मानता है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही पुरुषार्थ है।

यही... यही। यह निश्चय है। आराध्य-परमात्मस्वभाव, वही आराधनेयोग्य है और उसकी निर्मल पर्याय उसकी आराधक है। आराधना पर्याय से होती है न। उस पर्याय का आराध्य कौन? वीतरागी निर्मल पर्याय, वह आराधक; उसका आराध्य भगवान आत्मा। राग पर्याय, वह आराधक; भगवान उसका आराध्य—यह तो व्यवहार आराधक हुआ, अर्थात् आराधक नहीं, उसे आराधक माना। आहाहा! अभूतार्थ।

वही बताकर कहते हैं- ३२ श्लोक।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां तयैव मयि स्थितम्।

बोधात्मनं प्रपन्नौऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥३२॥

टीका - मैं मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा! मैं मुझे अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर-वापस हटाकर; किससे? विषयों से। अर्थात् यह परसन्मुख का जो विषय है, उससे विमुख होकर। विषय अर्थात् यह स्त्री का विषय, इतना नहीं। पाँचों इन्द्रिय के विषय जो हैं... आहाहा! भगवान की वाणी भी विषय है, शुभराग का विषय है। पाँच इन्द्रियाँ हैं न? आँख, कान, नाक... पर्याय है। इसलिए वह इन्द्रिय का विषय है।....समझ में आया?

मैं मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर... अर्थात् क्या? वापस हटाकर;... अर्थात् क्या? किससे? विषयों से। परसन्मुख

के झुकाव से। परसन्मुख के विषय से विमुख करके। आहाहा! विषय शब्द से अकेले भोग, खाने-पीने का विषय अकेला नहीं। स्व विषय को छोड़कर जितने विषय हों, वे सब विषय। आहाहा! राग और राग के निमित्त सब विषय हैं। स्वविषय का ध्यान छोड़कर जितना पर के ऊपर जाता है, वह सब विषय है। उन विषयों से वापस मोड़कर।

किस द्वारा करके? मेरे ही द्वारा अर्थात् करण (साधन) रूप... राग द्वारा नहीं, मेरे स्वरूप के साधन द्वारा। यह करण। मैं कर्ता, मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ, यह कर्म—कार्य, क्या करके? करण (साधन) रूप आत्मस्वरूप द्वारा ही;... आहाहा! क्या कहा यहाँ? मैं यह कर्ता। मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ, यह कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। किसके द्वारा? मेरे स्वरूप के साधन द्वारा। है? मेरे ही द्वारा... अर्थात् मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं मेरे द्वारा अर्थात् चैतन्य की परिणति द्वारा। आहाहा! यह तो समाधितन्त्र है न! यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र नहीं कहते? यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र। यन्त्र अर्थात् यह... मन्त्र अर्थात्... तन्त्र यह—साधन। ... वीतराग का धर्म होगा? वीतराग में तो ऐसा सुनते हैं दया पालना, व्रत पालना, कन्दमूल न खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, अपवास करना, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन, बस! प्रेमचन्दभाई! क्या सुना था यहाँ? भाई! यह तो शुभ विकल्प की क्रिया की बात है, यह शुभ विकल्प की बात है; यह आत्मा के स्वरूप की बात नहीं है। समझ में आया।

कहते हैं, यह पाठ ही बोलता है। देखो न! 'अहंमामयैवमयिस्थितम्' मेरे द्वारा अर्थात् मैं आनन्दस्वरूप हूँ। उस आनन्द की पर्याय द्वारा, राग से भिन्न पड़कर। प्रज्ञासाधन द्वारा। आहाहा! कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ? कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ? मेरे में रहे हुए को... मुझमें रहे हुए को। ज्ञान, आनन्द, शान्ति वह मुझमें है, उस मुझमें रहे हुए—मुझमें रहा हुआ है। आत्मस्वरूप में ही रहे हुए को। मेरे आत्मा के स्वरूप में रहे हुए को मैंने प्राप्त किया है। आहाहा! कैसे मुझे? बोधात्मा को... मैं हूँ कौन? मैं कहा था न? हूँ कौन? बोधात्मा को अर्थात् ज्ञानस्वरूप को। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रज्ञाब्रह्म हूँ। चैतन्यस्वरूपी भगवान मेरा है, वह मुझमें रहा है, उसे मैं प्राप्त करता हूँ। वीतराग मार्ग... वीतरागी पर्याय द्वारा... है। किसे? .... रहे हुए को। आहाहा!

कैसे मुझे? परम आनन्द से निर्वृत्त (रचित) को। अर्थात्? परम आनन्द से भरपूर। निर्वृत्त अर्थात् रचे हुए, सुखी हुए को। परम आनन्द से निर्वृत्त अर्थात् भरपूर हूँ। हिरण की नाभि में कस्तूरी, परन्तु उसकी उसे खबर नहीं। इसी प्रकार इसके अन्तर में आनन्द, अतीन्द्रिय



आनन्द की कस्तूरी भरी है। ऐसे मुझे। आहाहा! सुखी हुए मुझे अर्थात् आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा! आनन्दस्वरूपी भगवान में रहा हुआ, उसे मैं प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा! राग का... वह तो पर के वश होता है और आनन्दस्वरूप की प्राप्ति तो स्व के आश्रय से होती है और उसमें रहा है, उसे मैंने आनन्द की पर्याय से प्राप्त किया है। आहाहा!

अथवा मैं परम आनन्द से निर्वृत्त (परिपूर्ण) हूँ। भाषा ऐसी है न? 'परमानन्दनिर्वृतम्' परमानन्द से निपजा हुआ मेरा तत्त्व है अथवा परमानन्द से मैं परिपूर्ण हूँ। आहाहा! पर्याय में आनन्द की गन्ध नहीं और अकेले राग तथा द्वेष, संकल्प-विकल्प, दुःख की गन्ध। बापू! यह वस्तु ही नहीं है। मुझमें रहा हुआ है, वह तो आनन्द है, उसे मैंने प्राप्त किया है। आहाहा! इसका नाम मोक्ष का मार्ग और इसका नाम मोक्ष का उपाय है। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१०

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा-५६, प्रवचन - ३६

दिनांक - १६-०७-१९७६

यह संसारी जीव व्यवहारनयकर यद्यपि... यद्यपि व्यवहारनयकर शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जन किये ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों के निमित्त से नर-नारकादि पर्यायों से उत्पन्न होता है,... शुद्धात्मा के भान बिना उपार्जित जो कर्म, उनके कारण से व्यवहारनय से नरकगति आदि में उपजता है। नारकादि पर्यायों से उत्पन्न होता है और विनशता है... एक गति में उपजे और दूसरी गति में जाने पर उसका नाश हो अथवा गति में भी समय-समय पर उत्पाद-व्यय हुआ करता है, गति में। और आप भी शुद्धात्मज्ञान से रहित हुआ कर्मों को उपजता (बाँधता) है,... ऐसा कहते हैं। स्वयं कर्म के निमित्त से उपजता है और स्वयं कर्म को उपार्जित करता है, ऐसा कहना है। शुद्धात्मज्ञान से रहित हुआ कर्मों को उपजता (बाँधता) है,... शुभाशुभभाव।

तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध है,... आहाहा! शक्ति—उसका स्वभाव, द्रव्यस्वरूप, वह तो अत्यन्त शुद्ध है। आहाहा! कर्मों से उत्पन्न हुई नर-नारकादि पर्यायरूप नहीं होता,... शक्तिरूप जो वस्तु है, इन चार गतिरूप वह वस्तु उपजती नहीं है। वस्तु तो द्रव्य स्वभाव शुद्ध चैतन्यघन है। आहाहा! वह दृष्टि का विषय है। अकेला शुद्ध शक्तिमात्र पवित्र भगवान परमानन्द परमपारिणामिकस्वभावस्वरूप, वह तो नरकगति आदि में उत्पन्न भी नहीं होता। है ?

आप भी कर्म-नोकर्मादिक को नहीं उपजता... स्वयं नहीं उत्पन्न होता और स्वयं कर्म को उपजाता नहीं। शुद्ध वस्तु जो द्रव्यस्वभाव है, वह तो कर्म को उपजाता भी नहीं और कर्म की पर्यायरूप उपजता भी नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ जो वस्तु है, वह वास्तव में सिद्धपदस्वरूप है, वह उपादेय है। आहाहा! व्यवहार से भी न जन्मता है,... क्या कहा ? शक्तिरूप द्रव्यस्वभाव जो शुद्ध चैतन्यघन, वह व्यवहार से भी जन्मता नहीं। न किसी से विनाश को प्राप्त होता है... किसी से नाश नहीं पाता। न किसी को उपजता है,

कारणकार्य से रहित है... वस्तु जो शुद्ध है, शुद्ध चैतन्य, वह किसी से उपजता नहीं और किसी को उपजाता नहीं; पर के कारणरूप होता नहीं और पर के कार्यरूप होता नहीं, कारणकार्यरहित द्रव्यस्वरूप है। समझ में आया ? कारणकार्य से रहित वस्तु है।

कारण उपजानेवाले को कहते हैं। कार्य उपजनेवाले को कहते हैं। सो वे दोनों भाव वस्तु में नहीं है, ... शुद्ध चैतन्यघन द्रव्यस्वभाव में तो यह है नहीं। यह तो द्रव्यस्वभाव में कारण-कार्य नहीं है, ऐसा कहा, भाई! तब शक्ति में कहा, अकार्यकारणशक्ति। यह वस्तु है, वह अकार्यकारण है, उसका वह गुण है, उसकी पर्याय में भी उस अकार्यकारणरूप का — शक्ति का तो परिणमन है। समझ में आया ? यहाँ तो अकेल द्रव्य ही लिया है। द्रव्य स्वयं कारण नहीं और कार्य नहीं। पर्याय को उत्पन्न करे और पर्याय से उत्पन्न हो। राग और गति आदि को उत्पन्न करे और कर्म को उपार्जित करे तथा कर्म से गति आदि में उपजे परन्तु वह पर्याय से; वस्तुस्वरूप है, वह नहीं कारण, नहीं वह किसी का कार्य। यहाँ वस्तु के स्वरूप का वर्णन है।

उस कारणकार्यशक्ति में अकार्यकारण जो है, उस पर्याय में भी पर का कारण और पर का कार्य नहीं है। क्योंकि गुण है, उनका परिणमन होता है न! अकार्यकारण नाम का गुण आत्मा में है। उसका परिणमन भी राग को नहीं उत्पन्न करता और राग से वह पर्याय उपजती भी नहीं। निर्मल (पर्याय) — निर्मल पर्याय राग कारण से उपजती नहीं और राग के कार्य को निर्मल पर्याय करती नहीं। समझ में आया ? ऐसा अकार्यकारणगुण, उसे कितने ही इस द्रव्य में से द्रव्य वहाँ लेते हैं। ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की व्याख्या है। द्रव्य कारण-कार्य नहीं है। यहाँ है, ऐसा वहाँ नहीं है। समझ में आया ? यहाँ तो द्रव्य कारण-कार्य नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। पर्याय में उपजे और पर्याय को उपजावे इतना सिद्ध करना है।

४७ शक्ति में तो भगवान आत्मा अकार्यकारण स्वभावशक्ति है, परन्तु उस शक्ति का कार्य होता है न ? परिणमन होता है न ? वह परिणमन राग का कार्य नहीं और राग का कारण नहीं। राग को उपजाता नहीं, राग से अकार्यकारण की निर्मल पर्याय उपजती नहीं। समझ में आया ? यहाँ द्रव्य में लिया, वैसा वहाँ अकेले द्रव्य में ले लेवे तो मिलान नहीं खाता। ऐसा पण्डित लेते हैं। अकार्यकारणशक्ति ऐसा द्रव्य शब्द वहाँ पड़ा है। ऐसा कहते हैं, वे कहते हैं। मिथ्या बात है। समझ में आया ?

वस्तु आत्मा—भगवान आत्मा है, उसमें अकार्यकारण नाम की शक्ति है—गुण है। उसका परिणमन जो है, वह भी अकार्यकारणरूप है, ऐसा सिद्ध करना है, वहाँ; और शक्ति के

वर्णन में मलिन परिणाम उसकी पर्याय है, वह यहाँ नहीं। यहाँ तो द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध, क्रमसर। क्रम—अक्रम—पर्याय से क्रम और गुण से अक्रम। इस क्रम में तो निर्मल परिणति की बात है, वहाँ मलिन की बात नहीं है। शक्ति निर्मल है न, इसलिए उसकी परिणति निर्मल की ही वहाँ व्याख्या है। राग भले हो, परन्तु उस राग का ज्ञान है, उस परिणति को वहाँ लिया। यहाँ तो द्रव्य को कारण-कार्य नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया ?

सो... है न? दोनों भाव वस्तु में... वस्तु अर्थात् द्रव्य। इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है,... लो! द्रव्यदृष्टि से उसे देखे तो नित्य वस्तु है। वह किसी से उपजता भी नहीं, वह किसी को उपजाता भी नहीं।

श्रोता : व्यवहार से भी नहीं जन्मता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से भी जन्म धारण नहीं करता। द्रव्य व्यवहार से क्या जन्म धारण करे ? द्रव्य है, उसे व्यवहार से कहाँ जन्म है ? पर्याय को व्यवहार से जन्म है। समझ में आया ? यह तो यहाँ सिद्ध करना है। पर्याय से नारकी आदि है और पर्याय को नारकी आदि को उपजाता है। वस्तु जो है, वह कहीं किसी से उपजती भी नहीं, किसी को उपजाती भी नहीं। आहा! समझ में आया ?

पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है,... लो, है ? यहाँ यह बात लेनी है। पर्याय में उत्पन्न-व्यय है, द्रव्य में उत्पन्न-व्यय नहीं। द्रव्य है, वह ध्रुव है, एकरूप स्वभाव। वास्तव में तो... आहाहा! उसकी पर्याय को भी वह द्रव्य नहीं उपजाता। अमरचन्दभाई! ऐ... ध्रुव जो है, वह तो उसकी अपनी पर्याय को भी नहीं उपजाता। आहाहा! तथा उस पर्याय का नाश नहीं करता। द्रव्य तो द्रव्य त्रिकाल है। आहाहा! उसकी पर्याय जो है, वह उपजती है और विनशती है अथवा पर्याय है, वह पर से उपजती है—विकार और विकार को उपजाती है, पर्याय। आहाहा!

अब शिष्य को प्रश्न हुआ। उपने यह कहा परन्तु सिद्ध में किस प्रकार यह लागू पड़ेगा ? सिद्ध की पर्याय तो निर्मल हो गयी है। द्रव्य भी निर्मल और पर्याय भी निर्मल। उसे पर्यायार्थिकनय से उपजना-विनशना सिद्ध को किस प्रकार लागू पड़ेगा ? ऐसा प्रश्न करता है। समझ में आया ? आहाहा! संसारी जीवों के तो नर-नारक आदि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दिखता है, परन्तु सिद्धों के उत्पाद-व्यय किस तरह हो सकता है ? यह प्रश्न है। सिद्ध में उत्पाद-व्यय किस प्रकार लेना ? संसारी के लिये तो ठीक।

संसार की पर्याय को उपजावे और उस पर्याय को व्यय करे अथवा उपजे और पर को—रागादि को उपजावे, परन्तु सिद्ध को क्या है पर्यायनय से ? तुमने तो ऐसा सिद्ध किया कि पर्यायनय से प्रत्येक आत्मा में उत्पाद और व्यय है, तो सिद्ध को उत्पाद-व्यय किस प्रकार है, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया ? सिद्धों के उत्पाद-व्यय किस तरह हो सकता है ? क्योंकि उनके विभाव-पर्याय नहीं है, ... चार गति की पर्याय है नहीं। स्वभाव-पर्याय ही है और वे सदा अखण्ड अविनश्वर ही हैं। स्वभावपर्याय सदा अखण्ड—अविनश्वर है।

इसका समाधान यह है कि जैसा उत्पन्न होना, मरना चारों गतियों में संसारी जीवों के है, वैसा तो उन सिद्धों के नहीं है, ... अब सिद्ध में उत्पाद-व्यय सिद्ध करते हैं। वे तुम्हारे कहते थे न, सेठ ! दाढ़ीवाले, नहीं। 'डेढिया'। सिद्ध में भी पर्याय ? क्या कहा ? पीछे पड़ी है ? कुछ खबर नहीं होती। सिद्ध में भी अभी पर्याय ? छोड़ती नहीं ? पीछा नहीं छोड़ती ? सिद्ध में भी पर्याय पीछा नहीं छोड़ती ? कुछ खबर नहीं होती। यहाँ यह प्रश्न है कि संसारी जीव को तुम उत्पाद-व्यय कहो तो बराबर है। सिद्ध तो पूर्ण स्वरूप हो गये, विभाव तो है नहीं, अकेली स्वभावपर्याय प्रगट हो गयी है, उसे तुम उत्पाद-व्यय किस प्रकार लागू करते हो ? तुमने उसे उत्पाद-व्यय कहा। पर्याय में से प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय कहा तो सिद्ध में उत्पाद-व्यय किस प्रकार ? आहाहा ! समझ में आया ? तो कहते हैं, सुन !

जैसा उत्पन्न होना, मरना चारों गतियों में संसारी जीवों के है, वैसा तो उन सिद्धों के नहीं है, वे अविनाशी हैं, परन्तु शास्त्रों में प्रसिद्ध अगुरुलघुगुण की परिणतिरूप अर्थपर्याय है, ... सिद्ध को भी अगुरु-लघु की अर्थ पर्याय समय-समय में है। वह समय-समय में आविर्भाव-तिरोभावरूप होती है। देखा ? समय-समय में उत्पन्न और व्यय। एक समय में उत्पन्न और व्यय वहाँ तो होता है। षड्गुणहानिवृद्धि है न ! एक ही समय में षड्गुणहानिवृद्धि है। पहले समय में उत्पन्न हो और दूसरे समय में व्यय हो, यह और बाद में (बात)। परन्तु यह तो एक समय में हानि और वृद्धि। सिद्ध की केवलज्ञान की पर्याय में भी षड्गुणहानिवृद्धि है। एक समय में हानि-वृद्धि। ऐसा ही पर्याय का स्वभाव भगवान ने देखा है। यह कहेंगे। तिरोभावरूप होती है।

समय-समय में पूर्वपरिणति का व्यय होता है और आगे की पर्याय का आविर्भाव (उत्पाद) होता है। इस अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना, ... एक बात। सिद्ध को अगुरुलघु की अर्थपर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय जानना। एक बोल

यह लिया। अभी दूसरा बोल लेंगे। अन्य संसारीजीवों की तरह नहीं है। जैसे संसारी को नरकगति आदि उत्पन्न होती है और स्वयं राग को उपजावे, ऐसा नहीं। परन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा से... आहाहा! समय-समय में उत्पाद-व्यय अर्थात् हानि-वृद्धि। वह उत्पाद-व्यय ऐसा नहीं परन्तु एक समय में हानि-वृद्धि हो, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा!

सिद्धों के एक तो अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना कहा है। अर्थपर्याय में षड्गुणहानिवृद्धि होती है।' देखा? समय-समय में। १. अनन्तभागवृद्धि। यह सूक्ष्म केवलज्ञानगम्य बात है। केवलज्ञान की पर्याय में अनन्त भागवृद्धि-अनन्त भाग हानि, ऐसा हुआ करता है। पर्याय तो है वह है। १. अनन्तभागवृद्धि। २. असंख्यातभागवृद्धि। ३. संख्यातभागवृद्धि। ४. संख्यातगुणवृद्धि। ५. असंख्यातगुणवृद्धि। ६. अनन्तगुणवृद्धि। ऐसे १. अनन्तभागहानि, २. असंख्यातभागहानि, ३. संख्यातभागहानि, ४. संख्यात-गुणहानि, ५. असंख्यातगुणहानि, ६. अनन्तगुणहानि। ये षड्गुणहानिवृद्धि के नाम कहे हैं। इनका स्वरूप तो केवली के गम्य है,... सर्वज्ञ परमात्मा केवलज्ञानी एक पर्याय में, एक पर्याय में एक समय में षड्गुणहानिवृद्धि वह तो स्वभाव है। भगवान जानते हैं।

श्रोता : श्रुतकेवली भी जानते ही हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जाने तो केवली में क्या बाकी रह गया? यह सब जाना जाये तो उसमें बाकी क्या रहा जानने का?

श्रोता : परोक्षरूप से जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह नहीं।

श्रोता : श्रुतज्ञान जाने...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह नहीं, यह नहीं। यह तो पंचास्तिकाय में आया है न! अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका में। आगमगम्य है, वहाँ ऐसा लिया है। है न? उस वस्तु का कोई स्वभाव है ऐसा कोई। एक समय की केवलज्ञान की पर्याय तो ऐसी की ऐसी रही, उसमें कहीं जानना कम-ज्यादा होता नहीं, परन्तु उस पर्याय में षड्गुणहानिवृद्धि (होती है)। एक समय में षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धि। यह तो कुछ (बात है)!

श्रोता : आगमगम्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : आगमगम्य अर्थात् शास्त्र जाने। सिद्धान्त आगम से माननेयोग्य है,

ऐसा कहना है। तुम्हें अनुभव में यह नहीं बैठ सकेगा। पंचास्तिकाय में है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से तो ऐसा है, एक जगह ऐसा आता है कि यदि सब श्रुतज्ञान में ज्ञात हो तो केवलज्ञान में जानने का अचिन्त्य और अपूर्व क्या रहा! आता है। आहाहा! ... न ज्ञात हो, यह तो केवलीगम्य है, ऐसा यहाँ कहते हैं। जैसे श्रुतज्ञान परोक्ष है तो सब जाने तो यह भी परोक्ष है (उसे भी जाने), ऐसा नहीं है। परोक्ष भी उसके ख्याल में सब बात आती है। यह ख्याल में आवे, ऐसी बात ही नहीं है। सूक्ष्म बात है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा ही कोई पर्याय का स्वभाव है। वह एक ही समय में अनन्त भाग वृद्धि, असंख्य भाग वृद्धि, संख्य भाग वृद्धि, अनन्त गुण-वृद्धि, असंख्य गुण वृद्धि, संख्य गुणवृद्धि, और एक समय में असंख्य भाग हानि, संख्य भाग हानि, अनन्त भाग हानि और संख्यभाग वृद्धि, असंख्य भाग वृद्धि, अनन्त भाग वृद्धि। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस प्रकार ही कहकर छोड़ दिया है। इसका अर्थ यह है कि इस पर्याय का ऐसा सामर्थ्य कोई केवलज्ञानगम्य ही है। साधारण को यह बात नहीं बैठ सकती। ऐसा अचिन्त्य केवलज्ञान का माहात्म्य है, ऐसा कहना है। समझ में आया? यह तर्क से नहीं बैठे, ऐसा यह कहते हैं। गम्भीरता बताते हैं। ऐसा कोई पर्याय में... समय एक और षड्गुणहानि उस समय में और उस समय में षड्भागवृद्धि। षड्गुणहानिवृद्धि। ओहोहो!

श्रोता : वृद्धि का अर्थ क्या और हानि का अर्थ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कम हो। हानि में कम हो और वृद्धि में बढ़े।

श्रोता : केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उतने हैं। जरा सूक्ष्म बात है। केवलज्ञान की पर्याय तो जितनी है, उतनी ही है। उसमें हीनादिक हो, ऐसा नहीं। यह बात, बापू! ऐसी है। केवलज्ञान को कुछ रखोगे या नहीं उसके लिये? या सब इसमें ज्ञात हो जाएगा? ऐसा कहते हैं।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष नहीं।

श्रोता : इसके लिये परोक्ष...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं, नहीं, नहीं। यह नहीं। ऐसा भी नहीं। इसे परोक्ष, उसे प्रत्यक्षपना रखा, ऐसा भी नहीं। यह कोई अचिन्त्य स्वभाव है, भाई!

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय तीन काल-तीन लोक को जानने की अपनी पर्याय जानते हुए ज्ञात होता है। इतनी तो ताकत उसकी समय-समय में! उस पर्याय में हीनाधिक हो, उस प्रकार की जो व्यक्त, उसमें नहीं। परन्तु उस पर्याय का ऐसा कोई स्वभाव है, इसलिए केवली ही जानते हैं। उनके लिये बात बाकी रखी, ऐसा कहते हैं।

**श्रोता :** केवली ही जाने, इतना अपन जानते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** केवली जाने, ऐसा तू जाने, ऐसा मान। आहाहा!

**श्रोता :** परोक्ष और प्रत्यक्ष...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह नहीं। नहीं रही। किसने कहा? यह तो इनकार किया न! यह उसे परोक्ष आ जाए, ऐसा भी नहीं। उसे प्रत्यक्ष हो, ऐसा भी नहीं। उसे वह कोई स्वभाव केवलज्ञान में उस पर्याय में षड्गुणहानिवृद्धि (होती है) ऐसा ही पर्याय का स्वभाव उन सर्वज्ञ को ही ज्ञानगम्य है। उनके लिये बाकी रखा है। आहाहा!

**श्रोता :** ....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा होवे तो पर से सिद्ध हो, उसे आगमगम्य कहा। पंचास्तिकाय में है न वह! कितनी गाथा में है? कितने में है? कहीं है न? पंचास्तिकाय। यही पद सामने आया। यह पद और यह लाईन। देखो! है? 'पर्यायास्त्वगुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्ताः शुद्धाः, सूत्रोपात्तास्तु' पाठ तुरन्त सामने यह आया। निकलते हुए किस जगह होगा? सोलहवीं गाथा में आया, अन्तिम शब्द। समझ में आया? यही शब्द सामने आया, पाठ निकलने पर। कुदरत सामने है। यही शब्द वापस। सामने देखो! 'शुद्धाः, सूत्रोपात्ता' है? 'सूत्रोपात्ता' नर, नारकी में है, वह दूसरी बात है। 'सूत्रोपात्ता' आगमगम्य है, ऐसा है। यहाँ तो आया। 'शुद्धाः, सूत्रोपात्ता' इतना। आहाहा! आगमगम्य है। आगमगम्य अर्थात्? श्रुतज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। श्रुतज्ञान में ऐसा ज्ञात होता है कि यह केवलज्ञानगम्य है। श्रुतज्ञान में ऐसा ज्ञात होता है कि यह केवलज्ञान जानता है, ऐसा। ऐसा अर्थ है। आहाहा! द्रव्य की लीला उसकी है न! भाई! यह सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह कोई दूसरे ने देखा नहीं। आहाहा!

पर्याय का दरबार सूक्ष्म। प्रत्येक पर्याय वापस। केवलज्ञान की पर्याय, अनन्त आनन्द की पर्याय, अनन्त वीर्य की पर्याय, सब पूर्ण हो गयी है। अनन्त ईश्वरता की पर्याय, अनन्त



स्वच्छता की पर्याय, अनन्त कर्म की पर्याय, कर्ता, कर्म गुण है और उनकी पर्याय वहाँ पूर्ण हो गयी है। तथापि उस एक-एक पर्याय में, एक-एक गुण की एक-एक पर्याय में एक-एक समय में हानि और वृद्धि एक ही समय में। पहले समय में हानि और दूसरे समय में वृद्धि, ऐसा भी नहीं है, उसने जरा स्पष्टीकरण किया है। दीपचन्दजी (ने) चिद्विलास में। पहली पर्याय जाती है—व्यय और बाद में हो उत्पाद, ऐसा। जरा मिलाया है। षड्गुणहानि में ऐसा लेना। यह तो कोई अचिन्त्य स्वभाव, जो केवलज्ञान में ही ज्ञात हो। आहाहा! श्रुतज्ञान में परोक्ष से ही बात बाकी रखी। श्रुतज्ञान में परोक्ष में सब ज्ञात हो। अन्तर प्रत्यक्ष और परोक्ष इतना ही है, बाकी है सब, परन्तु यह नहीं। यह उन्हें केवलज्ञानगम्य है ऐसा श्रुत में जाने। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आ गया? षड्गुण का हो गया।

इनका स्वरूप केवली के गम्य है,... लो, ठीक! है न? स्वयं स्पष्टीकरण करेंगे। टीका में इतना है। 'आगमप्रसद्धियागुरुलघुकगुणहानिवृद्धयपेक्षया' संस्कृत में इतना है। उन्होंने केवलीगम्य का विशेष स्पष्टीकरण किया। इस षड्गुणहानिवृद्धि की अपेक्षा सिद्धों के उत्पाद-व्यय कहा जाता है। एक बात तो यह। अथवा... दूसरे प्रकार से। समस्त ज्ञेयपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामते हैं,... प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्ययरूप सदा परिणामते हैं। सो सब पदार्थ सिद्धों के ज्ञान-गोचर हैं। ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति है,... जैसी ज्ञेय में षड्गुणहानिवृद्धि होती है, षड्गुणहानि नहीं परन्तु उत्पाद-व्यय होता है, ऐसा ही उत्पाद-व्यय यहाँ ज्ञान में ज्ञात होता है। ज्ञेयाकार जो उत्पाद-व्यय भिन्न-भिन्न वहाँ होते हैं, इसलिए यहाँ भी भिन्न-भिन्न उत्पाद-व्यय होता है। पहले समय में जो जाना था, वहाँ होता है ऐसा, वह वापस जहाँ बदला वहाँ तो दूसरे समय में दूसरा जाना। भले ऐसा का ऐसा परन्तु दूसरे प्रकार से जाना। जैसा वहाँ हुआ वैसा जाना। समझ में आया? वह ज्ञेय के पलटने की अपेक्षा से भी ज्ञान उत्पाद-व्ययरूप पलटता है, ऐसा सिद्ध किया है। समझ में आया? यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! सर्वज्ञस्वभाव क्या! आहाहा!

श्रोता : ... सब छनावट...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह छनावट तो केवलज्ञानी जाने, ऐसा कहते हैं। एक जगह आता है, हों! ऐसा कि श्रुतज्ञान में भी सब ज्ञात हो तो केवलज्ञान में उसकी क्या विशेषता? आता है, आता है एक जगह। आहाहा! एक समय की केवलज्ञान पर्याय तीन काल को (जाने)... उसमें नहीं, उसमें हानिवृद्धि हो, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान की पर्याय है तो घट

जाए, कम ज्ञान हो और विशेष हो—ऐसा नहीं। केवलज्ञान की पर्याय तो पूर्ण है, वह उतनी और उतनी ही रहती है, परन्तु उस पर्याय में ऐसा षड्गुणहानिवृद्धि का स्वभाव है, वह केवलज्ञानगम्य है। आहाहा! श्रुतज्ञान में सब ज्ञात हो जाए तो केवलज्ञान... उस केवलज्ञान की अचिन्त्य महिमा है कि उसे वही जाने। यह द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या है न! वह पर्याय तो बस, केवलीगम्य है। आहाहा! इतनी महिमावन्त है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा कोई पर्याय का स्वभाव महिमावन्त है। उसी समय में हानि, उसी समय में वृद्धि। एक समय में हानि और दूसरे समय में वृद्धि होवे तब तो... आहाहा!

**श्रोता : ....**

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो वर्तमान उत्पाद में हानि और वृद्धि एक समय में। समझ में आया? यह तो अचिन्त्य स्वभाव है, भाई! आहाहा! यह सर्वज्ञ केवली परमात्मा को वह गम्य है। इतना माहात्म्य तो कर। श्रुतज्ञान में सब आ जाए (तो केवलज्ञान में बाकी क्या रहे?)

**श्रोता :** अव्यक्त गुण का परिणमन सिद्ध भगवान को किस प्रकार से?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो परिणमन है, वह तो सदा ही है, परन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है, उसकी बात नहीं है। उस एक समय की पर्याय में, प्रत्येक गुण की एक समय की पर्याय में द्रव्यत्वगुण, प्रमेयत्वगुण, अगुरुलघु... क्या कहलाता है? ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि की पर्याय। वह तो प्रत्येक की एक समय की पर्याय में षड्गुणहानिवृद्धि एक ही समय में। यह तो अचिन्त्य बात है न! समझ में आया? आहाहा! ऐसा गम्भीर समुद्र है। पर्याय में एक समय की पूर्ण पर्याय में उसी समय में षड्गुणरूप से हानि, अनन्त गुणरूप से हानि और अनन्त भागरूप से हानि-वृद्धि। अनन्त गुणवृद्धि और अनन्त गुण हानि। आहाहा! ऐसा ही कोई उसका स्वरूप है। केवलीगम्य है। परमात्मा, उसका माहात्म्य रख। आहाहा! एक बात यह।

दूसरी, ज्ञेय जो है, वे समय-समय में पलटते हैं। भविष्य की पर्याय वर्तमान हुई, वर्तमान की पर्याय भूत में गयी, क्योंकि वहाँ होती है न? इस प्रकार वापस यहाँ ज्ञान परिणमता है। समझ में आया? इस प्रकार भी उसका उत्पाद-व्यय सिद्ध किया। दूसरे बोल में। **समस्त ज्ञेयपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमते हैं, सो सब पदार्थ सिद्धों के ज्ञानगोचर हैं। ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति है,...** वह जैसा ज्ञेय पलटता है, वैसी परिणति यहाँ होती है। स्वयं से, हों! उसके कारण नहीं। समझ में आया? सामने द्रव्य में...

**श्रोता :** इसमें लिया है, ध्रुव...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ध्रुव तो साथ में ले लिया है। यह तो ध्रुव साथ में लिया है। यह तो एक न्याय से गुण परिणमता है, ऐसा आता है। पंचाध्यायी में लिया है। इस अपेक्षा से लिया है। ऐसा कि ध्रुव है... पर्याय है, वह आती है और जाती है, इतना होता है न, इतना गुण में भी पर्यायनय से परिणमन है। इस अपेक्षा से, हों! यह पंचाध्यायी में है, है, खबर है। आहाहा! यह तो खजाना बड़ा है, भाई!

**श्रोता :** सबको बाँट दो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कौन दे और कौन ले! तुम तो सर्राफ हो। पैसे देते हो सबको। आहाहा!

यहाँ तो सिद्ध में उत्पाद-व्यय कैसे है? वे तो अविनाशी हैं। अविनाशी अर्थात् पर्याय तो ऐसी की ऐसी समान हुआ ही करती है। उसमें उत्पाद-व्यय पर्याय हो ऐसा नहीं है, परन्तु उनकी पर्याय अविनाशी ऐसी की ऐसी हुआ ही करती है, इसलिए उन्हें कूटस्थ कहा है। पंचास्तिकाय में (कहा है)। केवलज्ञान की पर्याय को कूटस्थ कहा है। है तो परिणमन, परन्तु ऐसी की ऐसी रहती है न, इसलिए उस अपेक्षा से कूटस्थ कहा है। किस अपेक्षा से है, यह संस्कृत में पाठ है। केवलज्ञान की पर्याय से कूटस्थ कहा है। है तो परिणमन। कूटस्थ का अर्थ (यह कि) ऐसी की ऐसी रहती है, उस अपेक्षा से कूटस्थ।

**श्रोता :** प्रवचनसार में उसे नित्य कहा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कहा न और कूटस्थ कहा, इसलिए नित्य हो गया। इस अपेक्षा से नित्य कहा जाता है। इस अपेक्षा से, हों! आहाहा!

एक तो अपने समय की पर्याय में षड्गुणहानिवृद्धि के कारण भी सिद्ध को उत्पाद-व्यय कहे जाते हैं। दूसरे प्रकार से, ज्ञेय में उत्पाद-व्यय भिन्न-भिन्न उसकी भूतकाल की पर्याय... भविष्य की पर्याय वर्तमान में होती है, वर्तमान है वह भूत में जाता है; वर्तमान है, वह भूत में जाता है; भविष्य की पर्याय वर्तमान होती है। ऐसा वहाँ ज्ञेय में होता है! ऐसा यहाँ ज्ञान में परिणमन होता है। समझ में आया? केवलज्ञान भी... सामान्य जो वर्तमान पर्याय है, वह गयी; दूसरे समय गयी और दूसरे समय में जो भविष्य की थी, वह आयी। इतना हुआ न? इस प्रकार से सिद्ध जानते हैं, तो इस अपेक्षा से उसमें उत्पाद-व्यय कहने में आता है। वह स्वयं के कारण से, हों! वह कहीं पर के कारण से नहीं। समझ में आया? वह तो द्रव्य-गुण-पर्याय की सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा! परमात्मा की...

ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति है, सो जब ज्ञेय-पदार्थ में उत्पाद-व्यय हुआ,... देखा? उत्पाद-व्यय हुआ। तब ज्ञान में सब प्रतिभासित हुआ, इसलिए ज्ञान की परिणति की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना। ज्ञेय की परिणति की अपेक्षा से ज्ञान परिणमा, इस अपेक्षा से उसे उत्पाद-व्यय कहने में आता है। आहाहा! दो बातें हुई।

तीसरी बात, सिद्ध में उत्पाद-व्यय को सिद्ध करने की तीन पद्धतियाँ। सिद्ध की पर्याय ऐसी की ऐसी अविनाशीरूप से रहती होने पर भी... अविनाशी अर्थात्? पर्याय तो बदलती है परन्तु उसका स्वरूप ऐसा है कि ऐसा का ऐसा दूसरे समय में, ऐसा का ऐसा तीसरे समय में, ऐसा का ऐसा चौथे समय में (रहता है)। ऐसा होने पर भी उसमें अगुरुलघु की अपेक्षा से षड्गुणहानिवृद्धि की अपेक्षा से पर्याय में उत्पाद-व्यय। ज्ञेय में समय-समय में बदलाव होता है, इस अपेक्षा से यहाँ अपने में भी बदलाव होता है, इस अपेक्षा से भी उसे उत्पाद-व्यय कहा जाता है। दो (बातें हुई)। अब तीसरा। सिद्ध को उत्पाद-व्यय सिद्ध करने में अब तीसरी बात। आहाहा! यह तो समझ में आये ऐसा है। भाषा कहीं बहुत ऐसी नहीं है। आहाहा!

अथवा जब सिद्ध हुए, तब संसार-पर्याय का विनाश हुआ, सिद्धपर्याय का उत्पाद हुआ,... लो। इस अपेक्षा से भी उत्पाद-व्यय कहा। संसारपर्याय का व्यय, सिद्धपर्याय का उत्पाद। इस अपेक्षा से उत्पाद-व्यय कहा। एक ही समय है न!

श्रोता : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस समय। सिद्ध के पहले समय में। पश्चात् बाद का कुछ नहीं। बाद की पर्याय भी एक समय में व्यय और बाद की पर्याय उत्पाद होती है। परन्तु यहाँ तो स्थूलरूप से संसारपर्याय का व्यय, सिद्धपर्याय का उत्पाद। इस अपेक्षा से भी उत्पाद-व्यय लागू पड़ते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का बापू! कहीं है नहीं! और उसमें भी दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। उन्होंने केवली का मार्ग खड़ा रखा है। आहाहा!

जब सिद्ध हुए, तब संसार-पर्याय का विनाश हुआ, सिद्धपर्याय का उत्पाद हुआ तथा द्रव्यस्वभाव से सदा ध्रुव ही हैं। सिद्धों के जन्म, जरा, मरण नहीं है,... आहाहा! वे तो सदा अविनाशी हैं। जन्म-मरण की अपेक्षा से, हों! सिद्ध का स्वरूप सब उपाधियों से रहित है, वही उपादेय है। आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' भगवान आत्मा ही उपादेय है। समझ में आया? यह भावार्थ है। है न अन्दर?

श्रोता : षड्गुणहानिवृद्धि और अगुरुलघु यह दोनों एक ही हैं या अलग-अलग अपेक्षा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकसाथ। अपेक्षा भिन्न। तीन (अपेक्षाएँ हुईं)। एक अर्थपर्याय अगुरुलघु और एक ज्ञेय परिणमे, वैसे परिणमे, वह ज्ञान का परिणमन और एक संसार का नाश तथा सिद्ध की उत्पत्ति। ऐसे तीन। तीन हैं। यह षड्गुणहानि पहले बोल में गया, पहले बोल में गया। दूसरा बोल षड्गुणहानि का नहीं। अगुरुलघु षड्गुणहानिवृद्धि एक ही बोल में आया। आहाहा! यह षड्गुणहानिवृद्धि तो अगुरुलघु का स्वरूप बताया। है तो एक ही समय। षड्गुणहानिवृद्धि समय-समय में होती है। यह अगुरुलघुगुण के कारण (होती है)। यह उत्पाद-व्यय का एक प्रकार। दूसरा, ज्ञेय परिणति की अपेक्षा से ज्ञेय पलटते हैं, वैसे यहाँ पलटन होता है, इस अपेक्षा से भी उत्पाद-व्यय सिद्ध को है और तीसरा, संसार का नाश, भगवान सिद्धरूप से उत्पन्न हुए। ऐसा एक प्रकार का उत्पाद-व्यय। दूसरे समय में भी जो उत्पाद है, दूसरे समय में व्यय होता है और नयी उत्पन्न होती है। सिद्ध में भी सदा केवलज्ञान की पर्याय उत्पाद-व्यय हुआ करती है। समुद्र है भाई यह तो! वस्तु स्वभाव समुद्र है, महासमुद्र। पर्याय समुद्र, द्रव्य-गुण की तो बात क्या करना!! ऐसा कहते हैं। पर्याय की गम्भीरता समुद्र बड़ा! उसके द्रव्य-गुण की तो बात क्या करना! पर्याय का इतना माहात्म्य है कि जो केवलज्ञानगम्य व्याख्या कर डाली। आहाहा!

यह सिद्धस्वरूप समस्त उपाधि से रहित है। यह सिद्ध कहो या यह सिद्ध कहो। समझ में आया? जैसे कहा न उसमें कि केवली के गुण का स्तवन कैसे कहलाता है? तब कहा, गुण अधिक ऐसा तेरा आत्मा, उसे तू अनुभव (करे), वह केवली की स्तुति है। मूल तो यह कहना है। केवलज्ञान की स्तुति किसे कहना? पूछा ऐसा। ३१ गाथा। समयसार। केवलज्ञानी की सच्ची स्तुति किसे कहना? तब कहा, सच्ची उसे कहना कि भगवान आत्मा एक पर्याय से अधिक अर्थात् भिन्न, ऐसा जो अनुभव करना, उसका नाम केवली की स्तुति कही जाती है। केवली अर्थात् केवल आत्मा अकेला। आहाहा! समझ में आया? यह ५६ गाथा (पूरी) हुई।

आगे द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप कहते हैं -' ५७ (गाथा)।

तं परियाणहि दव्वु तुहँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु।

सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु।।५७।।

अन्वयार्थ - जो गुण और पर्यायोंकर सहित है, उसको हे प्रभाकरभट्ट, तू द्रव्य जान, ... द्रव्य की व्याख्या। गुण और पर्यायसहित, उसे द्रव्य कहा जाता है। आहाहा!

श्रोता : पर्यायरहित का द्रव्य जान ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं । यहाँ तो द्रव्य को पर से अत्यन्त भिन्न द्रव्य लेना है । 'पर्यायविजुत्तं दव्वं' अर्थात् ? पर्यायरहित द्रव्य नहीं । पर से भिन्न करने की अपेक्षा से बात है । अपने में और पर्यायरहित द्रव्य है, वह अलग । यह तो दोनों में वापस भेद डालना है । यहाँ तो गुण-पर्यायसहित द्रव्य है, ऐसा सिद्ध करना है । गुण और पर्यायवाला द्रव्य है । आहाहा ! और वह गुण-पर्यायवाला द्रव्य पर के कारण से नहीं है, ऐसा । अपने गुण और पर्याय के कारण से द्रव्य है । समझ में आया ?

गुण और समय-समय में होती पर्याय, उस गुण-पर्यायसहित द्रव्य है । अर्थात् उसकी पर्याय पर के कारण से उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं है । वह द्रव्य ही अपने गुण-पर्यायसहितवाला है । समझ में आया, कहता हूँ यह ? क्षण-क्षण में पर्याय जो होती है, वह गुण की और उस गुण-पर्यायसहित द्रव्य है अर्थात् कि पर्याय की उत्पत्तिवाला, गुणवाला वह द्रव्य है । उसकी पर्याय को कोई दूसरा उपजावे, ( ऐसा नहीं है ) । और उसकी पर्याय को स्वयं ही गुण की पर्याय होती है, ऐसा कहते हैं ।

श्रोता : सोनी सोने को घड़ता है या नहीं घड़ता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनी सोना का क्या घड़े ? गहना सोने से होता है, सोनी से नहीं । कहा नहीं ३७२ गाथा में ? मिट्टी से घड़ा होता है, कुम्हार से नहीं । सोनी से गहना नहीं होता । दागीना, दागीना कहते हैं न ? जेवरात । उसकी पर्याय स्वयं से होती है, सोनी से नहीं । आहाहा ! यह तो ३७२ में कहा नहीं ? कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं ।

श्रोता : वह भले न हो, गुरु से तो ज्ञान होता है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं किसी से । देखो ! *मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती है, इसलिए कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी कुम्हार के स्वभाव को नहीं स्पर्श करती हुई...* स्पर्श किये बिना *अपने स्वभाव से कुम्भभाव से उपजती है* । कहो ।

श्रोता : कुम्हार भले न हो, परन्तु गुरु बिना ज्ञान नहीं होता ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! तदनुसार सब ले लेना । कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं । इसी तरह स्त्री रोटी की करनेवाली है नहीं । इसी तरह चित्रकार चित्र का करनेवाला है ही नहीं ।

**श्रोता :** कागज का लेखन ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कागज का लिखनेवाला वह है ही नहीं। उसकी पर्याय उससे हुई है, पर से नहीं हुई।

**श्रोता :** सब मंजूर है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक रखो। यह आवे। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। इस आत्मा के गुरु बिना ज्ञान नहीं। भगवान जगतपिता परम-आत्मा, उसके बिना इसकी पर्याय नहीं। पिता बिना पर्याय नहीं। स्वयं धर्मपिता आत्मा है। उसकी पर्याय उसके धर्मपिता की। पर के बिना हो। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! इसीलिए लोगों को लगता है न।

**श्रोता :** आपका सब रखो, हमारी तो एक बात है, गुरु बिना ज्ञान नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** गुरु तो उसे कहा है इष्टोपदेश में। तूने तुझे समझाया, इसलिए तू तेरा गुरु! ऐसा कहा है। इष्टोपदेश में है। तूने तुझे समझाया न कि मैं द्रव्य हूँ, शुद्ध हूँ, अखण्ड हूँ। इसलिए तू तेरा गुरु।

**श्रोता :** कानपुर से इसलिए आये हैं ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह कानपुर से समझते हैं। आहाहा! विवाद ही यह सब उठे हैं न! उसने कहा न कि निमित्त से होता नहीं। एक केशुभाई है, वढवाण में। दशाश्रीमाली। उसे दूसरे ने कहा कि निमित्त से होता नहीं, (ऐसा कहते हो तो) तुम वहाँ किसलिए सुनने जाते हो? भाई! निमित्त से होता नहीं, यह हमारा दृढ़ होता है, वह हमारे लिये है। हम निमित्त के लिये नहीं जाते।

**श्रोता :** दृढ़ता तो होती है न।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परन्तु वह स्वयं से होती है। ऐसी बातें गजब। आहाहा! लोगों को मुश्किल पड़े ऐसी है। लोग मजाक करते हैं। यह पढ़ा है तुमने? नहीं पढ़ा होगा। 'जैन सन्देश'। कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है। घोर निमित्त का साधन करते हैं और मानते नहीं। घोर उपादान का करने को साधन तो बनाते हैं और इनकार करते हैं। अरे! प्रभु! यही कहा न उसमें भाई ने! अबुद्धस्य बोधनार्थ ज्ञानी व्यवहार से कहते हैं और वह पकड़ता है कि तुमने कहा न व्यवहार से। इसलिए... आहाहा! उससे हम समझते हैं या नहीं? अरे! भाई! और तुम भी व्यवहार समझाने को वाणी का आश्रय लेते हो या नहीं? पुस्तक का आश्रय लेते हो या नहीं? ऐसा वह बोलता है। भाई! ऐसा नहीं बोला जाता। ऐसा नहीं होता। ऐसे तर्क नहीं होते। हम

पूछते हैं और तुम उत्तर देते हो। तब तुमने निमित्त का सहारा नहीं लिया हमें उत्तर देने में ? अरे ! प्रभु ! ऐसा नहीं कहा जाता। समझ में आया ? आहाहा !

मोटी आवाज में हमने कहा है। नहीं आता ? प्रवचनसार अन्तिम गाथा। मोटी आवाज में हमने कहा, वह सब स्वाहा हो गया। तू समझ तो कहा गया, ऐसा कहने में आता है।

**श्रोता :** वापस ऐसा कहे, हमने कुछ कहा नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हमने कुछ कहा नहीं। आहाहा ! ओहोहो ! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यहाँ यह कहते हैं, गुण-पर्यायवाला द्रव्य। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने कार्यवाला द्रव्य है, ऐसा कहते हैं। पर्यायवाला अर्थात् ( इसका अर्थ यह )। उसके कार्य के लिये दूसरा होता है, ऐसा नहीं। दूसरी चीज़ भले हो। विशेष कहा जाएगा...

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव ! )



११

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा-७०, प्रवचन - ४९  
दिनांक - ३१-०७-१९७६

परमात्मप्रकाश ७० गाथा। क्या कहते हैं तुम्हारे? सत्तर। आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्म-मरणादि जीव के नहीं हैं, ... जन्म-मरण यह जीव के नहीं हैं। जीव तो त्रिकाली ध्रुवस्वरूप है। उसे जन्म-मरण नहीं, रोग नहीं, वृद्धावस्था नहीं। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण के भेद नहीं। तो किसके हैं? ऐसा शिष्य के प्रश्न करने पर समाधान यह है, ... क्या लिया? शिष्य का ऐसा प्रश्न है, जिसे जानने की जिज्ञासा है कि भगवान आत्मा को जब जन्म-मरण संसार नहीं, तो यह जन्म-मरण हैं किसके? उसका समाधान :

देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु।

देहहँ रोय वियाणि तुहँ देहहँ लिंगु विचित्तु॥७०॥

अन्वयार्थ - हे शिष्य, तू देह के जन्म, जरा, मरण होते हैं अर्थात् नया शरीर (धरना), विद्यमान शरीर छोड़ना, ... यह सब शरीर की दशा है। आत्मा में शरीर नहीं। इतनी बात यहाँ लेना है। वृद्ध अवस्था होना, ये सब देह के जानो, ... आहाहा! देह के अनेक तरह के सफेद, श्याम, हरे, पीले, लालरूप पाँच वर्ण... आत्मा में नहीं है। अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र ये चार वर्ण... आत्मा में नहीं है। देह के वात, पित्त, कफ आदि अनेक रोग... देह के हैं। आहाहा! भगवान आत्मा में तो देह है नहीं, पूर्णानन्द आत्मा में तो विकार भी नहीं और सम्यग्दर्शन का विषय जो पूर्ण आत्मा, उसमें तो पर्याय भी है नहीं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन जो पर्याय है, निर्विकल्प श्रद्धा के साथ आनन्द की पर्याय उत्पन्न होती है, ऐसे सम्यग्दर्शन का जो विषय है, वह तो त्रिकाली शुद्ध आत्मा उसका विषय है। आहाहा! जिसमें जन्म-मरण तो नहीं, जिसमें विकार नहीं, जिसमें पर्याय नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

सम्यग्दर्शन की जो पर्याय है, उसका विषय त्रिकाल है परन्तु वह पर्याय द्रव्य में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पर्याय, पर्याय में है; द्रव्य, द्रव्य में है। वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु,

सत् चिदानन्द प्रभु ध्रुव शाश्वत वस्तु, आहाहा! त्रिकाली भूतार्थ पदार्थ, जिसे ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ कहा। भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ। त्रिकाली वस्तु जो ध्रुव है, वह सत्यार्थ है। पर्याय भी असत्यार्थ है। आहाहा! त्रिकाल की अपेक्षा से पर्याय को भी असत्यार्थ कहा है, अभूतार्थ कहा है। गौण करके; अभाव करके असत्य है, ऐसा नहीं। पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। त्रिकाल में नहीं; परन्तु पर्याय को गौण करके कहा तो पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव चिदानन्द प्रभु को विषय बनाने में सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन उसे विषय करता है तो सम्यग्दर्शन पर्याय तो अभूतार्थ है, त्रिकाल की अपेक्षा से। पर्याय, पर्याय की अपेक्षा से भूतार्थ है, परन्तु सम्यग्दर्शन का जो विषय है, वह त्रिकाल भूतार्थ है। आहाहा! बात ऐसी है, भाई!

वह यहाँ कहते हैं, देह के सब विकार हैं। जन्म-मरण आदि आत्मा में कहाँ! बाल, यौवन, वृद्धावस्था आदि अवस्था, वह सब तो शरीर की है। भगवान में कहाँ बाल, युवा, वृद्ध है। वह तो कल थोड़ा कहा था। बाल अवस्था है, वह बहिर—रागादि को अपना मानना, वह बाल अवस्था है। शरीर की बाल अवस्था आत्मा में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? जो उस चीज़ में नहीं, ऐसा राग, पुण्य-पाप के विकल्प को अपना मानना, वह बहिर है। चैतन्य के स्वभाव में वह नहीं है। बहिर है, उन्हें अपना मानना, वह बहिरात्मा, वह बालक है। समझ में आया? आहाहा! और वस्तु भगवान पूर्णानन्दस्वरूप अन्तरात्मा वस्तु, उसकी अनुभव में दृष्टि होना, उसकी स्वसन्मुख की दृष्टि में उपादेयता होना, उसे अन्तरात्मा, उसे युवा दशा कहते हैं। वह जीव की युवा दशा है। समझ में आया? और भगवान आत्मा अपनी पर्याय में परमात्मदशा प्रगट करे, पर्याय में, परमात्मा वस्तु से तो है। यहाँ परमात्मप्रकाश चलता है न! वस्तु से तो परमात्मस्वरूप ही है, अनादि। आहाहा! अभव्य का आत्मा भी परमात्मस्वरूप है। भव्य का आत्मा भी परमात्मस्वरूप है, परन्तु वह परमात्मस्वरूप पर्याय में प्रगट होना, इसका नाम जीव की परिपक्व अवस्था—वृद्धावस्था कही जाती है। समझ में आया? इस (शरीर की) वृद्धावस्था, वह आत्मा में नहीं है। पर्याय में भी नहीं है।

**श्रोता :** यह तो नयी व्याख्या आयी।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नयी व्याख्या नहीं, अन्तर की बात है। ऐसा है, भगवान!

तेरी चीज़ क्या है? भाई! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, एक समय में तेरी ध्रुव सत्ता, जिसे शक्तिरूप परमात्मा कहते हैं, जिसे शक्तिरूप मोक्ष कहते हैं, जिसे शास्त्र भाषा से १४-१५

(गाथा में) अबद्ध कहा। कैसा है भगवान? कि अबद्ध है। उसकी दृष्टि करना, वह जैनशासन है। आहाहा! समझ में आया? १५वीं गाथा में कहा न? 'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणण्ण' उसमें मुझे तो 'अबद्ध' लेना है। आत्मा राग और बन्ध में है ही नहीं। समझ में आया? ऐसा भगवान अबद्धस्वरूप परमात्मा शक्ति, शक्ति से मोक्षस्वरूप है। अबद्ध कहो, वह तो बद्ध के अभाव की नास्ति की है। अस्ति से कहो तो मोक्षस्वरूप ही है। उसकी शक्ति मोक्षस्वरूप ही है।

श्रोता : कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा।

श्रोता : कब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि। भगवान! तेरी मोक्ष अवस्था हो, वह दूसरी चीज़ है, परन्तु शक्ति और स्वभाव तो मोक्षस्वरूप ही है। आहाहा! यदि मोक्षस्वरूप शक्ति न हो तो पर्याय में मोक्ष कहाँ से आयेगा? कहीं बाहर से आता है? आहाहा! समझ में आया? यदि वह वीतरागस्वरूप न हो तो पर्याय में वीतरागता कहाँ से आयेगी? कहीं बाहर से आती है? आहाहा!

श्रोता : कर्म खिरे, तब आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म खिरे तो आवे नहीं, ऐसा है ही नहीं। अपने स्वभाव में लीनता करे तो आती है। यह तो अपने आ गया न, अपने स्वभाव की—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है। आदि में कर्म खिरे तो यहाँ होता है, ऐसी बात है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा केवलज्ञान की पर्याय प्रगट करने में आदि आत्मा, मध्य आत्मा, अन्त आत्मा। केवलज्ञान की पर्याय में केवलज्ञानावरणी का अभाव होता है तो केवलज्ञान होता है, ऐसी अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि (जन्म, जरा, मरण) आदि सब देह का जानो। आहाहा! वात, पित्त, कफ आदि अनेक रोग देह के... अरे! स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग... देह के चिह्न हैं। आहाहा! अरे! यति के लिंग... देह का है। नग्नदशा या पंच महाव्रत के विकल्प, वे सब देह के विकार हैं। समझ में आया? अलिंगग्रहण में तो कहा है। बीस बोल है न? आहाहा! यति का बाह्य लिंग जिसमें नहीं, उसे अलिंग आत्मा कहते हैं। समझ में आया? १७वाँ बोल है। बीस बोल है न, २०। प्रवचनसार, १७२ गाथा। बोंतेर कहते हैं। उसमें अलिंगग्रहण के

बीस बोल हैं। उसमें १७वाँ बोल यह है। यति का बाह्य लिंग जिसमें नहीं, उसे हम भगवान आत्मा कहते हैं। आहाहा! अरे! वह तो नहीं, यह तो आगे लेंगे, आगे लेंगे। है? भावलिंग आत्मा में नहीं है। कितनी गाथा? देखो! ८८ गाथा है।

द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही नहीं है, ... भगवान आत्मा में द्रव्यलिंग (तो है ही नहीं)। अन्तिम बात है। ८८ गाथा में अन्त में। अन्तिम तीन लाईनें। द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही नहीं है, ... नग्नपना और पंच महाव्रत के विकल्प, वह सब द्रव्यलिंग है। ८८ की अन्तिम तीन-चार लाईनें। (गुजराती में) लीटी कहते हैं न? पंक्ति। आहाहा! क्या कहते हैं? द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही नहीं है और वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग यद्यपि... देखो! वीतराग निर्विकल्प मोक्ष का निश्चय मोक्षमार्ग, वह भावलिंग। आहाहा! शुद्धात्मस्वरूप का साधक है, इसलिए उपचारनयकर जीव का स्वरूप कहा जाता है, ... उपचार से है। आहाहा! पर्याय है न! मोक्ष के मार्ग की भी पर्याय है। निश्चय स्वभाव का अनुभव, दृष्टि, ज्ञान और रमणता, ऐसा जो मोक्षमार्ग निर्विकल्प समाधि, निर्विकल्प शान्ति, विकल्परहित निर्विकल्प वीतरागी शान्ति, वह भावलिंग भी जीव में नहीं है, वह तो पर्याय में है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग भाई! बहुत सूक्ष्म है, भाई! जिनवर का मार्ग लोगों ने बाह्य से मान लिया है, ऐसी चीज़ नहीं है।

जो भगवान आत्मा अबद्धस्वरूप है, मुक्तस्वरूप है, ध्रुवस्वरूप है, सामान्यस्वरूप है, उसमें मोक्ष के मार्ग की निर्विकल्पदशा... द्रव्यलिंग तो नहीं, भावलिंग साधकरूप से पर्याय में है, वस्तु में नहीं। वास्तव में तो भावलिंग जो निर्विकल्प आत्मा का अनुभव, जो वीतरागी पर्याय, वह द्रव्य को स्पर्श नहीं करती और द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग है। सामान्य पर्याय को स्पर्श कर जाए तो सामान्य का नाश हो जाए। एक समय की पर्याय बदले तो साथ में वह भी बदल जाए। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ यह कहा, देखो! जीव का स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीव का नहीं है। आहाहा! झ्रया बताना है? सम्यग्दर्शन का जो विषय है, वह तो भावलिंग की पर्याय से भी रहित है। समझ में आया? भावलिंग जो मोक्ष का मार्ग, निश्चय मोक्ष का मार्ग जो वीतराग पर्याय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों वीतरागी पर्याय हैं, यह मोक्ष का मार्ग है, परन्तु वह पर्याय में है। आहाहा! ऐसी बात! कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर दर्शन के सिवाय कहीं नहीं है। समझ में आया? आहाहा! तीन लोक का नाथ...

श्रोता : ....कि भावलिंग से भिन्न है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव नहीं, जीव का नहीं, द्रव्य का नहीं। 'जिउ' नहीं आया ? ६८ गाथा में। ६८ गाथा में आ गया है। 'ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।' 'जिउ' 'जिउ' हम जीव उसे कहते हैं। जिनेश्वर ऐसा कहते हैं। देखो! 'जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ।।६८।।' आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेश्वर सभा के बीच, गणधर और इन्द्रों की सभा में, चक्रवर्ती और वासुदेव, बलदेव सभा में उपस्थित थे, वहाँ भगवान ऐसा कहते थे। आहाहा! प्रभु! 'जिणवरु एउँ भणेइ' जीव उसे कहते हैं कि जिसमें... आहाहा! मोक्ष की पर्याय भी नहीं और मोक्ष के मार्ग को जीव करता नहीं। आहाहा! वह तो पर्याय करती है। समझ में आया? मार्ग सूक्ष्म है, भाई! यह तो जैनदर्शन है। यह जैनदर्शन ही विश्वदर्शन है। दुनिया सबको इकट्ठे करके विश्वदर्शन कहती है, ऐसा नहीं है। ऐसा समन्वय किसी के साथ नहीं होता। आहाहा!

विश्व दर्शन अर्थात् समस्त शक्ति का पिण्ड प्रभु का दर्शन, वह जैनदर्शन है। यह तो १५वीं (गाथा) में कहा है न? 'जो पस्सदि अप्पाणं' कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते थे, वह हम सन्देश लेकर आये हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान के पास गये थे न? आठ दिन रहे थे। भगवान ऐसा फरमाते थे कि जो कोई आत्मा को अबद्ध देखे, पर्याय में राग का सम्बन्ध नहीं, वस्तु अत्यन्त भिन्न है - ऐसा अबद्ध देखे, वह 'पस्सदि जिणसासणं सव्वं' वह समस्त जिनशासन को देखता है। आहाहा! जो राग को देखे नहीं, निमित्त को देखे नहीं, पर्याय को देखे नहीं। आहाहा! जो मुक्तस्वरूप प्रभु अनादि से है। पर्याय में जरा राग का सम्बन्ध है, वस्तु में नहीं। पर्याय में राग का सम्बन्ध कहने में आता है, वस्तु में है नहीं। आहाहा! वह वस्तु अबद्ध है। उसे 'पस्सदि' जो उसे देखता है, आहाहा! देखने के काल में वह वस्तु अबद्धस्वरूप दिखाई दी, वह जैनशासन है। उस पर्याय में उसे जैनशासन कहते हैं, वस्तु में नहीं।

जैनशासन वीतरागी पर्याय है, परन्तु उस त्रिकाली को देखकर जो वीतरागी पर्याय हुई, वह जैनशासन; परन्तु वह पर्याय भी द्रव्य में नहीं। आहाहा! देवीलालजी! बात तो ऐसी है, भगवान! अरे! तू छोटा नहीं, बड़ा है, प्रभु! तेरी शक्ति का माहात्म्य क्या कहे? प्रभु कहते हैं, हम भी पूरा नहीं कह सकते। समझ में आया? बारह अंग में बात आयी है, वह स्थूल आयी है, ऐसा कहते हैं। बारह अंग में, पण्डितजी! चौदह पूर्व। पंचाध्यायी में है, बारह अंग में स्थूल

(बात) आयी है। आहाहा! वीतराग वाणी, आहाहा! देखने में आया उससे अनन्तवें भाग वाणी में आया, उससे अनन्तवें भाग गणधर ने आगम रचे, ऐसा भगवान निर्विकल्प आनन्द का नाथ प्रभु, सुख का साहिबा, सुख का भण्डार प्रभु है। उसमें जिनशासन की पर्याय नहीं है। जैनशासन पर्याय में है। समझ में आया? यहाँ यह कहा न? देखो!

‘ण वि उप्पज्जइ’ भगवान आत्मा तो उत्पाद में आता ही नहीं। जन्म तो नहीं, परन्तु उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्, उस उत्पाद में ध्रुव आता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाई! भगवान का मार्ग है। जिसे एकावतारी इन्द्र सुनते हैं। शकेन्द्र, पहले देवलोक का इन्द्र, बत्तीस लाख तो विमान है। एक-एक विमान में असंख्य तो देव हैं। उनका साहेब शकेन्द्र अभी एकावतारी है। एकावतारी समझते हो? एक भवतारी। आहाहा! वह शकेन्द्र एकभवतारी है, ऐसा भगवान की वाणी में आया है और शास्त्र में है और उसकी इन्द्राणी एकभवतारी है। आहाहा! स्त्री का देह है। उत्पन्न हुई इन्द्राणी, तब तो मिथ्यादृष्टि थी। इन्द्राणीरूप से उत्पन्न हुई, तब तो मिथ्यादृष्टि थी। स्त्रीरूप से समकित्ती उत्पन्न नहीं होता। परन्तु पश्चात् इन्द्र के साथ भगवान के जन्म महोत्सव कल्याणक में जाती थी, तब उसे अन्तर में भान हो गया। उससे नहीं, हों! (स्वयं से हुआ है)। नहीं तो सब देखते हैं, परन्तु अन्दर में ऐसा हो गया... ओहोहो! जिसकी पुण्यप्रकृति का इतना वैभव! मानस्तम्भ चारों ओर जिनकी सभा इन्द्र रचते हैं तो इन्द्र को विस्मय हो जाता है कि कैसी रचना हो गयी!! हम जैसा चाहते थे, उससे दूसरी रचना हो गयी। यह भगवान का—तीर्थकर का पुण्य है तो ऐसी हो गयी। उसमें इन्द्र बैठकर सुनता है तो भगवान यह बात करते हैं। आहाहा!

प्रभु! तेरा जीव जो है, वह उत्पाद की पर्याय में आता नहीं, नाथ! वह व्यय की पर्याय में आता नहीं, वह बन्ध-मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ‘जिउ’ उसे जीव कहते हैं। यहाँ पर्याय को जीव नहीं कहा। समझ में आया? आहाहा! त्रिकाली चिदानन्द प्रभु, चिदानन्द भूपाल की राजधानी, यह याद आया। उसमें आता है न? वीतराग की वाणी चिदानन्द भूपाल की राजधानी। वीतराग की वाणी, वह चिदानन्द भूपाल की राजधानी बताती है। भाई! यहाँ तो ऐसी बात है। क्या तेरी महिमा! प्रभु कहते हैं।

हम उसे जीव कहते हैं। आहाहा! कि जो जीव मोक्ष और मोक्ष के कारण की पर्याय को भी करता नहीं। जो बन्ध और बन्ध के कारण को तो करता नहीं परन्तु मोक्ष और मोक्ष के मार्ग को भी करता नहीं, उसे हम जीव कहते हैं। समझ में आया?

**श्रोता :** आप चाहे जिसे जीव कहो, हमें तो धर्म करना है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह धर्म उससे होता है। त्रिकाली जीव मोक्ष का करनेवाला नहीं, ऐसा द्रव्य है, उसकी दृष्टि करना, उसमें लीन होना, वह धर्म है। यह तो सेठ स्पष्टीकरण कराते हैं। आहाहा! देखो न! परमात्मप्रकाश। तेरी चीज़ जो है, वही परमात्मस्वरूप है। ध्रुव, हों! ध्रुव। उत्पाद-व्ययरहित जो चीज़ है, वह परमात्मस्वरूप ही है, प्रभु! विद्यमान परमात्मा, हों! आहाहा! अनादि परमात्मा। नया नहीं होता। वह तो परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा! उसकी दृष्टि इस ओर करना और स्वीकार करना, इसका नाम सम्यक् सत्य दर्शन, सत्य जैसा है, वैसा दर्शन करना सत्दर्शन है। आहाहा!

**श्रोता :** धन्य है आपको कि आपने यह मर्म खोला।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह वस्तु ही ऐसी है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य कोई भी सन्त हो, दिगम्बर सन्तों ने तो जगत को निहाल कर डाला है।

अनादि वस्तु यह है। भगवान सन्तों ने (ऐसा कहा है)। त्रिकाल में त्रिकाली को जाननेवाले का विरह नहीं होता। क्या कहा? तीन काल जो जगत है, उसमें तीन काल को जाननेवाले का विरह नहीं होता। अनादि से तीन काल का जाननेवाला है। आहाहा! समझ में आया? तीन काल में-तीन लोक में तीन काल को जाननेवाले का विरह कभी नहीं होता। अनादि त्रिकाल ज्ञानी है, भविष्य में (होंगे)। आहाहा! अनादि त्रिकाल को जाननेवाले सर्वज्ञ अनादि से हैं। त्रिकाल जैसी चीज़ है, तो सामने त्रिकाल जाननेवाला भी त्रिकाल है। शुकनचन्दजी! आहाहा!

मैं तो यह कहता था, इस मूर्ति को उत्थापित करते हैं न, उन्हें हम कहते थे कि भगवान! ऐसा मत करो। जैसे भगवान त्रिकाल है, वैसे त्रिकाली प्रतिमा भी है। स्वर्ग में शाश्वत् प्रतिमा त्रिकाली है। जैसे त्रिकाली सर्वज्ञ हैं, किसी समय सर्वज्ञ का विरह नहीं होता तो किसी समय में उनके प्रतिबिम्ब का विरह नहीं होता। समझ में आया? प्रश्न चलते थे न! हमारे तो सम्प्रदाय में भी बहुत चलते थे। एक तो ऐसा प्रश्न बहुत वर्ष पहले ७६ के वर्ष में आया था। एक सेठ था। गृहस्थ था। अभी तो बहुत गृहस्थ हो गये। तब तो दस लाख बहुत कहलाते थे न! ७० वर्ष पहले। ६०-७०। कहते हैं न? सीत्तेर-सत्तर। उसे थे बहुत थोड़ा पैसा। गृहस्थ था। दस लाख रुपये, उस दिन, हों! ७० वर्ष पहले। अब तो साधारण महिलाओं के पास पाँच-दस लाख होते हैं। वे गृहस्थ थे, उनकी दृष्टि स्थानकवासी की थी। वे पहले ऐसा कहते थे, जब तक मिथ्यादृष्टि हो, तब तक मूर्ति की पूजा होती है। सम्यग्दर्शन के बाद मूर्ति की पूजा नहीं, मूर्ति नहीं। समझे।

पश्चात् मैंने उत्तर दिया, सुनो! यह कहते हैं कि जब तक मिथ्यादृष्टि हो, तब तक प्रतिमा की पूजा होती है। सम्यग्दर्शन के बाद पूजा नहीं होती। भक्ति, पूजा और प्रतिमा नहीं होती। सुनो भाई! मिथ्यादृष्टि के सामने निक्षेप होता ही नहीं। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब श्रुतज्ञान होता है, तो श्रुतज्ञान के भेद निश्चय और व्यवहारनय होते हैं। उस व्यवहारनय का विषय निक्षेप समकिति को होता है। पण्डितजी! समकिति को ही पूज्य प्रतिमा है, क्योंकि उसे श्रुतज्ञान हुआ। त्रिकाली को जाने और पर्याय को जाने, राग को जाने, पर को जाने। तो उसे जो व्यवहारनय है, श्रुतज्ञान तो प्रमाण (ज्ञान) है, उसके भेद निश्चय और व्यवहार दो भेद हैं। श्रुतज्ञान अवयवी है और निश्चय-व्यवहार उसके अवयव / भेद हैं, अतः जब भेद में व्यवहारनय है, तब सामने निक्षेप ज्ञेय का भेद जो स्थापना, ज्ञेय का भेद है न? नाम, स्थापना, द्रव्य, वह ज्ञेय के (भेद हैं)। ज्ञान के भेद यहाँ रहे। ज्ञान के भेद निश्चय-व्यवहार यहाँ रहे। ज्ञेय के भेद वहाँ। अतः ज्ञानी को ही व्यवहार और निश्चय (होता है)। उसे ही प्रतिमा पूजनीय यथार्थ होती है। है भले शुभभाव। समझ में आया? हम तो पहले उसमें थे न, परन्तु हमारी लाईन तो अन्दर से दूसरी थी।

मैंने कहा कि नहीं; प्रतिमा का पूजन और प्रतिमा का यथार्थ मानना समकिति को होता है। जिसे सम्यग्ज्ञान हुआ, उसमें श्रुतज्ञान हुआ। श्रुतज्ञान का भेद व्यवहारनय हुआ, उसे-ज्ञेय का भेद स्थापना, वह व्यवहारनय का विषय उसको है। अज्ञानी को निक्षेप-बिक्षेप होता ही नहीं। समझ में आया? यह तो अन्दर से आती थी न! पूर्व की बात अन्दर थी न! यह तो कहीं सीखे नहीं थे। गुरु के पास थी नहीं। कहा, नहीं, बात ऐसी नहीं है। समझ में आया?

यहाँ तो क्या कहा? देखो! ओहोहो! यह जिनवर ऐसा कहते हैं, हे योगी! हे मुनि! हे धर्मात्मा! ऐसा कहते हैं। हे धर्मात्मा! जिनवर ऐसा कहते हैं कि हम उसे जीव कहते हैं कि जो मोक्ष के मार्ग को, मोक्ष को न करे, उसे हम जीव कहते हैं। आहाहा! पण्डितजी! समझ में आया? यह तो हिन्दी है। बेंगलोर में पण्डितजी बहुत अच्छे अर्थ (करते हैं), बहुत नरम व्यक्ति है। बेंगलोर। दो पण्डित थे। भाषा हिन्दी थी। वहाँ तो सब मराठी। मराठी भाषा बोलते थे। ये पण्डित बैठे, नरम हैं। बेंगलोर से आये हैं। हम बेंगलोर गये थे। बारह लाख का मन्दिर हुआ न अपना, बारह लाख का मन्दिर हुआ, दिगम्बर मन्दिर। बारह लाख का। हम गये थे। वहाँ बुलाया था। अपनी ओर से हुआ है। सोनगढ़ की ओर से। एक जुगराजजी स्थानकवासी करोड़पति हैं। जुगराजजी करोड़पति। उन्होंने चार लाख डाले हैं। यहाँ की श्रद्धावाले हैं, परन्तु स्थानकवासी थे। एक करोड़। उसने चार लाख डाले हैं। एक भभूतमल श्वेताम्बर है। उसने



आठ लाख डाले हैं। एक मन्दिर में बारह लाख। अपना मन्दिर, हों! दिगम्बर। नहीं तो हम तो श्वेताम्बर में जाते नहीं। बारह लाख।

**श्रोता :** समवसरण भी है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, समवसरण है, समवसरण है। लोग बहुत आते हैं। देखने के लिये अन्यमति (आते हैं)। बारह लाख का मन्दिर। समझ में आया ?

**श्रोता :** आपकी अनुमति से बना है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो बनने की चीज़ थी, वह बनी है। किसी ने बनायी नहीं। ऐसी बात है।

**श्रोता :** हम तो कहते हैं कि हमारे गुरु मन्दिर बनाते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो भाव होता है न शुभ! शुभभाव है और बनता है, उसमें निमित्त कहा जाता है। शुभभाव हुआ तो मन्दिर बना, ऐसा नहीं है। भाई! बनने की योग्यता परमाणु में थी तो परमाणु में उस समय में (उस प्रकार का परिणाम हुआ)।

प्रवचनसार १०२ गाथा में लेख है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय जिस समय में उत्पन्न हो, वह उसका काल है। जन्मक्षण, ऐसा पाठ है। प्रवचनसार १०२ गाथा। द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह उत्पत्ति का काल है, उस कारण से उत्पन्न होती है। पर से उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो दोपहर में चलता है। कर्ता-कर्म, दोपहर में चलता है न! आहाहा! पर का कर्ता तो नहीं। यह दोपहर में चलता है कि कर्म का उदय कर्ता और विकार कर्म, ऐसा है नहीं। विकारी परिणाम होते हैं, वह उसका कर्तव्य और कर्ता कर्म—ऐसा नहीं और विकारी परिणाम कर्ता तथा कर्मबन्धन होता है, वह कर्म—उसका कार्य, ऐसा होता नहीं। आहाहा!

**श्रोता :** तो क्या होता है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** विकार का कर्ता जीव और विकार जीव का कर्म। पर्याय में। यहाँ तो पर्याय सिद्ध करनी है न! यहाँ तो विकार की पर्याय उसमें नहीं है। पर्याय, पर्याय की कर्ता है। परन्तु जब पर से भिन्न करना हो तो विकार का कर्ता आत्मा और विकारी पर्याय उसका कर्म। कर्म के कारण विकार हुआ है, ऐसा है नहीं और विकारी परिणाम हुए; इसलिए वहाँ कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नहीं। उन परमाणु में उस समय में बँधने की योग्यता से परमाणु बँधे हैं।

वे विकारी परिणाम हुए, वह तो निमित्तमात्र है। बन्धन हुआ, वह उपादान अपनी पर्याय से वहाँ बन्धन हुआ है। ज्ञानावरणीरूप बन्धन उसकी पर्याय से हुआ है। आत्मा ने राग किया, इसलिए नहीं। यह वस्तु है। निमित्त को उड़ाया कहो या निमित्त को सिद्ध किया कहो। है, इतनी बात परन्तु उससे कार्य हुआ – ऐसा नहीं है। यह तो कहा न, ३७२ गाथा, समयसार। भगवान् अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि घड़ा कुम्हार से बना है, ऐसा हम नहीं देखते। मिट्टी से घड़ा बना है, ऐसा हम देखते हैं। ३७२, समयसार। दोपहर में चलता है न! समझ में आया? आहाहा! **मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती, इसलिए कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं...** लो, निमित्त उड़ा दिया। शिखरचन्दजी! निमित्त सिद्ध हुआ। निमित्त है उसमें, परन्तु उससे घड़ा हुआ है, ऐसा नहीं है। **मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को नहीं स्पर्श करती हुई...** है? **अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।** आहाहा! कहो, समझ में आया?

**और जीव को परद्रव्य रागादि उत्पन्न करते हैं, ऐसी शंका नहीं करना...** कि कर्म का उदय आया तो इसे राग करना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न कराता है, (ऐसी शंका नहीं करना) **अन्य द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्य के गुण का उत्पाद करने की अयोग्यता है...** आहाहा! कुम्हार की पर्याय से घड़ा उत्पन्न होता है, यह अयोग्यता है। आहाहा! मिट्टी की योग्यता है कि घड़े को उत्पन्न करती है। वह मिट्टी कर्ता और घड़े का कर्म, वह मिट्टी का है; वह कुम्हार का कार्य नहीं है। आहाहा! ३७२ गाथा बहुत स्पष्ट है। 'अण्णदविण्ण अण्णदवियस्स' ऐसा पाठ है। अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की पर्याय कभी तीन काल में उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! लोग गड़बड़-गड़बड़ करते हैं, बापू! ऐसा नहीं होता, भाई! जो वस्तु जैसी है, वैसी समझनी चाहिए। उल्टी दृष्टि से अनादि काल गया। आहाहा! **कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती...** लो। **मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती, परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है।** उसमें चिह्न किया होगा न! ऐसे चिह्न नहीं। गुजराती में उसके चिह्न होंगे। आहाहा!

यहाँ तो अपने ७० गाथा चलती है। यति के लिंग आत्मा में नहीं हैं। यहाँ आये हैं अपने। साधु का लिंग जो नग्नपना है या अट्टाईस मूलगुण है, वह आत्मा में नहीं है। वह तो नहीं; भावलिंग जो है, वह भी आत्मा में नहीं। आहाहा! निर्विकल्प शान्ति, निर्विकल्प मोक्ष का मार्ग, वह पर्याय भी द्रव्य में नहीं और वह द्रव्य मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग।

**श्रोता :** द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग की पर्याय होती है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बिल्कुल किसी के आश्रय से नहीं होती है। स्वयं के आश्रय से होती है। पर्याय, पर्याय के आश्रय से होती है। द्रव्य के आश्रय से नहीं और पर के आश्रय से तो नहीं, नहीं।

**श्रोता :** सन्मुख होती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह तो पर्याय स्वयं से सन्मुख होती है। क्या द्रव्य सन्मुख कराता है ? आहाहा! यह वीतराग विज्ञान है। पण्डितजी आज आये नहीं। दोपहर में आयेंगे। हुकमचन्दजी आज आनेवाले थे। एक बजे।

यहाँ तो कहते हैं यतिलिंग और द्रव्यमन भी आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! लिंग है न ? आहाहा! है ? लिंग नहीं। लिंग में यह डाला। यह द्रव्यमन परमाणु का बना हुआ है न, यह आत्मा में नहीं। निश्चय से तो भावमन जो संकल्प-विकल्प है, वह आत्मा में नहीं। अरे! मन की निर्मल ज्ञान की पर्याय जो है, वह भी आत्मा में नहीं, वह तो पर्याय में है। आहाहा! ऐसा पर्यायरहित जो भगवान, उसकी दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है। धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है, बाकी सब बात है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! युवक! झवेरीलाल है न ? आहाहा! उसमें जवान (क्या), आत्मा तो है ऐसा ही है। जवान, वृद्ध वह तो देह की दशा है। भगवान तो त्रिकाली एक स्वरूप विराजमान है। जिसमें विकारी पर्याय तो नहीं परन्तु जिसमें निर्विकारी पर्याय नहीं - ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है। बाहर में रच-पच गये हैं न, बाहर की लाईन में।

भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसमें यति के लिंग का अभाव है। समझे न ? अलिंगग्रहण में कहा न, अलिंगग्रहण में, १७वें बोल में यह कहा। यति के लिंग का अभाव है। बाह्यलिंग जो यति के हैं, विकल्प आदि, नग्नपना, इस भगवान आत्मा में अभाव है। इतना वहाँ लिया है। यहाँ तो आगे भावलिंग जो मोक्ष का मार्ग, आहाहा! कितना पर से हटना पड़े और कितना अन्दर में जुड़ान करना पड़े! योगी कहा न योगी! योगी अर्थात् स्वरूप में जुड़ान करना—पर्याय को जोड़ना, वह योगी। वे अन्यमति के बाबा के योगी की बात नहीं है। अपनी पर्याय को, निर्मल पर्याय को, द्रव्य में जोड़ना (अर्थात्) उस सन्मुख लक्ष्य करना, उसे योगी कहते हैं। समकित्ती भी योगी है। समझ में आया ? उन अन्यमत के बाबा की यहाँ बात नहीं है। (समकित्ती) योगी है। आहाहा!

श्रद्धा की पर्याय को आत्मसन्मुख किया, इतना जुड़ान किया न ? जुड़ान का अर्थ पर्याय द्रव्य में घुस नहीं जाती परन्तु उस ओर का झुकाव हुआ। आहाहा! धर्मात्मा सन्त महात्मा योगी। योगी महात्मा। आहाहा! सन्त तो उसे कहते हैं, सन्त उसे कहते हैं, जो आनन्द के नाथ में झुक गये हैं और अतीन्द्रिय आनन्द का जिसमें अनुभव आया। सिद्धान्त तो ऐसा कहता है, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होना, वह धर्म की मोहरछाप है। समयसार पाँचवीं गाथा में है। यहाँ तो बहुत बार वाँचन हो गया है। सत्रह बार वाँचन हो गया। यह तो अठारहवीं बार चलता है। आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान में भान हुआ तो उसमें आनन्द का अनुभव साथ में आता है। उस अनुभव की आनन्द की मोहरछाप है। आनन्द का भाव आवे नहीं और अनुभव हुआ, (ऐसा कोई कहे तो) वह बात मिथ्या है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा कहे और आनन्द आया नहीं (तो वह मिथ्या बात है)। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को पूर्णानन्द के नाथ की ओर दृष्टि है तो सर्व गुण के एक अंश की व्यक्तता प्रगट होती है। क्या कहा ? सम्यग्दर्शन में त्रिकाली ज्ञायकभाव दृष्टि में आया तो जितने गुण हैं, (उनका) उतना एक अंश व्यक्तरूप से चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है। आहाहा! अनन्त गुण। क्योंकि द्रव्यदृष्टि हुई न, द्रव्य को पकड़ा न, पूरे अनन्त गुण के पिण्ड द्रव्य को पकड़ा तो द्रव्य में जितनी शक्ति है, उस सबका एक अंश व्यक्त प्रगट परिणामन में आया है। समझ में आया ? ज्ञानादि एकदेश प्रगट होते हैं। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है। टोडरमलजी हैं न ? (उनकी) रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

**इस प्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा को ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं...** एक अंश प्रगट हुआ। वस्तु तो पूर्ण है, परन्तु सम्यग्दर्शन में सब गुणों का एकदेश व्यक्त अनुभव में आया है। है ? रहस्यपूर्ण चिट्ठी। **भाईश्री! तुमने तीन दृष्टान्त लिखे अथवा दृष्टान्त द्वारा प्रश्न लिखाये परन्तु दृष्टान्त सर्वांग मिलते नहीं हैं। दृष्टान्त है, वह एक प्रयोजन दर्शाता है। यहाँ दूज का चन्द्र, जलबिन्दु, अग्निकण - यह तो एकदेश है और पूर्णिमा का चन्द्र, महासागर तथा अग्निकण्ड - यह सर्वदेश है। इसी प्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा को ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं...** समझ में आया ? उन्होंने ऐसा प्रश्न किया था कि असंख्य प्रदेश हैं न, तो कितने ही प्रदेश अत्यन्त एकदम खुले हो जाते हैं एकदेश। ऐसा उन्होंने कहा। तो (जवाब दिया कि) ऐसा नहीं है। एक थोड़ा भाग सर्व प्रदेश का खुल्ला

हो जाता है। ऐसा प्रश्न किया था। ऐसा नहीं है। सब प्रदेश में अनन्त गुण हैं, वह एकदेश प्रगट होता है। समझ में आया? देवीलालजी! ऐसी बात है, भाई! आहाहा!

**श्रोता :** आत्मप्रदेश नहीं, गुण प्रगट हुए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** गुण प्रगट हुए। प्रदेश में ऐसा कहा न कि जैसे दूज में चन्द्र का एक भाग खुल्ला हो जाता है, वैसे आत्मा के अमुक प्रदेश एकदम खुल्ले हो जाते हैं? तो कहा, ऐसा नहीं है। यह दृष्टान्त उससे नहीं मिलता। यहाँ तो असंख्य प्रदेश में जो अनन्त गुण हैं, वे प्रत्येक प्रदेश में आंशिक व्यक्त हो जाते हैं। प्रदेश थोड़े शुद्ध प्रगट होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो सब व्याख्यान हो गये हैं। सबके व्याख्यान हो गये हैं। 'अध्यात्म सन्देश' पुस्तक है न? उसमें सब व्याख्यान आ गये हैं। बहुत पुस्तकें बाहर प्रकाशित हुई हैं, यहाँ से चौदह लाख प्रकाशित हुई हैं। रहस्यपूर्ण चिट्ठी, मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे है। तीन चिट्ठियाँ हैं न? एक उपादाननिमित्त चिट्ठी, एक रहस्यपूर्ण चिट्ठी और एक परमार्थ वचनिका, तीन है।

यहाँ कहते हैं, यतिलिंग और मन का द्रव्यलिंग भी आत्मा में नहीं है। आहाहा! **जान...** गुरु ऐसा कहते हैं कि हे शिष्य! तू ऐसा जान। देखो! भाषा है! आहाहा! भगवान आत्मा में रंग, गन्ध, स्पर्श नहीं; ब्राह्मण-क्षत्रिय का वर्ण नहीं; और यति लिंग आदि मन के लिंग नहीं। आहाहा! समझ में आया?

**भावार्थ - शुद्धात्मा का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान आचरणरूप...** शुद्धात्मा जो द्रव्य शुद्ध चैतन्य प्रभु, ऐसे शुद्धात्मा का सच्चा श्रद्धान-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सच्चा, सम्यक् आचरण सच्चा अभेदरत्नत्रय की भावना से विमुख... उस अभेद भावना से विमुख जो राग, द्वेष, मोह, उनकर उपार्जे जो कर्म... आहाहा! यह कर्म कैसे उपार्जन हुए? शुद्धात्म श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जो है, उससे विपरीत राग-द्वेष-मोह किये, उनसे कर्मबन्धन हुआ। समझ में आया? राग, द्वेष, मोह उनकर उपार्जे जो कर्म उनसे उपजे जन्म-मरणादि विकार हैं,... उसके कारण से वहाँ जन्म-मरण विकार है, स्वभाव में है नहीं। वे सब यद्यपि व्यवहारनय से जीव के हैं,... व्यवहार से (कहे जाते हैं)। निश्चयनयकर जीव के नहीं हैं,... आहाहा! देह सम्बन्धी हैं, ऐसा जानना चाहिए। विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१२

श्री समाधितन्त्र, श्लोक-२०, प्रवचन - २९

दिनांक - ०८-०१-१९७५

समाधितन्त्र की बीसवीं गाथा फिर से लेते हैं। जो यह गाथा... आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है। वह राग को और रजकण को ग्रहण नहीं करता। राग है, वह आस्रव है और रजकण है, वह अजीव है। जो ज्ञानानन्दस्वभाव, वह राग को आत्मस्वरूप से स्वीकार नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? आत्मा चैतन्य ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप राग और गुण-गुणी के भेद, ऐसा जो विकल्प, उसे भी अभेद चीज़ ज्ञायक ग्रहण नहीं करता। राग को वह ग्रहण नहीं करता और अनन्त ज्ञानादि स्वभाव जिसकी अनन्त शक्ति, अनन्त गुण—ऐसा जो स्वरूप, उसे वह कभी छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा!

एक चीज़ में अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि अनन्त शक्तियों का ध्रुवपना पड़ा है। वह कभी उसे निगोद में गया तो भी जो ध्रुवस्वरूप है, वह उसने छोड़ा नहीं। वस्तु स्वभाव जो है, उसने तो राग को भी ग्रहण नहीं किया। अज्ञानरूप से राग को अनादि से ग्रहण किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्प हैं, वे मेरे हैं—ऐसा ग्रहण किया। वह तो अज्ञानरूप से है। वस्तु के स्वभाव में और स्वभाव की दृष्टि में विभाव व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है... आहाहा! उसे उसने ग्रहण नहीं किया। वह आत्मा परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! और छोड़ता नहीं।

क्योंकि परनिमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिकगुण की सामर्थ्य से... अर्थात्? यहाँ तो अभी स्थूल बात करते हैं। गाथा में है, वह तो सूक्ष्म बात है। यह छठी गाथा... इसे आत्मा में धर्मदशा प्रगट हो, चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो तो भी वह धर्म पर्याय पर को ग्रहण करती और छोड़ती नहीं है। इतना नहीं परन्तु कर्म के निमित्त के संग से राग होता है, तो भी उस राग के कारण परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, ऐसा नहीं होता। आहाहा! आत्मा का शुद्धस्वभाव, (उसका) सम्यग्दर्शन में भान हुआ तो कहते हैं कि उस सम्यग्दर्शन की सामर्थ्यता स्वभाव की प्रगट हुई, वह भी परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, ऐसा

उसमें नहीं है। आहाहा! शरीर, वाणी, कर्म पर को ग्रहण करे या छोड़े, वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई तो भी नहीं और स्वभाव में नहीं, ऐसा पर्याय में कर्म के संग से स्वयं से अपने में विकार हुआ, तो भी विकार के सामर्थ्य से परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, पकड़े या छोड़े—ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान् चैतन्यस्वरूप का वीतराग ने ऐसा स्वरूप देखा है। वह जिसे अन्तर में देखने में आवे, दृष्टि द्वारा उस द्रव्य के शुद्धस्वभाव का स्वीकार हो तो वह पर्याय राग को ग्रहण नहीं करती और राग को छोड़ती नहीं। आहाहा!

सम्यग्दर्शन की पर्याय, वह त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से—स्वीकार से प्रगट होती है। आहाहा! इसके बिना का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है। आहाहा! जो स्वरूप चैतन्य ज्ञायक है, उसके सम्बन्ध में उसका जो ज्ञान होता है, जहाँ शास्त्र का भी नहीं, अर्थात् वह शास्त्र का ज्ञान परावलम्बी परसत्तावलम्बी ज्ञान है। आहाहा! वह भी बन्ध का कारण है। परन्तु जहाँ चैतन्य ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता से जो ज्ञान की दशा होती है, वह ज्ञान की दशा राग को ग्रहण नहीं करती और राग को छोड़ती नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उसका—सम्यग्दर्शन का त्रैकालिक स्वभाव है परन्तु दर्शन का ऐसा स्वभाव है।

गुण की सामर्थ्य से तथा स्वाभाविक-वैस्रसिकगुण की सामर्थ्य से आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है। यह समयसार की गाथा है। आत्मा को परद्रव्य का ग्रहण—त्याग कहना तो व्यवहारनय का कथनमात्र है। आहाहा! आत्मा राग ग्रहे या राग छोड़े, यह तो व्यवहारनय का कथन है।

**श्रोता :** परन्तु दीक्षा ले तब तो वस्त्र छोड़ने ही पड़ते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कौन छोड़े? यही कहते थे न? वे भाई कहते थे। चाँदमलजी। साधु हो तब वस्त्र छोड़ते हैं न? अरे! भगवान्! सुन, भाई! वस्त्र छोड़े क्या, वह राग को छोड़ता नहीं। आहाहा! कपड़े की वह छूटने की पर्याय का उसका उत्पाद काल वहाँ से हट जाने का है, इसलिए वह वस्त्र छूट जाता है। जैनमार्ग! आहाहा! वास्तव में तो इस वस्त्र में वह पर्याय वहाँ रही हुई है, ऐसा नहीं है, हट जाती है, उसका उत्पादकाल है। उस पर्याय का उस परमाणु में उत्पादकाल है, इसलिए वह हट जाती है। आत्मा उस वस्त्र को छोड़े, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा!

**श्रोता :** ....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कौन छोड़े? कहाँ रही? जगत के सब परपदार्थ पड़े हैं। आहाहा! यहाँ तो यह बात तो बहुत दूर रहो परन्तु पंच महाव्रत के विकल्प को आत्मा ग्रहे या राग

को छोड़े, ( यह उसके स्वरूप में नहीं है ) । भाई ! यह चैतन्यस्वरूप है, यह ज्ञानस्वरूपी प्रभु किसे ग्रहण करे और किसे छोड़े ? वह तो ग्रहण-त्याग पर में हो, उसे जाने । आहाहा ! राग होवे तो ज्ञानी तो जानता है । मुझमें हुआ नहीं । आहाहा ! और राग जाए तो मैंने उसे छोड़ा है, ऐसा नहीं । आहाहा ! गहन तत्त्व, बापू ! सूक्ष्म बहुत । जन्म-मरण के अन्त को लाने का तत्त्व सूक्ष्म है । आहाहा ! बाकी तो अनन्त बार मुनिपना पालन किया, पंच महाव्रत, दिगम्बर साधु, हों ! अनन्त बार हुआ । अनन्त बार ग्यारह अंग का ज्ञान किया । एक अंग में अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक । वह भी ज्ञान, ज्ञान नहीं है । आहाहा ! क्योंकि परलक्ष्य से जो उघाड़ हुआ, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है । वह आत्मा को लाभदायक नहीं है । गजब बातें, भाई ! आहाहा !

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है । उसके स्वभाव में से ज्ञान की पर्याय आती है कि जो कुछ संवर-निर्जरा हो, उसे ज्ञान कहते हैं । समझ में आया ? इसलिए आत्मा ज्ञानस्वभावी होने से उसका ग्रहण-त्याग नहीं है । आहाहा ! **जब जीव आत्मस्वरूप में लीन होता है...** जब यह आत्मा अपने स्वरूप में; संयोगी चीज़ से लक्ष्य छोड़कर, उस राग के और पर के जानपने के भाव का लक्ष्य छोड़कर, एक समय की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा ! जब वस्तु के स्वभाव में लीन होता है—एकाग्र होता है, **तब रागादि विकार स्वयं छूट जाते हैं...** ऐसी बात है, भाई ! अर्थात् ? चैतन्यस्वभाव की नित्यता और ध्रुवता में दृष्टि देने से, उसमें स्थिर होने से राग की उत्पत्ति नहीं होती । जितने अंश में यहाँ स्थिर हुआ, उतने अंश में राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसने राग छोड़ा—ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है । ऐसा मार्ग है । वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, उनके अतिरिक्त यह मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं है, कहीं किसी जगह ( नहीं है ) । आहाहा ! इसकी रीति और इसकी पद्धति भगवान के ज्ञान में आयी, ऐसी उन्होंने कही है । आहाहा !

कहते हैं कि राग छूटता है न, मिथ्यात्वभाव नाश पाता है न, वह आत्मा नाश करे - ऐसा कहना या नहीं ? आहाहा ! 'जिन' कहलाते हैं ( क्योंकि ) वे राग को जीतते हैं । यह भी व्यवहारनय का कथन है । आहाहा ! भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और वीतरागस्वभाव की मूर्ति है, उसमें जहाँ लीन होता है, तब मिथ्यात्व की पर्याय उत्पन्न नहीं होती और वह जितने अंश में रमणता—स्वरूपाचरण हुआ... इन शब्दकोशवालों ने स्वरूपाचरण स्वीकार किया है । चौथे गुणस्थान में । आज आया है । स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में होता है । वे इनकार करते हैं न । ... जितने अंश में अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, उतने अंश में यहाँ स्थिर हुआ, तब उसका



अभाव हुआ। आहाहा! सम्यग्दर्शन, त्रिकाली स्वरूप की प्रतीति करने पर जो ज्ञान का स्वसंवेदन होता है, उसमें जितनी स्थिरता होती है... आहाहा! वे तीनों एक साथ होते हैं। समझ में आया? तब उसे दर्शनमोह का उदय नहीं होता, जितना चारित्र होता है, उतना अनन्तानुबन्धी भी नहीं होता। आहाहा! जितना स्वसंवेदन ज्ञान में आया, उतनी ज्ञान की पर्याय को विघ्न करनेवाले कर्म भी नहीं होते। आहाहा! निमित्तरूप से। आहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु का लोगों ने दूसरे प्रकार से खतौनी कर डाला है। बापू! अनन्त काल हुआ, भाई!

चौरासी के अवतार कर-करके अनन्त अवतार किये। इसने अनन्त अवतार में दुःख भोगे हैं। भगवान का आनन्द तो इसे आया नहीं। सम्यग्दर्शन बिना आनन्द की लहजत का मजा कहीं बाहर में नहीं आता। इस सम्यग्दर्शन में आनन्द आता है, इसके बिना मिथ्यात्व में तो अकेला दुःख है। आहाहा! संयोग प्रतिकूल का दुःख, वह नहीं; परन्तु स्वरूप की शुद्धता के विरुद्ध दृष्टि, वह दुःख है। उस दुःख में पीड़ित प्राणी भले सेठाई में हो, अरबोंपति में दिखाई दे, देव में दिखाई दे, वह दुःख की घानी में पिला हुआ है। अरे! परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का सत्य तो ऐसा है, भाई! यह स्वयं सर्वज्ञदेव है। भगवान आत्मा सर्वज्ञदेव! सर्वज्ञशक्ति का भण्डार है। उसमें-सर्वज्ञशक्ति में दृष्टि के स्वीकार में जो सर्वज्ञस्वभाव आया, तब उसे सच्चा सम्यक् हुआ, तब उसे स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान हुआ, तब उसे स्वरूप में स्थिरता होने के स्वरूप का आचरण (हुआ)। जो स्वरूप शुद्ध है, उसका चारित्र अर्थात् आचरण हुआ। आहाहा! उस काल में उसे कषाय छोड़ना नहीं पड़ती, कहते हैं। कषाय का उदय आता नहीं अथवा आवे, वह खिर जाता है, उसे आत्मा ने राग का नाश किया, ऐसा कहने मात्र है। आहाहा! समझ में आया?

विकार स्वयं छूट जाते हैं; उसे छोड़ना नहीं पड़ता। और आत्मिक गुण स्वयं प्रगट होते हैं। गुण शब्द से (आशय है) पर्याय। जो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु, उसकी अन्तर में दृष्टि पड़ने पर अनन्त गुण जो शक्ति और स्वभाव तथा गुणरूप हैं, उन अनन्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया? तब उसे राग छोड़ना नहीं पड़ता। आहाहा! स्वयं प्रगट होता है, तब विकार उत्पन्न नहीं होते। ऐसा स्वरूप है। यहाँ तक तो कल आया था।

जब निर्विकल्पदशा में आत्मा अपने स्वरूप की प्राप्ति में आता है... आहाहा! शुद्ध आनन्द और शुद्ध ज्ञानघन प्रभु की श्रद्धा और ज्ञान में स्वसन्मुखता में आता है, तब उसे विकल्प अर्थात् रागरहित निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! वह तो ऐसा

(सीधा) था, इच्छामि पडिकमणं... तस्स मिच्छामि दुक्कडम्, था लो... आहाहा! यह तो सब राग की क्रियाओं की बातें हैं।

त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा जो हुए, वे कहाँ से हुए? वह सर्वज्ञदशा आयी कहाँ से? राग की क्रिया की, उसमें से आयी? बाहर से आती है? आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव, वह ज्ञ-स्वभावी मैं आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, उसे दृष्टि और वेदन में लेने से सर्वज्ञपना है, ऐसी उसे प्रतीति होती है। मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। आहाहा! और पश्चात् स्वरूप में सर्वज्ञ की शक्ति में स्थिर होते-होते सर्वज्ञपर्याय प्रगटरूप से परिणमती है, उसे केवली परमात्मा कहने में आता है। आहाहा! यह अरिहन्त भगवान! अरि में तो कर्मरूपी शत्रु और रागरूपी शत्रु को हनन किया, ऐसा कहने में आता है। वहाँ शब्द पड़ा है। यह व्यवहार के कथन ऐसे होते हैं। आहाहा! भगवान ने तो अपने स्वरूप में ज्ञानस्वभाव जो सर्वज्ञस्वभाव, उसका अनुभव करके वेदन में आने के बाद अन्दर में स्थिर हुए। पूर्ण शक्ति का अवलम्बन लेकर स्थिर हुए, तब उस शक्ति में से व्यक्तता (हुई), सर्वज्ञदशा प्रगट हुई है। आहाहा! अनन्त गुण जो अन्दर शक्ति और सत्वरूप थे। उन अनन्त गुण के अन्तर घोंटन से... आहाहा! उस ज्ञान और आनन्द की क्रिया द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ। ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। यह पर्याय जो साधन किया, इसलिए कहते हैं कि कर्म का अभाव हुआ, इसलिए केवल(ज्ञान) हुआ, यह तो बात है ही नहीं, परन्तु पूर्व की साधकदशा चार ज्ञान की थी, उसका अभाव करके केवल(ज्ञान) हुआ, इसलिए चार ज्ञान साधक थे, वह तो पूर्व दशा वह थी, उसे कहने की समझाने की बात है। बाकी केवलज्ञान जो हुआ, वह उत्पाद अन्दर सद्भाव था, वह उसके जन्मक्षण से उत्पन्न हुआ है। आहाहा!

यह तो अपने आया न सद्भाव सम्बन्ध से पर्याय। ११०-११-११२ प्रवचनसार। अन्दर सद्भाव पर्याय केवलज्ञान की पर्याय है, वह पर्याय है, वह कहीं गुण नहीं है। अन्दर सद्भाव गुण का है। वह है, वह हुआ है। पूर्व पर्याय नहीं थी और हुई, यह तो पर्यायदृष्टि की बात है। आहाहा! यह भी पूर्व में नहीं थी और हुई, यह भी पर्याय और गुण के समीप का सम्बन्ध है। उसे पूर्व की पर्याय के नाश के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, कान्तिभाई! सूक्ष्म है। यह कहीं... ऊपर-ऊपर से पकड़े (तो हाथ नहीं आता)।

यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थकरदेव... आहाहा! जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात नहीं, परन्तु उसकी पर्याय को जानने पर वह पर्याय ज्ञात हो गयी। आहाहा! निश्चय से तो ऐसा कहा है, केवलज्ञान ... था न? .... कहा था यह

.... चिद्विलास गुजराती । मेरे इसमें ८९ पृष्ठ है । चिद्विलास । निकला गुजराती में ९५ । पर्याय का कारण पर्याय आता है न, भाई ! आहाहा ! वह केवलज्ञान की पर्याय का स्वकाल था, वह ज्ञान की पर्याय पर्याय से हुई है, गुण से नहीं, निमित्त से नहीं, पूर्व के मोक्ष के मार्ग की पर्याय से नहीं । आहाहा ! धीरुभाई ! ऐसा मार्ग, प्रभु ! आहाहा ! अरे ! सुनकर अन्दर में लक्ष्य तो करे । आहाहा ! अरे ! ऐसे काल में न समझे तो बापू ! कब समझेगा ?

कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई, आहाहा ! उसने मिथ्यात्व का नाश किया, वह तो नहीं परन्तु पूर्व की पर्याय गयी, इसलिए हुई-ऐसा भी नहीं है, तथा सम्यक्त्व की पर्याय द्रव्य-गुण थे, इसलिए आयी - ऐसा भी नहीं है । आहाहा ! उस पर्याय का कारण पर्याय, पर्याय का वीर्य पर्याय, पर्याय के प्रदेश का अंश वह पर्याय ! आहाहा ! ऐसी बात सर्वज्ञ के सिवाय ऐसी स्वतन्त्रता की बात कहीं नहीं हो सकती । जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है । जैनधर्म वह वस्तु का स्वभाव है । आहाहा ! समझ में आया ? जैनधर्म, वह सम्प्रदाय और वाडा नहीं कि तुम जैन ऐसा कहते हो और हम ऐसा कहते हैं, ऐसा नहीं है । आहाहा ! 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म ।' आहाहा ! अरे ! ऐसी वाणी कहाँ है ! आहाहा ! सर्वज्ञ के....

निर्विकल्पदशा हो । राग को ग्रहे और छोड़े नहीं, ऐसा चैतन्य का स्वभाव है, ऐसी जहाँ अन्तर की दृष्टि हुई, तब उस दृष्टि का आश्रय द्रव्य था, ऐसा कहा और वह है, वह ऐसा - ऐसा भी कहा और उसका जन्मक्षण—उस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का जन्म अर्थात् उत्पत्ति का वह काल था, ऐसा कहा । आहाहा ! उस पर्याय के कारण से पर्याय हुई है । पर्याय के वीर्य से पर्याय हुई है, द्रव्य-गुण से नहीं । आहाहा ! ऐसी स्वतन्त्रता सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव के अतिरिक्त ऐसी स्वतन्त्रता कहीं नहीं होती, बापू ! उनके वाडा में जन्मा, इसे सुनने को मिला... कहते हैं कि यह ऐसी चीज़ इसे सुनने को मिली नहीं । आहाहा ! 'श्रुत परिचित अनुभूता' भगवान ! दूसरी बातें तो बहुत सुनी । यह चीज़ ऐसी है, इसका सत्त्व ऐसा है, आहाहा ! ऐसा तूने सुना नहीं । सुना होवे तो तुझे रुचि हुई हो, ऐसा कहते हैं । आहाहा !

कहते हैं, यह पर्याय हुई, निर्विकल्प अनुभव के काल में जीव को परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं होता । आहाहा ! सम्यग्दर्शन के पाने के काल में... समझ में आया ? आत्मा के शुद्ध चैतन्यघन के अनुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त काल में... आहाहा ! वह अनुभवकाल । अनुभव अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है, उसे अनुसरकर जो दशा हुई; राग को अनुसरकर नहीं, पूर्व को अनुसरकर नहीं । आहाहा ! उस पर्याय के अनुभव काल में जीव को

परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का राग ही नहीं होता कि मैं इसे ग्रहण करूँ और इसे छोड़ूँ, ऐसा विकल्प है नहीं। लोगों को भारी कठिन बात लगती है। सम्प्रदाय में तो यह बात है नहीं, इसलिए लगता है कि यह कहाँ की बात होगी ? जैन परमेश्वर की होगी ? ऐसा लगता है। उस वेदान्त जैसी होगी ? भगवान ! यह तो परमेश्वर की यही बात है। वेदान्त में कहाँ यह बात है ! वह तो सर्व व्यापक एक आत्मा मानता है। यहाँ तो अनन्त आत्माएँ, एक आत्मा में अनन्त गुण, अनन्त गुण की एक समय की अनन्त पर्यायें, यह बात कहाँ है ? समझ में आया ?

कहते हैं, धर्मकाल। है ? टीका में नहीं। धर्मकाललब्धि आता है, टीका में आता है। भगवान आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त करने का काल है, तब वह प्राप्त करता है, परन्तु प्राप्ति के काल में मैं इसे ग्रहूँ, आत्मा को अनुभव करूँ और राग को छोड़ूँ, ऐसा कुछ नहीं होता। आहाहा ! सेठ ! ऐसी सूक्ष्म बात है। लोगों को पण्डितों ने... वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसमें फेरफार करके मनवाया। खबर नहीं। खबर बिना की बातें करना चाहे...

कहते हैं, भाई ! यह जन्म-मरण के टालने का अवसर—काल है, नाथ ! आहाहा ! ऐसा मनुष्यभव और उसमें यह भगवान की वाणी परम सत्य का सुनना और इतने योग से... आहाहा ! कहते हैं कि अन्दर में जा, भगवान ! आहाहा ! हमारी वाणी से भी तू अनुभव में नहीं आ सके, ऐसी चीज़ है। आहाहा ! आहाहा ! और उस अनुभव काल में ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं। वह तो उस दशा में ग्रहण करनेयोग्य का ग्रहण हो गया। आहाहा ! स्वरूप में एकाग्र हो गया, यह ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य का त्याग स्वयं हो गया। राग उत्पन्न ही नहीं हुआ। उसका सहज त्याग हो गया। आहाहा ! इसलिए ग्रहण और त्याग का प्रश्न ही नहीं रहता।

जब आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है,... नहीं तो यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी सबको जाने-देखे, ऐसा ही उसका स्वभाव प्रगट होता है। मति-श्रुतज्ञान में भी ऐसा है, भाई ! आहाहा ! सम्यक् मति और श्रुतज्ञान चैतन्य के अवलम्बन से जो हुआ, वह ज्ञान भी सम्पूर्ण तीन काल-तीन लोक के द्रव्य, गुण, पर्याय को परोक्ष रीति से जाने, परन्तु वह भी जानने का ही काम करता है। आहाहा ! समझ में आया ? यहाँ केवलज्ञान की बात ली है। आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है, भगवान आत्मा सर्वज्ञशक्ति का सत्त्ववाला तत्त्व, सर्वज्ञ के सत्त्वसहित ऐसा जो तत्त्व, जब अन्तर में अवलम्बन से सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो, जैसी उसकी शक्ति का स्वभाव था, वैसा पर्याय में प्रगट हो, तब सम्पूर्ण केवलज्ञान कहलाता है। आहाहा !

तब आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय भी केवलज्ञानरूप से प्रगट होती है। इस

केवलज्ञान की ऐसी अनन्त महिमा है कि वह अनन्त द्रव्यों के... अनन्त द्रव्य हैं—निगोद, सिद्ध, रजकण, अनन्त पदार्थ और अनन्त गुणों को। एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण हैं, उन्हें और उनकी त्रिकालवर्ती विकारी-अविकारी अनन्त पर्यायों को सम्पूर्णरूप से एक ही समय में सर्वथा (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष जानता है। श्रुतज्ञान में सर्वथा पूर्ण सत् को जानते हैं। आहाहा! परोक्ष रीति से। समझ में आया? सम्यग्ज्ञान होने पर सहज स्वरूप भगवान् पूर्णानन्द का आश्रय सन्मुख होकर जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान तो सर्व को जानने के स्वभाववाला है। किसी को करे और किसी को छोड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। न करे और न छोड़े, ऐसा स्वभाव है। तब है क्या? ऐसा कहना है। समझ में आया? यह तो जानने का स्वभाव है। ज्ञानी राग आवे तो भी जाने, राग छूटे तो जाने, बन्ध पड़े तो जाने, बन्ध का अभाव होवे तो जाने। आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप है।

कहते हैं, तीन काल के द्रव्य, गुण और पर्याय को, विकारी-अविकारी अनन्त पर्याय को सम्पूर्णरूप से केवलज्ञान एक समय में सर्वथा प्रत्यक्ष जानता है। प्रवचनसार में ३८ गाथा। ३७, ३८, ३९, ४१, ४७, ४८, ४९, ५१। ये सब केवलज्ञान की गाथाएँ हैं। प्रवचनसार सवेरे पढ़ा जाता है। अहो!

ज्ञान, परपदार्थों को जानता है—ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। क्यों? कि ज्ञान पर को जानने पर, पर में एकत्व नहीं होता, तन्मय नहीं होता, वह तो भिन्न रहकर जानता है। आहाहा! लोकालोक, तीन काल जाने परन्तु उस वस्तु से भिन्न रहकर ज्ञान जानता है; इसलिए वास्तव में तो ज्ञान, ज्ञान को जानता है। ज्ञान पर को जानता है—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग कठिन लगे, परन्तु भाई! इसको मान तो सही! परन्तु उसका ज्ञान तो कर कि मार्ग तो यह है। आहाहा! जिसका इस प्रकार का व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी जिसे नहीं, उसे परमार्थ से निश्चयज्ञान प्रगट नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? तथापि व्यवहार ऊपर सम्यग्ज्ञान हो, वह कहीं निश्चय सम्यग्ज्ञान प्राप्ति का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं... पानी की स्वच्छता में रात्रि में चन्द्र और नक्षत्र उसमें दिखते हैं, वह पानी का स्वरूप है; वह चन्द्र, नक्षत्र का नहीं। आहाहा! क्या कहा? पानी रात्रि में ऐसे जो स्वच्छ प्रवाहित होता जाता है, उसमें ऊपर के चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि ज्ञात होते हैं, यह वे नहीं हैं। स्वच्छता पानी का स्वरूप है, उसे यह जानता है। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञान की समय की पर्याय की निर्मलता में लोकालोक का ज्ञान जो यहाँ परिणामा है, वह लोकालोक का नहीं, वह अपनी पर्याय उस प्रकार से परिणामी है। आहाहा! समझ में आया? रात्रि में पानी स्वच्छ बहता जाता हो। चन्द्रमा सोलह कला से खिला हो, नक्षत्र, तारे चमकते हों, वे पानी में ज्ञात होते हैं। उस पानी में ज्ञात हों, वे नक्षत्र, तारे हैं? वह तो पानी की पर्याय है। आहाहा! इसी प्रकार केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानती है, तो वह लोकालोक की पर्याय है? वह तो अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है, उसमें वह लोकालोक ज्ञात हो जाता है, ऐसा व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! निश्चय से ज्ञात होता है, हों! ज्ञान की पर्याय में इतना सामर्थ्य है, उसे जानने से निश्चय से ज्ञात हो जाता है। उसे (लोकालोक को) जानना—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा धर्म और ऐसा मोक्ष का मार्ग है। कितने ही कहते हैं कि यह नया निकाला है। सोनगढ़वालों ने नया निकाला है। अरे! भगवान! यह तो अनादि का वीतराग का (मार्ग है)। नया कौन निकाले? बापू! परमात्मा केवलज्ञानी विराजते हैं। महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। सीमन्धर भगवान, ऐसे बीस तीर्थकर विराजते हैं। लाखों केवली विराजते हैं। महाविदेह में है न? एक-एक विदेह में... बीस है न? बत्तीस हैं। आठ-आठ हैं न ऐसे? आठ ऐसे, आठ ऐसे। सोलह ऐसे। बत्तीस पंचा ऐसा है न? विदेह पाँच परन्तु उसके भाग १६०। भरत से भी बड़ा भाग। उसमें एक-एक में अभी तो बीस तीर्थकर विराजते हैं। किसी समय—अजितनाथ भगवान के समय में १६० तीर्थकर थे। साक्षात् अरिहन्त परमात्मा। यह ठामणा में आता है। उत्कृष्ट होवे तो १७०। १६० वे और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत (के, इस प्रकार) १७० तीर्थकर होते हैं उत्कृष्ट। अजितनाथ भगवान के समय में १७० थे। आहाहा! स्थानकवासी में ठामणा में आता है। जघन्य २०, उत्कृष्ट १७०। आहाहा! उन भगवान के पास ये कुन्दकुन्दाचार्य आठ दिन गये थे। सुनने का निमित्त और ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होने का स्वकाल। आहाहा! वह ज्ञान होकर यहाँ आये और ये शास्त्र बनाये। आहाहा! साक्षात् भगवान त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान की यह वाणी है। सन्त तो उसका अनुवाद करते हैं। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बात कान में न पड़े, उसे समझ में कब ले और कब अन्तर में उतरे?

कहते हैं, यह केवलज्ञान सर्वथा... ज्ञान, परपदार्थों को जानता है—ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं... आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति आता है न! ४७ शक्ति में। सर्वज्ञ शक्ति अर्थात् सर्व को जाने, ऐसा नहीं। यह सर्वज्ञपना, वह आत्मज्ञानमयपना है। आहाहा! समझ में आया? बात-बात में बहुत अन्तर। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं, वे सर्व को

जानते हैं, इसलिए सर्वज्ञ - ऐसा नहीं। वह सर्वज्ञशक्ति पर्याय में सर्व को जाननेरूप अपने सामर्थ्य से अपने में सब ज्ञात हो गया है। आहाहा! वह आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति, ऐसा कहा है। आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शीशक्ति। आहाहा! अहो! वीतरागी सन्तों ने जगत को करुणा करके ऐसी बात की है। इसे करनेयोग्य क्या, यह उन्होंने कहा। भाई! तेरे... जहाँ वे शक्तियाँ पड़ी हैं, वहाँ तुझे स्थिर होना-जाना है। आहाहा! कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अनन्त शक्तिवाला तत्त्व है। एक-एक शक्ति का अनन्त सामर्थ्य है, ऐसी अनन्त शक्तियाँ एक आत्मा में है। आहाहा! वहाँ तुझे जाना है। भगवान! वहाँ तुझे नजर करनी है। आहाहा! निधान पड़ा है, वहाँ नजर करनी है और नजर करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। उस स्वतन्त्र पर्याय का सामर्थ्य इतना है, इसलिए प्रगट होता है। आहाहा! लोकालोक को जाने, इसलिए यहाँ सर्वज्ञपना है—ऐसा नहीं। यह सर्वज्ञशक्ति की पर्याय आत्मज्ञानमय पूर्ण हुई है। आहाहा! समझ में आया ? व्यवहार के आग्रहियों को, निमित्त के आग्रहियों को तो यह सब ऐसा लगता है कि पागलपन है, पागल है। और एक ऐसा भी कहता था कि सोनगढ़िया को अस्पताल में रखो। पागल का अस्पताल। अरे! प्रभु! सुन, बापू! भाई! तूने सत्य की स्वतन्त्रता की बात सुनी नहीं, इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि निमित्त आवे तो हो, व्यवहार होवे तो निश्चय हो। भगवान! ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। समझ में आया ? है ? ऐसी ज्ञान की निर्मलता-स्वच्छता है।

तथा वह आत्मस्वरूप स्वसंवेद्य है... मूल गाथा का चौथा पद है। भगवान आत्मा स्व अर्थात् अपने से सं अर्थात् प्रत्यक्ष वेदन में आवे, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! प्रभु को पामर रूप से इसने पहिचाना। प्रभुता की शक्ति का भण्डार। एक-एक शक्ति प्रभुता से भरपूर ऐसी अनन्त शक्ति। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शी, स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, (इत्यादि) ऐसी ४७ शक्तियों का वर्णन तो समयसार में आ गया। एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्य से भरपूर है। ऐसे सामर्थ्य को स्वसंवेद्य से ज्ञात हो, ऐसा है, कहते हैं। समझ में आया ?

अपने आत्मा के ही अनुभव में आवे, वैसा है। गुरु, उनकी वाणी तथा तीर्थकर भगवान की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव करा सके, वैसा नहीं है;... आहाहा! भगवान या भगवान की वाणी अथवा गुरु और गुरु की वाणी, वह तो परवस्तु है। परवस्तु पर जब तक लक्ष्य करे तो अनुभव नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ? लो, भगवान की वाणी से लाभ नहीं होता ? अरे! सुन न, भगवान! समवसरण में अनन्त बार गया, प्रभु! 'अनन्त काल

से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहाहा! समझ में आया? सेवन का अर्थ—वे कहते हैं, वैसा माना और जाना नहीं। पैर दबाना नहीं वहाँ। समझ में आया? यह समयसार की चौथी गाथा में आता है। स्वयं तो जाना नहीं परन्तु जाननेवाले की सेवा नहीं की, ऐसा आता है—इसका अर्थ भगवान, सन्त कहते हैं, उस बात को तूने अन्तर में लक्ष्य में नहीं लिया, इसलिए सेवा नहीं की, ऐसा। यह बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, ऐसा करके निकाल दिया। बापू! तू बड़ा है, प्रभु! तेरी महत्ता की क्या बात करना! अनन्त सिद्ध की पर्याय के अनन्त पद तेरे स्वभाव में स्थित हैं, अनन्त! एक सिद्ध हो, ऐसी अनन्त पर्यायें! आहाहा! तेरी शक्ति में सिद्ध की पर्याय अनन्त पड़ी है। क्योंकि गुण है। आहाहा! उसकी महत्ता की क्या बातें! इसकी महन्तता का क्या कहें! यह भगवान के सन्देश आये हैं। अच्छे घर की कन्या आती हो और दो-पाँच (लाख) लेकर आती हो तो वाने शिथिल हो तो भी स्वीकार लेता है। पचास नारियल आये हों, परन्तु यह दस लाख लेकर आती है और करोड़पति व्यक्ति है तथा वापस लड़का नहीं है। मर जाएगा तो (सम्पत्ति) आनेवाले हैं। आहाहा! उसका सम्बन्ध स्वीकारता है। यहाँ तीन लोक के नाथ का सन्देश आया है। अरे! नाथ! तुझमें प्रभुता पड़ी है, वहाँ जा, उसके साथ विवाह कर। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, भगवान!

'जगतडा कहे छे रे... भगतडा काला छे।' ऐसी बातें क्या करता है? 'काला न जाणशो रे, प्रभु ने... व्हाला छे।' समझ में आया? पागल है, ऐसा कहे। हमारे पालेज में दुकान थी न, नौ वर्ष वहाँ रहे। (संवत्) १९५८ से १९६८। सगे-सम्बन्धी वैष्णव थे। एक व्यक्ति भजन करे। वहाँ जाना पड़े। छोटी उम्र जाएँ, सुनें। वे ऐसा गाता थे, 'जगतडा कहे छे रे, भगतडा घेला छे, पण घेला न जाणशो रे, प्रभु ने त्यां पहेलां छे।' ऐसा गाते थे। उसका अर्थ यह, हों! वह तो पर के लिये (कहते थे)। आहाहा! अपना भगवान पूर्णानन्द का नाथ, जिसे अन्दर में रुचा, उसकी प्रियता की क्या बात करना? कहते हैं। जिसे परमात्मा का स्वभाव अपना, उसके साथ प्रियता हुई, वह भगतडा भले पागल (हो) तो भी वह प्रिय है। वह अल्प काल में केवलज्ञान लेनेवाला है। समझ में आया? दुनिया को न बैठे, कठिन बात लगे। क्या हो? भाई! वस्तु तो जो है, वैसी रहेगी। आहाहा!

धर्मी की दृष्टि में इन्द्रासन के इन्द्र के सुख भी जहर जैसे लगते हैं। आहाहा! जिसके आत्मा के अन्तर स्वरूप में आनन्द है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, उसे इन्द्र के इन्द्रासन, जिसे अनाज का ढोकला नहीं खाना है। ऐसे जिनके वैक्रियकशरीर, उनको हजारों इन्द्राणियों का भोग, जहर... जहर... जहर है। क्योंकि वह राग का सुख है। राग तो जहर है। भगवान आत्मा का आनन्द तो अमृत है। आहाहा!



कहते हैं, इस भगवान का वेदन... इसमें कहना है न! अपना स्वसंवेदन। भगवान की दिव्यध्वनि से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। गुरु या उनकी वाणी या तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव कराने में समर्थ नहीं है। जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है। आहाहा! अनुभव करे तो निमित्त कहलाये। उनसे हुआ नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! ऐसा कहे, दया पालना, पश्चात् ऐसा करना, ऐसा करना... मारवाड़ी में तो देखो न कितने ही.. दया करने का कहे। घर में न खाये और किसी का माँगकर खाये, यह दया पालन की कहलाये। अरे! भगवान! तुझे दया की खबर नहीं, बापू!

दया तो आत्मा आनन्द का नाथ वीतरागस्वरूपी है, ऐसा उसका जीवन है, उसे स्वीकार करना, उसको दया पालन की कहा जाता है। जैसा उसका स्वभाव जीवता-जागता है, उसे उस प्रकार माने, स्वीकार करे, उसने जीव की दया पालन की और उसे उतना न मानकर राग और अल्पज्ञवाला मानना, वह जीव की पूर्ण अस्ति का निषेध करनेवाला हिंसा करता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त के पन्थ में यह बात है। आहाहा! जिनेश्वरदेव के मुख से दिव्यध्वनि आयी, उसमें यह आया है, यह उनका सन्देश है। समझ में आया? कहते हैं कि हमारी वाणी से भी तू ज्ञात न हो, ऐसा तुझे कहते हैं। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं। समझ में आया? पोपटभाई! आहाहा! अलौकिक बातें हैं! 'सहजे समुद्र उल्लस्यो, जेमा रतन तणाणां जाय, भाग्यवान कर वावरे अेनी मोतिये मूठ्युं भराय।' अभाग्यवान जो होता है, वह भरे वहाँ शंख भरते हैं, हाथ में आते हैं। ऐसा मार्ग वीतराग का। समझ में आया?

जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है। वह (आत्मस्वरूप) स्वानुभवगोचर है। आहाहा! आत्मा तो अपने स्वभाव से ज्ञात और अनुभव हो, ऐसा है। यह विभाव और निमित्त और संयोग से ज्ञात हो, ऐसी चीज नहीं—ऐसी चीज नहीं। आहाहा! ऐसी वह वस्तु नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह तो स्वानुभवगम्य है। आत्मा स्वयं ही उसे पहिचानकर, अनुभव कर सकता है।

इस प्रकार वास्तव में आत्मा के परद्रव्य का तथा रागादि का ग्रहण-त्याग नहीं है, वह सर्वज्ञ है... इसलिए स्वानुभवगम्य है। ज्ञ-सर्वज्ञ-ज्ञ है, इसलिए ज्ञानमय है। वह ज्ञानस्वभावी है, इसलिए ज्ञानगम्य है, राग और परगम्य है नहीं। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१३

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा-५१, प्रवचन - १३२

दिनांक - १३-११-१९७६

परमात्मप्रकाश ५१ गाथा । यहाँ समभाव की व्याख्या साधुरूप की गिनने में आयी है । समभाव की शुरुआत तो सम्यग्दर्शन में से होती है, परन्तु साधु को समभाव बहुत ही उत्कृष्ट होता है और इसीलिए वह समभाव मोक्ष का कारण है, ऐसा वर्णन करके उस समता का स्वरूप वर्णन किया है । समभाव अर्थात् वीतरागता । चौथे गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शन की पर्याय, वह वीतरागी पर्याय है । पाँचवें गुणस्थान में भी जितनी दो कषाय जाकर, मिथ्यात्व टलकर जितनी शान्ति हुई है, वह वीतरागी है । मुनि को विशेष है, इसलिए उसमें भी यहाँ निर्विकल्प समाधि के बल से मुक्ति होती है, यह वर्णन चलता है । इसका अर्थ कि निचलीदशा में जो कुछ शुभ-अशुभ विकल्प है, वह बन्ध का कारण है । चाहे तो मुनि को पंच महाव्रत का विकल्प हो, वह बन्ध का कारण है; वह समभाव नहीं है - ऐसा कहना है । आहाहा ! इतना भी अभी विषमभाव है । आहाहा ! भगवान आत्मा अत्यन्त वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है । उसकी दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता, वह वीतरागता हो । समझ में आया ?

यह लोग कहते हैं न कि चार अनुयोगों को नहीं मानते । उसे ऐसा कहना चाहेंगे, निश्चित करेंगे कि देव को मानते नहीं, गुरु को मानते नहीं, शास्त्र को मानते नहीं—तीनों को नहीं मानते, ऐसा कहेंगे—ऐसा निर्णय करेंगे । देव को क्यों नहीं मानते ? कि प्रतिमा आदि को भी... कैसी कहलाती है देवी ? पद्मावती । उसे पानी में डालते हैं । इतना... कुछ करते होंगे, अपने को कुछ खबर नहीं, परन्तु वह तो यहाँ के सिर पर डालते हैं न ? गुरु को मानते नहीं । जो यह वर्तमान मुनि हैं, वे गुरु हों तो गुरु को मानते नहीं । चार अनुयोग को मानते नहीं । शास्त्र को मानते नहीं । ऐसा कहेंगे, ऐसा निश्चित करेंगे । फलटन में ।

**श्रोता :** उत्सर्ग और अपवाद ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अपवादमार्ग है, वह अपवाद है । अपवादमार्ग है, वह अपवाद है, निन्दा करनेयोग्य है । कहो, देवानुप्रिया ! यह प्रश्न नारद है । आहाहा ! उत्सर्गमार्ग एक ही

वीतरागता, वही मोक्ष का कारण है। बीच में अपवादमार्ग पंच महाव्रत, श्रावक को बारह व्रत आदि आगे कहेंगे। अभी कहेंगे कि पंच महाव्रत के परिणाम, वह भी एक प्रवृत्ति है। अशुभ से निवृत्ति है परन्तु शुभ से प्रवृत्ति है। इसलिए व्रत और अव्रत दोनों विकल्प से रहित दशा, अन्दर में स्थिरता, उसे निश्चयव्रत कहते हैं, ऐसा कहेंगे, बाद में कहेंगे। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि साधु देह के ऊपर भी राग-द्वेष नहीं करता। आहाहा ! शरीर के ऊपर भी जिन्हें अब अस्थिरता का राग, श्रावक को, समकिति को होता है, वह इन्हें नहीं होता - ऐसा सिद्ध करना है। अस्थिरता का भाव बन्ध का कारण है और यह स्थिरता—वीतरागभाव वह मोक्ष का कारण है और चार अनुयोग को मानने का अर्थ चारों अनुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है। वे लोग ऐसा कहना चाहते हैं कि यह चरणानुयोग का जो व्यवहार वर्तन है, वह साधक है। इसलिए उसे व्यवहार साधता है अभी उसे तुम नहीं मानते। ऐसा कहते हैं। भगवान ! क्या करे ? बापू ! भाई ! चरणानुयोग में व्यवहार का साधन कहा है, वह जाननेयोग्यरूप से वर्णन किया है। उसका भी तात्पर्य—चरणानुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है। आहाहा ! शास्त्र का तात्पर्य ही वीतरागता है। अतः शास्त्र एक ही द्रव्यानुयोग है ? चारों प्रकार के शास्त्रों का तात्पर्य—प्रयोजन स्वद्रव्य का आश्रय लेकर वीतरागता उत्पन्न करना, वह इसका तात्पर्य है। ऐसी बात है। देव, गुरु, धर्म को मानना, ऐसा विकल्प होता है परन्तु वह राग है। उसे छोड़कर स्वदेव को मानना। आहाहा ! स्वयं भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु है, उस देव को मानना और स्वयं वस्तु है, वह गुरु है। आहाहा ! और उस वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है। समझ में आया ?

यहाँ साधुपने की व्याख्या में (कहते हैं), देह से भी जिनकी ममता छूट गयी है, ऐसा कहते हैं। देह की अस्ति होने पर भी देह के प्रति राग मुनि को छूट गया है। ऐसा कहना है।

**श्रोता :** आहार लेने क्यों जाते हैं ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो अभी विकल्प है। वहाँ तक की बात नहीं है। यह तो बाद की बात है। वहाँ इतना राग है, उसे भी छोड़कर जब समभाव में जब निर्विकल्प में होते हैं, उसकी यहाँ बात है। क्योंकि आहार लेने का विकल्प है, वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा ! संयम के हेतु से भी आहार (लेने की) वृत्ति (होवे), वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा !

**श्रोता :** ...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** तन पोषण के लिये नहीं, तथापि वह विकल्प है, राग है। चरणानुयोग के वचन में ऐसा आवे, प्रवचनसार में ऐसा आता है कि आहार लेने पर भी अनाहारी के ऊपर दृष्टि है और निर्दोष लेते हैं, इसलिए उन्हें अनाहारी कहा गया है। प्रवचनसार चरणानुयोग (चूलिका)। आहार लेने पर भी। आहाहा! शब्द-शब्द में उनके विचार समझना कठिन। अनाहारी भगवान आत्मा, उसका जिसे आश्रय होता है, इसलिए वह अनाहारी है और विकल्प से आहार लेते हैं तो इस अपेक्षा से भी व्यवहार से निर्दोष लेते हैं; इसलिए व्यवहार से उन्हें अनाहारी कहा गया है, यह चरणानुयोग की अपेक्षा से। निश्चय तो वह आहार लेने का विकल्प है, आहाहा! वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह समभाव नहीं है। उतना विषमभाव है। यहाँ तो समभाव अर्थात् वीतरागता, वह मोक्ष का कारण है—ऐसा बताना है न! आहाहा! ५१।

देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।

देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ।।५१।।

**अन्वयार्थ - 'परममुनि:'** महामुनि मनुष्यादि शरीर के ऊपर भी राग और द्वेष को नहीं करता अर्थात् शुभ शरीर से राग नहीं करता, ... आहाहा! शरीर सुन्दर हो, रूपवान हो, दृढ़ हो, मजबूत हो, निरोग हो तो उसके प्रति भी राग नहीं, वह तो जड़ है। आहाहा! पुद्गल की दशा जड़ है। अजीव की अवस्था, वह देह है। ऐसे शुभ देह के ऊपर भी राग (नहीं करते)। यहाँ तो वीतरागता वर्णन करनी है न, प्रभु! परवस्तु क्या? वह तो जड़ है, मिट्टी है। आत्मा को उसे कहीं (सम्बन्ध नहीं है)। आत्मा में तो उसका अभाव है। शरीर के रजकणों की अवस्था का या उनके द्रव्य-गुण का भगवान आत्मा में तो अभाव है, उसे भाववाला मेरा मानना, वह तो मिथ्याभ्रान्ति है और उसमें भी अस्थिरता पोषण आदि करना, वह भी राग है और विषमता है। आहाहा!

**राग और द्वेष को नहीं करता अर्थात् शुभ शरीर से राग नहीं करता, ... शुभ शरीर अर्थात् सुन्दर शरीर अनुकूल हो, वज्रनाराचसंहनन हो, समचतुरस्र संस्थान हो, शरीर, परन्तु वह तो जड़ है, भगवान! आहाहा! तू कहाँ चेतन और वह कहाँ जड़! परस्पर दोनों विरोधी चीज़ है। आहाहा! दृष्टि में तो प्रथम से ही शरीर मेरा नहीं, मैं आत्मा परिपूर्ण हूँ, ऐसी प्रतीति हुई होती है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो बाद की जो शरीर के प्रति जरा अस्थिरता है, उसे भी मुनि छोड़ देते हैं। आहाहा!**

**अशुभ शरीर से द्वेष नहीं करता...** शरीर रोगवाला हो, क्षय हुआ हो, जीर्णता हो,

हड्डियाँ अकेली चमड़ी दिखती हो, रक्त, माँस की अन्दर में कमी हो गयी हो। आहाहा! परन्तु वह तो जड़ में कमी हुई, जड़ है। आहाहा! उसके प्रति द्वेष नहीं करता। अणगमो अर्थात् द्वेष। सुन्दर शरीर के प्रति राग अर्थात् गमो। रुच गया उसे, रुचा। आहाहा! भगवान! तू कहाँ... ?

**श्रोता :** महामुनि की व्याख्या है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मुनि की व्याख्या है। महामुनि अर्थात् निर्विकल्प रहनेवाले की। निर्विकल्प की यहाँ बात चलती है न। विकल्पवाले की बात नहीं है। नहीं, क्योंकि विकल्प है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा बताने को।

**श्रोता :** सप्तम गुणस्थान की बात है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, यह सप्तम गुणस्थान की बात है। छठवें गुणस्थान में भी महाव्रतादि के जितन विकल्प उठें—भक्ति, पूजा, विनय आदि सब बन्ध का कारण है। विषमभाव है, ऐसा बताने को यह समभाव बताते हैं। आहाहा! समभाव में तो उस जाति का विकल्प भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसे समता, वीतरागता कही जाती है कि जिसमें... यह अर्थ आ गया है। अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द गर्भित वीतरागता होती है, उसे समभाव कहा जाता है और उस समभाव की सब बारह अंग टीका है। बारह अंग में सब कथन इस समभाव के लिये है। आहाहा! यह पहले आ गया है। उसका अर्थ यह हुआ कि चारों अनुयोग का कथन, शास्त्र तात्पर्य वीतरागता कहो या वीतरागता का यह कथन चारों अनुयोग में है, ऐसा कहो। आहाहा! चरणानुयोग में व्रत और तप की व्याख्या आवे, परन्तु वह तो जानने के लिये आती है—वहाँ होता है, ऐसा जानने के लिये।

**श्रोता :** चरणानुयोग...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह आवे न, चरणानुयोग में जानने के लिये, वह आदर के लिये वीतरागभाव नहीं है। चरणानुयोग में भी शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है और इस समभाव में भी वीतरागता है। आहाहा! जिसे समभाव—वीतरागता कहते हैं, वह तो अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द के स्वाद के साथ वीतरागता (होती है), उसे समभाव कहा जाता है। ऐसी बात है, बापू! समझ में आया ? इसके अतिरिक्त के चौथे, पाँचवें, छठवें में देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति के, महाव्रत के, विनय के विकल्प उठें, वह सब विषमभाव है, ऐसा सिद्ध करने के लिये यह समभाव का वर्णन है। आहाहा! प्रभु का मार्ग है शूरो का, वहाँ कायर का काम नहीं। आहाहा!

ऐसा जो भगवान, समरस से भरपूर प्रभु अकेला वीतरागस्वभाव से भरपूर भगवान है

अर्थात् कि अकषायस्वरूप है अर्थात् कि चारित्रस्वरूप—वीतरागभावस्वरूप ही आत्मा है। आहाहा! उसका आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हो, वह भी वीतरागता है, वह समभाव है। आहाहा! उसमें निचली भूमिका में जितना विकल्प उठता है, वह सब विषमभाव है, ऐसा बतलाने को, इन्हें समभाव है, वीतरागभाव है—ऐसा कहा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है, बापू!

चारों अनुयोग का सार तो वीतरागता है। चरणानुयोग में कथन भले व्यवहार का हो, वह जानने के लिये है, परन्तु उसका तात्पर्य तो वीतरागता प्रगटी है, वह उसका सार है। बाकी राग रहा, वह कहीं उसका सार नहीं है। आहाहा! व्यवहार का अकेला आचरण, वह तो व्यवहार भी नहीं। निश्चय के वीतरागी स्वभाव के आचरण में कमी होने के कारण व्यवहारचारित्र का आचरण आवे, उस राग को वीतरागभाव से ज्ञाताभाव से जाननेयोग्य है, आदरणीय वह है नहीं। व्यवहारनय से आदरनेयोग्य कहा हो तो उसका वह निमित्त आदि का ज्ञान कराने के लिये बात की होती है। आहाहा! व्यवहार साधन कहा है, वह निमित्त का ज्ञान कराया है। बात ऐसी है, बापू! क्या हो? लोगों को खटकता है।

कल का पढ़कर (ऐसा लगा) क्या करना चाहते हैं यह? यह योगफल यहाँ निकालेंगे। फलटन में। देव को मानते नहीं, क्योंकि पानी में डालते हैं। भले कोई डालता होगा, अपने को तो कुछ खबर नहीं। गुरु को मानते नहीं। क्योंकि वर्तमान साधु दिगम्बर गुरु हैं, उन्हें तो गुरु मानते नहीं, चार अनुयोग को मानते नहीं, शास्त्र मानते नहीं। देव-गुरु-शास्त्र तीनों मानते नहीं, फिर भले यह आत्मा की बातें करे। भगवान स्वतन्त्र है न आत्मा। ऐसा करके अपनी बात को दृढ़ करने को अनुकूलता करे न! आहाहा! भगवान की तेरी बलिहारी है, भाई! अशुद्धता के पोषण में भी उसका जोर है। आहाहा!

**श्रोता :** यह भगवान...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह नहीं। तो फिर यह किया तो वह डाले किसलिए? वह तो यह कहा है दिगम्बरों को जलाने के लिये, ऐसा कहते हैं। यह मन्दिर सर्वत्र बनाते हैं... स्वतन्त्र... स्वतन्त्र लोगों को विचार (आते हैं)। मन्दिर बनाये हैं। कोई ऐसा कहता है कि मानस्तम्भ किया है, वह कहाँ श्वेताम्बर में है? परन्तु यह सब जलाने, दिगम्बरों को जलाने के लिये किया है, फिर तो सबको श्वेताम्बर बनानेवाले हैं। भगवान! तेरी बलिहारी है, नाथ!

**श्रोता :** कुबुद्धि का विकास....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो चलता है, बापू! इसमें अनन्तकाल में ऐसा किया है। यह कहीं विषमभाव से देखने जैसा नहीं है। वह उसे बैठा हो, तदनुसार ही बुद्धि काम करेगी। 'जिसमें जितनी बुद्धि है, इतनी दिये बताई, वांको बुरो न मानिये, और कहाँ से लाये?' प्रभु! आहाहा! यह तो मार्ग आ गया। उसमें इसे कठिन पड़ता है। प्रथा और परम्परा का व्यवहार करना और यह करना, और वह करना, उसमें धर्म मनवाया था, इसलिए यह जरा कठिन पड़ता है। इसलिए अपना अपमान न हो, इसके लिये कुछ शोधना तो चाहिए न! वस्तु तो ऐसी है। जगत को...

यहाँ कहते हैं, शरीर के प्रति भी मुनि को विकल्प ही नहीं है। ऐसा कहकर समभाव, वह मुक्ति का कारण है, (ऐसा कहना है)। निचली दशा में समभाव अल्प है, साथ में विकल्प है, वह विषमभाव है ऐसा बतलाना है। आहाहा! वीतरागभाव ही मुक्ति का कारण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य तीन वीतरागभाव है परन्तु उनकी पूर्णता न हो, तब जो विकल्प होता है, वह सब विषमभाव है। आहाहा! विषम कहो या राग-द्वेष कहो। समता कहो या राग-द्वेष रहित भाव कहो। आहाहा! समझ में आया? मनुष्यादि, ऊपर कहा है न! अपना शरीर और दूसरा का भी शरीर। अपना शरीर पर जिसे ममता है, उसे दूसरे के शरीर पर ममता है। उसका शरीर है, ऐसा मानता है। आहाहा!

**श्रोता :** जीवदया....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कौन दया? जीवदया किसे कहना? दया की व्याख्या उसमें की है। यह क्या है? विकारमय परिणामों द्वारा अपने निज स्वभाव का घात न करना तथा अपने स्वभाव का पालन करना, वही दया है। आत्मावलोकन। संस्कृत है, हों! 'यत् निजस्वस्वभावं विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभावं पालयति तदेव (सैव) दया॥६॥' चिमनभाई! ऐसा है, भगवान! आत्मावलोकन में श्लोक रखे हैं। (पृष्ठ १५०)। दया की व्याख्या।

**श्रोता :** व्यवहार दया... यह तो निश्चय की व्याख्या है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दया, यही दया है। उस दया का भाव तो राग—हिंसा है। पर की दया का भाव तो राग है। यह पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा नहीं? यह हिंसा है। आहाहा! विषमभाव है, वह समभाव नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, पुण्य और पाप के परिणामों द्वारा अपने निज स्वभाव का घात न करना। व्रत और अव्रत के परिणाम द्वारा अपना घात न करना। आहाहा! तथा अपने स्वभाव

का पालन करना... यह घात नहीं करना और स्वभाव चिदानन्द का पालन करना। चिदानन्द आत्मा का पालन—रक्षा करने का नाम दया है। ताराचन्दजी! ऐसी बात है, भाई!

श्रोता : सिद्ध भगवान किसका ज्ञान करते होंगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना। अपनी परिणति का ज्ञान और आनन्द वेदते हैं।

श्रोता : सिद्ध भगवान के ज्ञान का विषय क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान का विषय स्वयं अपना है उन्हें। परप्रकाशक कहाँ हैं वे ? स्व-परप्रकाशक, वह आत्मज्ञ पर्याय अपनी है। पर के कारण परप्रकाशक है, ऐसा नहीं। आहाहा! स्व-परप्रकाशक तो स्व की पर्याय है, वह आत्मज्ञ पर्याय है। परप्रकाशक अर्थात् पर को प्रकाशती है, ऐसा अन्दर नहीं है। आहाहा! स्व और पर सम्बन्धी का अपना ज्ञान जो विकासरूप को प्राप्त हुआ है, उसे यहाँ आत्मज्ञ कहने में आता है, व्यवहार से उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! वीतरागमार्ग बहुत दुर्लभ है, प्रभु! यह दया का पूछा तो दया की व्याख्या ऐसी। संस्कृत, संस्कृत है। आत्मावलोकन, दीपचन्दजी कृत।

‘यत् निजस्वस्वभावं विकारभावेन न घातयति’ आहाहा! शुभभाव से भी आत्मा का घात न करे, उसे दया कहा जाता है। कहो, शान्तिभाई! ‘दया वह सुख की वेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया का...’ ऐसा स्थानकवासी में बहुत बोलते हैं। बहुत बोलते हैं, खबर है न। (संवत्) १९८१ में हमारे गढडा चातुर्मास था। वहाँ घड़ी के निकट वह पोस्टर लगाकर रखा था। ‘दया वह सुख की वेलड़ी...’ बापू! वह दया कौन सी?—आत्मा की दया। अर्थात्? जैसा वह पूर्णानन्द का नाथ जीवन्त टिकता तत्त्व है, उसे उस प्रकार से रखना, इसका नाम दया है। उसे उस प्रकार से न रखकर राग से रहेगा और राग से लाभ होगा, तो उसके जीवन का जो पूर्ण स्वरूप है, उसका इसने घात किया। यह नहीं, यह राग है तो लाभ होता है, इस जीव की अस्ति की महत्ता जितनी है, उतनी का इसने निषेध किया। यही हिंसा है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द का कन्द प्रभु, ज्ञान का सागर, परिपूर्ण स्वरूप जिसका है, उसी प्रकार से जिसने दृष्टि में और स्थिरता में स्वीकार किया है तो उसने दया पालन की। अर्थात् है, वैसा उसमें रखा। आहाहा!

इसमें तप की व्याख्या है, हों! यह तप कहते हैं न? तप। शरीर, परिग्रह, भोग, कुटुम्ब, इष्टमित्र, शत्रुरूप परज्ञेयों को छोड़ना अथवा उनमें ममतारहित परिणति होना तथा उनमें तृष्णारहित होना और अपने स्वभाव में स्थिरता होना ऐसी तपस्या ही वह



तप कहलाती है। आहाहा! भाई! मार्ग प्रभु का... बापू! आहाहा! अनन्त बार मरण करके मर गया है। वह जब मरने का समय आवे और दवाब-दवाब हो अन्दर... आहाहा! इन हार्टफेल वालों को मूल क्या होता है? पसीना बहुत निकलता है, इसलिए रक्त जम जाता है। रक्त जम जाता है, इसलिए श्वास रुक जाता है और फिर... आहाहा!

एक को देखा था। (संवत्) १९७६ के वर्ष में। 'ध्रांगध्रा'। एक संघवी था, संघवी। पहले। कोईक जेठालाल संघवी था प्रायः। यह तो १९७६ की बात है। २४+३२=५६ वर्ष पहले की बात है। वहाँ गये पश्चात् उसे पीड़ा.. पीड़ा... पीड़ा... पलंग में तो सुलाते नहीं थे। नीचे सुलाते थे। नीचे सुलावे तो बिस्तर में रह नहीं सकते थे। वृद्ध व्यक्ति थे। साठ वर्ष की उम्र होगी। ७६ की बात है। महाराज! मांगलिक सुनाओ, परन्तु मांगलिक (कहाँ) सुने। बेचारो को इतनी पीड़ा, बिस्तर में से नीचे खिसक जाते थे। ऐसे से ऐसे घानी में पिले वैसे। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... अन्दर में से श्वास ले सके नहीं और ऐसे उलझन.. उलझन का पार नहीं। आहा! बापू! यह उलझन किसकी है? इस शरीर की एकत्वबुद्धि की उलझन है। रोग की नहीं। आहाहा! भाई! इसकी भिन्नता करना अलौकिक बातें हैं। यह साधारण बात नहीं है।

**श्रोता :** थोड़ा सरल दिखाओ न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जो है, वैसा हो उसका नाम सरल। जो है, वैसा न हो, इसका नाम महँगा। कहो, देवानुप्रिया! आहाहा! अरे रे! यह उस दिन मैंने उसे देखा था न। आहाहा! और एक देखा था, वढवाण में। वह कैसा कहलाये? 'सादभावला' चुनीभाई! चुनीभाई का घर है, उसकी उस ओर था। उनका कोई परिवारी था। यह तो (संवत्) १९८२ की बात है। वह ध्रांगध्रा की बात १९७६ की है। वह भी सेठिया था। इन चुनीभाई का काका का लड़का। उसे यह हुआ। और गाँव में मैं था। महाराज का मांगलिक सुनना है। गये। परन्तु वह बेचारा ऐसा... सारा परिवार एकत्रित हुआ। क्योंकि यह दबाव पड़ा है और कदाचित् उड़ जाएगा। आहाहा! अरे रे! ऐसी पीड़ा में तू पीड़ित हो गया, प्रभु! तेरी दया तुझे कहाँ रही? आहाहा!

जिसने शरीर और राग से भिन्न अपना पूर्णानन्दस्वरूप है, उसे उसरूप से स्वीकार किया तो वह जीव की दया कही जाती है। जीव को जीवित रखना, वह दया। ऐसा इसे जैसा है, वैसा रखना। अपूर्ण और विकार, वह मैं नहीं; मैं तो पूर्णानन्द स्वरूप हूँ। आहाहा! दृष्टि में और वीतरागता की स्थिरता में पूर्ण स्वरूप का जो आश्रय और अवलम्बन है, आहाहा! वह दया है। जीव की अपनी दया है, बापू! पर की दया कौन पाल सकता है? यह तो 'बन्ध

अधिकार' में कहा नहीं ? पर को मैं जिलाऊँ तो, बापू! तू तेरा आयुष्य उसे दे सकता है कि उसे जिला सके ? तेरा आयुष्य उसे देता है कहीं ? उसके आयुष्य प्रमाण जीवे, उसमें तू उसे आयुष्य देता है कि जिला दूँ ? आहाहा ! और उसे मार डालूँ तो तू उसका आयुष्य तोड़ सकता है ? आहाहा ! तेरी भ्रमणा है कि उसे जिलाऊँ और उसे मारूँ । प्रभु ! तू भ्रमणा में यह भगवान भूला है । आहाहा ! भ्रमणा में भगवान की गली, उसे भूल गया । शेरी समझते हो ? गली । गली कहते हैं न ? आहाहा ! भ्रमणा छोड़कर भगवानस्वरूप भगवान आत्मा स्वरूप है, वहाँ जाना चाहिए, उसके बदले यहाँ भ्रमा है । ऐसी बातें हैं, भगवान ! आहाहा ! लोगों से तो पागल जैसा लगे, हों ! सब पण्डित बड़ी बातें करे । आहाहा ! संस्कृत और व्याकरण और कथा... उसमें और वह वाजिन्त्र हो । क्या कहलाता है उसके साथ गाने का ? या यह हो और या यह हो । वह गायन साथ में करते हों न... आहाहा ! कथा करते हों, इसलिए लोगों को... आहाहा !

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! एक बार सुन न ! ऐसी कथा सुनने में भी तुझे राग है । अरे ! तीन लोक के नाथ की कथा सुनना, वह भी राग है । आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं, जिसे अपने शरीर और पर के शरीर के प्रति, शुभ-अशुभ के प्रति राग-द्वेष है ही नहीं । जिसे ऐसा नहीं, (उसने) निजस्वभाव देह से भिन्न जान लिया है । आहाहा ! उसने देह से भिन्न जीव को जाना है । आहाहा ! समझ में आया ? जिसने निजस्वभाव देह से भिन्न जान लिया है । उसे समभाव होता है, ऐसा कहते हैं । समभाव में उसने देह से भिन्न चैतन्य को जाना है । आहाहा ! समझ में आया ? अकेली बातें करके या धारण करके नहीं, ऐसा कहते हैं । आहाहा ! देह से भगवान को समभाव में रहकर भिन्न जाना है । आहाहा ! निर्विकल्प समभाव में रहा है, उसने देह से भिन्न को जाना है, ऐसा कहते हैं । आहाहा ! बाकी देह से भिन्न, ऐसी बातें करे और जानने में, धारणा में रटे, कहते हैं कि वह नहीं ।

**श्रोता :** कुछ तो फायदा होता होगा ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसमें जरा भी फायदा नहीं । पुण्यबन्ध होता है । आहाहा !

**श्रोता :** इसमें साहेब चौथा गुणस्थान ही नहीं आया ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** चौथा आ गया पहले, इसके ऊपर का आया, वह तो पहले कहा था । चौथे में समभाव का अंश तो पहले आया है, परन्तु उसमें जितने विकल्प उठते हैं, वह बन्ध का कारण है । उसे छोड़ाकर मुनि को भी जितने विकल्प उठते हैं, वह बन्ध का कारण है । शास्त्र पढ़ना, वाँचना... यह तो पहले कल आ गया है । शास्त्र पढ़ना, पढ़ाना यह भी विकल्प है ।

आहाहा! यहाँ तो वीतरागता का वर्णन है, उसमें दूसरी बात क्या आवे? यह तो गाथा आ गयी न, इसके पहले पढ़ना और पढ़ाना यह। ४८ गाथा। 'भणइ भणावह णवि थुणइ णदिह' जो पढ़ाता नहीं, पढ़ता नहीं, भगवान की स्तुति करता नहीं तथा वह झूठा है, ऐसी निन्दा भी नहीं करता, वह तो समभाव में वर्तता है। आहाहा! यह मार्ग झूठा है और यह मार्ग सत्य है, उसमें भी विकल्प का अंश है, वह चारित्रदोष है। आहाहा! वह विकल्प का समभाव नहीं और वह विषमभाव है, ऐसा बताकर उसे छोड़कर समभाव में रहे, उसने आत्मा को देह से भिन्न जाना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने अन्दर प्रयोग करके देह से भिन्न जाना है। समझ में आया? आहाहा! उस हार के समय तुम्हें वहाँ खबर नहीं पड़ी होगी अन्दर दवाब होता होगा? थोड़ा बहुत होगा, छोटा होगा। उसके ऊपर लक्ष्य रहे, वह तो द्वेष का वेदन है। वहाँ स्वसंवेदन कहाँ आया? स्वसंवेदन तो वीतरागभाव हो, वह स्वसंवेदन है।

**श्रोता :** दुःख में...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह दुःख है, वह स्वयं ही विषमभाव का वेदन है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! इस देह से अत्यन्त भिन्न चौसला भिन्न है। आहाहा! समभाव द्वारा जिसने भिन्न जाना है। अकेले जानपने द्वारा भिन्न जाना है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने अन्दर में राग से भिन्न प्रयोग करके जिसने भगवान को भिन्न जाना है... आहाहा! उसे उस भाव में देह से भिन्न जाना कहलाता है। आहाहा! टीका में कहेंगे, देखो! ५१ है न?

**भावार्थ -** इन इन्द्रियों से सुख उत्पन्न हुआ है, वह दुःखरूप ही है। आहाहा! है? देह तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है, जड़ चैतन्य का क्या सम्बन्ध? भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ भगवान, यह देह तो जड़ मिट्टी है। आहाहा! दोनों को क्या सम्बन्ध? सूर्य और अन्धकार को क्या सम्बन्ध? प्रकाश और अन्धकार को क्या सम्बन्ध? इसी प्रकार भगवान चैतन्यस्वरूप और शरीर अन्धकार जड़स्वरूप, दोनों को क्या सम्बन्ध है? आहाहा! यह तो वीतराग की वाणी है, भाई! आहाहा!

**श्रोता :** कथंचित् भिन्न है, ऐसा लें तो?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कथंचित् भिन्न है, यह तो अज्ञान है। सर्वथा भिन्न है, यह ज्ञान है। कथंचित् भिन्न (तो) कथंचित् अभिन्न हो गया। कहाँ जड़, वह तो परमाणु मिट्टी और भगवान चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्द! उसकी इसे खबर नहीं कि मैं आत्मा इतना हूँ। एक समय की पर्याय की अवस्था में अनादि की क्रीड़ा। अनादि की, जैन दिगम्बर साधु हुआ परन्तु एक

समय की पर्याय में सब क्रीड़ा। राग की मन्दता और राग की तीव्रता का त्याग और यह नहीं चलता तथा यह चलता है, यह सब एक समय की पर्याय में क्रीड़ा। परन्तु पर्याय के पीछे भगवान पूर्णानन्द वस्तु है। पर्याय तो एक समय की अवस्था है, वह तो पलटती अवस्था है। पलटती के पीछे नहीं पलटता ऐसा ध्रुवतत्त्व भगवान आत्मा है या नहीं? आहाहा! ऐसा मार्ग है, भगवान! बापू! लोगों को...

**श्रोता :** पर्याय बिना का द्रव्य कहते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर्याय बिना का ही द्रव्य है, ऐसा ही है। पर्याय में द्रव्य आता नहीं। पर्याय में द्रव्य का ज्ञान आता है। क्या कहा? द्रव्य नहीं आता। पर्याय में द्रव्य का ज्ञान आता है। पर्याय है। द्रव्य जितना है, उतना ज्ञान आता है। पर्याय में, द्रव्य जितना है, उसकी श्रद्धा आती है, द्रव्य नहीं आता। एक पर्याय में द्रव्य नहीं आता। द्रव्य आवे तो द्रव्य और पर्याय एक हो जाए। जितना जैसा स्वरूप है, वैसा ही यहाँ ज्ञान आता है और जितना उसका स्वरूप है पूर्णानन्द वीतराग अनन्त गुण का कन्द, ऐसा ही उसे पर्याय की श्रद्धा में पूरी श्रद्धा आती है, वस्तु नहीं आती। आहाहा!

**श्रोता :** परिणाम द्रव्य का आश्रय लेता है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** द्रव्य का आश्रय है, तथापि उस द्रव्य के आश्रय का अर्थ? लक्ष्य वहाँ किया है इसलिए। उस ओर लक्ष्य किया है, परन्तु वह द्रव्य उसमें नहीं आया तथा पर्याय द्रव्य में नहीं गयी।

**श्रोता :** लक्ष्य और आलम्बन एक ही बात है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह सब उसकी ओर जाए, उसका लक्ष्य और आलम्बन। आहाहा!

एक समय की पलटती अवस्था में भगवान जानने में आया, उसका जितना सामर्थ्य है, उतना सब ज्ञान पर्याय में आया, परन्तु पर्याय में द्रव्य नहीं आया, द्रव्य में पर्याय नहीं गयी। आहाहा! द्रव्य से पर्याय भिन्न रहकर द्रव्य का पूर्ण ज्ञान किया, प्रभु! ऐसा मार्ग है, भाई!

**श्रोता :** उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् कहा जाता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वे तीनों स्वतन्त्र हैं। उत्पाद के कारण उत्पाद; ध्रुव के कारण उत्पाद नहीं; पर्याय के कारण ध्रुव नहीं। यह बात तो बहुत हो गयी है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव एक समय में तीन, तथापि उत्पाद के कारण ध्रुव नहीं और ध्रुव के कारण उत्पाद नहीं, व्यय के कारण उत्पाद नहीं और उत्पाद के कारण व्यय नहीं। तीनों सत् अहेतुक स्वतन्त्र सिद्ध है।

आहाहा! उत्पाद पर्याय का सम्यग्दर्शन में उसकी पूर्णता की प्रतीति आवे पर्याय में, परन्तु पूर्ण वस्तु यहाँ नहीं आवे और वह पूर्ण वस्तु ध्रुव है, इसलिए उत्पाद हुआ है, ऐसा भी नहीं है। ऐसी बात है, इसलिए लोगों को, पण्डितों को कठिन पड़ती है।

**श्रोता :** सुख का भोग कौन करेगा ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जड़ करे, कौन करे ? अज्ञान करे, वह जड़ है। राग के संसार के सुख का भोग कौन करे ? अज्ञान करे। आत्मा के आनन्द का भोग पर्याय करे, परन्तु पर्याय में द्रव्य आता नहीं और अनुभव करे। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा मार्ग, बापू! वीतराग का ऐसा मार्ग है अभी तो। अभी तो चोर कोतवाल को दण्डे, ऐसा कर डाला है। सत्य मुश्किल से बाहर आया। वहाँ कहे—नहीं, नहीं। यह नियत है, नियतपन्थ है। आया है अभी। सोनगढ़ का नियतपन्थ है क्योंकि जिस समय की जो पर्याय जिस क्षण में होनेवाली है, वह होती है और निमित्त से नहीं होती, यह नियत है। प्रभु! ऐसा ही है। सुन न! जिस समय में जो... यह तो कहा न १०२ गाथा में, निजक्षण है। उस पर्याय की उत्पत्ति का काल है। आहाहा! उस काल का जानना, परन्तु तात्पर्य क्या ? स्व का आश्रय करना, वह इसका तात्पर्य है। पर्याय में खड़े रहना—यह नहीं। पर्याय उस समय में वही होनेवाली वह हुई, वह तो ऐसा ही है। निमित्त से नहीं होती। निमित्त हो, निमित्त से होती नहीं। व्यवहार हो, निश्चय व्यवहार से नहीं होता। आहाहा!

**मुमुक्षु :** साहेब ! इसमें पुरुषार्थ नहीं आया, काललब्धि आयी।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इसमें पुरुषार्थ आया, काललब्धि आयी और भवितव्यता आयी और स्वभाव आया, निमित्त का अभाव आया—पाँचों आ गये। आहाहा! यह तो सब अभी ही बहुत चलता है। पण्डित जरा खलबलाहट करने लगे हैं न। आहाहा! उसे न जँचा हो, उसे अपमान होता है न! अपमान हुआ है उसे। एक तो सम्यग्ज्ञान दीपिका से अपमान हुआ। सम्यग्ज्ञान दीपिका जैन दिगम्बर का ग्रन्थ और यहाँ के नाम से चढ़ा दिया और बहुत निन्दा की। व्यभिचारी पन्थ है, देखो! इस सम्यग्ज्ञान दीपिका में लिखा है। इनकी ओर से प्रकाशित है। परन्तु वस्तु किसकी है ?

**श्रोता :** जिसने छपाई उसकी।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** छपाई उसकी ? ८७ वर्ष पहले की प्रकाशित है वह तो। यहाँ तो जन्म से पहले की वह तो प्रकाशित है। ५४ वर्ष पहले। (संवत्) १९७८ के वर्ष में वाँचन में आयी। १९७८। सम्यग्ज्ञान दीपिका। प्रकाशित हुई थी ८७ वर्ष पहले। अगास से, हों! फिर पढ़ने में

आयी १९७८ में। ५४ वर्ष हुए। अब वह सम्यग्ज्ञान दीपिका सोनगढ़ के नाम से चढ़ाकर (कहते हैं कि) देखो! यह व्यभिचार स्थापित किया है। भाई! उन्होंने व्यभिचार स्थापित नहीं किया और वह सोनगढ़ की नहीं है। यह तुम यह क्या करते हो? आहाहा! अरे! यहाँ नहीं चलता, कुदरत के नियम में। आहाहा! अब यह नहीं फाव्या उसमें और इन सेठियाओं ने सबने इकट्ठे होकर अपमान किया। जिस किसी ने इस शास्त्र को पानी डुबोया है, वे सब नरक, निगोद में जाएँगे, अनन्त संसार बढ़ाया है। अब ये सेठिया इस ओर आये। अब उन्हें चारों ओर से अपमान हो गया, इसलिए अब साधु को इकट्ठा करके करेंगे कि यह लोग देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानते। यह लोग देव को भी पानी में डुबोते हैं। पद्मावती को डालते हैं न कितने ही! हमने तो कुछ कहा नहीं। हम तो तत्त्व की बात करते हैं। गुरु को मानते नहीं। जो चरणानुयोग के आचरण करनेवाले... यह कल आया है। चार अनुयोग को नहीं मानते, शास्त्र को नहीं मानते। चार को नहीं मानते। एक द्रव्यानुयोग को मानते हैं, इसलिए शास्त्र को नहीं मानते। जाओ, ऐई! धन्नलालजी! स्वतन्त्र है। उसे विचार आवे वह। भले चाहे जिस प्रकार। अपमान होता हो, उसके लिये भी जो आवे वह कहे न। बापू! बहुत अन्तर है, भाई! बहुत अन्तर है, भगवान! दुनिया भले मानेगी, बापू! इसका परिणाम कठोर है, भाई! आहाहा! इस परिणाम के फल, बापू! अभी दुनिया माने। हा... हो (करे) परन्तु परिणाम कठोर है, भाई! आहाहा! हँसते बाँधे कर्म, वे रोने से नहीं छूटे, प्रभु! आहाहा! आता है, क्या कहलाता है? सज्जाय आती है। सज्जायमाला है न चार? वह पढ़ी थी। तब दुकान पर पढ़ी थी। 'हसता रे बांध्या कर्म, अरे रोता न छूटे प्राणीया जी।' चार सज्जाय आती है। एक-एक सज्जाय में २००-२५० सज्जाय आती है। ऐसी चार है। चारों दुकान पर पढ़ी थी। तब (संवत्) १९६४-६५-६६ की बात है। १९७० में दीक्षा ली, उसके पहले की बात है। घर की दुकान थी न। पिताजी की दुकान थी। घर की स्वतन्त्र। पिताजी गुजर गये, बाद में पाँच वर्ष चलायी थी। निवृत्ति से यह सब पढ़ते थे। आहाहा! 'होंशथी बांध्या कर्म, अरे रोतां न छूटे प्राणीया...' प्रभु! तेरे रोना होगा तो भी... आहाहा! बाहर की अनुकूलता में इसे लगता है मानो मैं फावुं छूँ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जो इन्द्रियों से सुख प्राप्त होता है, वह दुःखरूप है... लो। यह सुख की कल्पना हुई न कि शरीर ठीक है और शरीर ठीक नहीं, यह सब कल्पना सुख-दुःख की है। आहाहा! निरोग शरीर, रूपवान शरीर और यह अन्दर... आहाहा! स्त्री जवान, पुत्र जवान हुए हों, चालीस वर्ष की उम्र स्त्री की और अपनी हो तथा बीस वर्ष का लड़का हुआ विवाह करके और मानो फाव्या हम तो। अरे! भगवान! बापू! क्या करता है तू? भाई! यह सुख, वह

दुःख है। यह सब सुख की कल्पना हुई। हम सुखी हैं, पैसे-टके, कुटुम्ब, पुत्र भी सब आज्ञाकारी हैं, बहू भी अच्छे घर की आयी है। क्या है परन्तु प्रभु तुझे? आहाहा! इन्द्रिय के सुख, वह दुःखरूप है। प्रवचनसार में कहा है। है ?

इसका तात्पर्य ऐसा है कि जो इन्द्रियों से सुख प्राप्त होता है, वह सुख, दुःखरूप ही है, ... आहाहा! कोई प्रशंसा करेगा, तेरी महिमा करेगा, पैसे के, तेरी इज्जत के, तेरी स्त्री के, पुत्र के, आहाहा! वह वस्तु परवस्तु है। क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नहीं है, ... आहाहा! वह कल्पना परवस्तु है, दुःख है। निजवस्तु नहीं है, ... अनुकूलता में लोग प्रशंसा करे, वह सुख नहीं; वह दुःख है, भाई! तुझे खबर नहीं, प्रभु! तू समभाव में से हट गया है, इसलिए तुझे इन्द्रिय के विषयों में अनुकूलता में ठीक लगता है, यह दुःख है।

श्रोता : प्रवचनसार में सुखाभास कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुखाभास का अर्थ (यह कि) सुख नहीं। अतः यह तो वह का वही हुआ न। सुख नहीं। माना हुआ अज्ञानी ने सुख, वह दुःख है।

श्रोता : प्रशंसा में कहाँ दुःख है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रशंसा में वह प्रसन्न होता है, यह दुःख है। राग हुआ न! आहाहा! महिमा की, तुम ऐसे... तुम ऐसे... तुम कर्मी जागृत हुए, तुम होशियार जागृत हुए, तुम्हारी दस पीढ़ी में इतने पैसे नहीं थे, इतने तुम्हारे हुए, तुम्हारे दस पीढ़ी में इज्जत नहीं थी, ऐसी तो तुम्हारी इज्जत जम गयी है। परन्तु उसमें तुझे क्या? आहाहा!

बाधासहित है... इन्द्रिय की अनुकूलता के बाहर के सुख विघ्नवाले हैं। किस क्षण में विघ्न आवे... आहाहा! वहाँ नहीं हुआ? बिहार में। बड़ा करोड़पति। थोड़े पैसे होंगे। दस हजार या बीस हजार। घूमने गये थे। जहाँ पीछे आवे, सब समाप्त हो गया। बिहार में। एकदम वह हुआ। मकान और स्त्री और पुत्र सब जमीन में घुस गया। समाप्त हो गया। स्वयं घूमने गया था। फिर वहाँ जामनगर आया था। वहाँ भी भाषण करते-करते मर गया। उसका एक विनय का धर्म है न? सबके पैर छुए, ऐसा वहाँ एक धर्म है। जामनगर में सबके पैर छुए—कुत्ते, गधे के सबके। ऐसा एक (धर्म) है। वहाँ आया था। उसके विमान में आता है। करोड़ों रुपये समाप्त हो गये। पाँच, दस हजार रुपये उसके साथ होंगे। कुछ चाँदी का रह गया। बाकी सब कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, सब... क्या कहलाता है वह? भूकम्प। सब समा गया, हो गया। आहाहा! वह विघ्नवाला (सुख है), बापू! ऐसा कहते हैं। करोड़ोंपति, हों! क्षण में भिखारी... भिखारी... भिखारी... आहाहा! यह बाधासहित है, ऐसा कहते हैं।

निराबाध नहीं है,... उसे विघ्न न आवे, ऐसी चीज़ नहीं है, वह तो विघ्नवाली चीज़ है। आहाहा! नाश के लिखे हुए हैं... आहाहा! यह बाहर के साधन, सुख की कल्पना सब नाश के लिये है। जिसका नाश हो जाता है, बन्ध का कारण है... आहाहा! अनुकूलता से प्रसन्नता जो सुख है, वह बन्ध का कारण है, नये पाप बँधते हैं। आहाहा! और विषम है। है न? विषम अर्थात् राग है। समभाव नहीं, विषमता है। इसलिए इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है, ऐसा इस गाथा में जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसे देहजनित सुख को मन, वचन, काय,... सब नहीं डाला। अन्दर में तो यह डाला है। 'दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं' ऐसा है न? अन्दर है। 'दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्रये कालत्रयेऽपि' ऐसा लिया है। इतना अन्दर नहीं डाला। तीन काल और तीन लोक में से हट जाना। आहाहा!

मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदना से छोड़े। ऐसी सुख की कल्पना तीन काल, तीन लोक में से छोड़ दे। आहाहा! यहाँ नहीं भविष्य में स्वर्ग में जाना, वहाँ तो ठीक मिलेगा न? धूल भी नहीं वहाँ, सुन न! वहाँ भी सब दुःख का सरदार है। आहाहा! वीतरागनिर्विकल्प समाधि के बल से... लो। है अन्दर यह। आहाहा! अन्तर में रागरहित वीतरागी दशा प्रगट की, निर्विकल्प समाधि शान्ति—निर्विकल्प शान्ति। आहाहा! उसके बल से आकुलतारहित परमसुख निज परमात्मा में स्थित होकर... निज परमात्मा में स्थित होकर जो महामुनि देह से भिन्न अपने शुद्धात्मा को जानता है,... भाषा देखो! देह से भिन्न है, देह से भिन्न है, ऐसा नहीं। निज परमात्मा में स्थित होकर। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में स्थिर होकर, अन्दर जाकर। आहाहा! महामुनि देह से भिन्न अपने शुद्धात्मा को जानता है,.. वह देह से भिन्न अपने आत्मा को जानता है। समझ में आया?

वही देह के ऊपर राग-द्वेष नहीं करता। जो सब तरह देह से निर्ममत्व होकर देह से सुख को नहीं अनुभवता, उसी के लिये यह व्याख्यान शोभा देता है,... आहाहा! परमात्मस्वरूप में रहकर देह की ममता छोड़ता है, उसकी स्थिरता करके, उसे यह व्याख्यान शोभता है। देह की ममतावाले को नहीं। है न? और दैहात्मबुद्धिवालों को नहीं शोभता... जिसे देह की बुद्धि है, यह देह है, यह देह मेरी... आहाहा! उसे यह व्याख्यान शोभा नहीं देता। उसे यह व्याख्यान समझ में नहीं आयेगा और व्याख्यान का सार उसे शोभा नहीं देगा। विशेष कहेंगे.....

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )



१४

श्री समयसार कलश टीका, कलश-१, प्रवचन - २

दिनांक - ३१-०८-१९६७

यह समयसार कलश टीका चलती है। जीव अधिकार। दूसरा पृष्ठ आया है न? यहाँ जीव को सार कहा, ऐसा किसलिए? शुद्ध जीव को सार कहा, वह किसलिए? ऐसा प्रश्न उठा। और उस शुद्ध जीव को मेरा नमस्कार। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को मेरा नमस्कार। तो शिष्य का प्रश्न हुआ कि उसे सारपना कैसे घटित होता है? समझ में आया? क्योंकि सब पदार्थ अपने गुण-पर्याय से विराजमान हैं। प्रत्येक जड़ और चैतन्य अपनी शक्ति और अपनी वर्तमान प्रगट पर्याय, उसरूप से स्वतन्त्र शोभित, स्वाधीन है। उसमें और शुद्ध जीव को सारपना घटित होता है, कैसे? यह प्रश्न है। कोई किसी के आधीन नहीं है। तो जीव पदार्थ का सारपना कैसे घटता है? उसका समाधान करने के लिये दो विशेषण कहते हैं:-

‘स्वानुभूत्या चकासते’ और ‘सर्वभावान्तरच्छिदे’ कहो, समझ में आया? इस अवसर पर स्वानुभूति कहने से निराकुलत्वलक्षण शुद्धात्मपरिणमनरूप अतीन्द्रिय सुख जानना,... क्या कहा, समझे? इस अवसर पर स्वानुभूति... अभी यह जो चलता है, (उस) व्याख्या में अतीन्द्रिय स्वानुभूति, आत्मा का अन्तर में अनुभव होने पर जो अनाकुल सुख प्राप्त होता है, निराकुलत्वलक्षण शुद्धात्मपरिणमनरूप... अपना शुद्धस्वरूप, जैसा आनन्द है वैसा, अन्तर में स्वसन्मुख की अनुभूति द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, उसे यहाँ अतीन्द्रिय सुख जानना। उसे यहाँ साररूप कहा गया है। कहो, समझ में आया?

आत्मा की अनुभूति में अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति—सुख होना, इसका नाम यहाँ सारपना कहा गया है। समझ में आया? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी अन्तर अनुसरण करके अनुभव शुद्धात्मपरिणमनरूप, शुद्धात्म अवस्थारूप अतीन्द्रिय सुख, वह वास्तव में सार है। उस जीव में ऐसे शुद्धपने में सुख होता है, इसलिए उसे नमस्कार किया जाता है। कहो, समझ में आया? उसरूप अवस्था है जिसकी... भाषा (देखो)! भगवान आत्मा, जैसा उसके द्रव्य और गुण ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वैसी ही अन्तर में अन्तर की दशा का

अनाकुल आनन्दरूपी अवस्था का होना, इसका नाम जीव का सार आनन्द है, इसलिए उसे नमस्कार किया गया है। कहो, समझ में आया ? गजब माल डाला है।

जीव शुद्ध—द्रव्य से शुद्ध, गुण से शुद्ध परन्तु पर्याय में राग और विकल्प से पृथक् होकर आत्मा में अन्तर आनन्द का परिणमन शुद्ध होना, वही जीव का सार आनन्द है। उसे अनुभूति का आनन्द—अनाकुल आनन्द कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? ऐसा दूसरे जड़ में नहीं, वैसा संसारी जीव में भी नहीं।

**श्रोता :** सिद्ध जीव में है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उन सिद्ध जीव में और इसमें, दोनों में है। यहाँ तो यह कहेंगे। सिद्ध का अनुभव कहते हैं, परन्तु यह अपना अनुभव, ऐसा कहते हैं। अपने को जानते हुए, अनुभवते हुए जाननेवाले को सुख होता है। सिद्ध को जानने से सुख होता है इसका अर्थ—सिद्ध स्वानुभूति अनन्त शुद्ध परिणमन, वह अनाकुल आनन्द है और 'सर्वभावान्तरच्छिदे' है। समझ में आया ? परन्तु इस शुद्ध का अनुभव होने पर आनन्द होता है, वह कहीं सिद्ध का अनुभव नहीं है। भाषा भले ऐसी है, सर्वोत्कृष्ट। परन्तु सर्वोत्कृष्ट शुद्ध जो आनन्दरूपी परमात्मा, उन्हें नमस्कार का अर्थ यह कि अपना आत्मा शुद्धस्वरूप अनुभूति में परिणमे, आनन्दरूप दशा हो और जिसे 'सर्वभावान्तरच्छिदे' अल्प काल में केवलज्ञान होना है, ऐसे आत्मा को यहाँ नमस्कार किया गया है। समझ में आया ?

**श्रोता :** स्वयं अपने को नमस्कार करता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो नमस्कार ही यहाँ है न! वास्तव में पर को नमस्कार तो विकल्प है। केवलज्ञान की स्तुति में शिष्य ने प्रश्न नहीं किया ? महाराज ! केवलज्ञान की स्तुति किसे कहना ? केवलज्ञानी की स्तुति किसे कहना ?—ऐसा शिष्य का प्रश्न ( हुआ )। उसके उत्तर में ऐसा कहा कि 'इंदिये जिणित्ता' जो कोई द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषय, इनसे हटकर अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है, उसे केवली की स्तुति—गुणग्राम करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! समझ में आया ?

यहाँ यह कहते हैं, भगवान आत्मा अपने में जो अतीन्द्रिय शान्त आनन्द है, उस आनन्द का अन्तर पर्याय में शुद्धरूप परिणमनसहित सुख का प्रगट होना, वह शुद्धात्मा का सार वह आनन्द है। आहाहा ! समझ में आया ? पर में सुख तो नहीं, इन पाप के परिणाम में सुख नहीं, पुण्य के परिणाम में सुख नहीं। आत्मा की शुद्ध अनुभूति में सुख है, इसलिए सार कहने में आता है। आहाहा !

श्रोता : बाहर का सुख तो रह गया ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का सुख तो रह गया । बाहर का रह गया । ऐ... मलूकचन्दभाई !  
'सुख नहीं' आ गया न ! आहाहा !

भाई ! यहाँ सार कहते हुए दो विशेषण (कहे हैं) । 'स्वानुभूत्या' अवस्था । 'चकासते' कहा न ? अर्थात् अवस्था तथा 'सर्वभावान्तर' अवस्था—पूर्ण दशा । ऐसा जीव को ही लागू पड़ता है । शुद्ध जीव को, शुद्ध जीव को । वह शुद्ध जीव स्वयं है, ऐसी जब अनुभूति करता है, तब यह आत्मा सुखरूप, आनन्दरूप परिणमता है, ऐसे ही आत्मा में नमन अर्थात् झुका है, वह नमस्कार सच्चा है । आहाहा ! समझ में आया ?

इस अवसर पर... इस काल में—स्वकाल में । स्वानुभूति कहने से निराकुलत्वलक्षण शुद्धात्मपरिणमनरूप... जिसमें आकुलता बिल्कुल नहीं है । आहाहा ! ऐसी आत्मा की पर्याय में शुद्धात्म परिणमन होना—शुद्ध द्रव्य का परिणमन पर्याय में होना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान का परिणमन होना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति का परिणमन होना, वे तीनों सुखरूप हैं—ऐसा कहना है । क्या कहा, समझ में आया ?

'स्वानुभूत्या' कहा न ? तो स्वानुभूति में दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन का शुद्धरूप परिणमन, वह सुखरूप परिणमन है । सम्यग्दर्शन भी सुखरूप, सम्यग्ज्ञान भी सुखरूप, सम्यक् चारित्र भी सुखरूप अनुभूति है, इसलिए उसे सार कहा जाता है, इसलिए उसे नमस्कार किया जाता है । आहाहा ! 'चकासते' अवस्था है जिसकी । सर्व भाव अर्थात् अतीत-अनागत-वर्तमान पर्यायसहित अनन्त गुण विराजमान जितने जीवादि पदार्थ, उनका अन्तरछेदी अर्थात् एक समय में युगपत् प्रत्यक्षरूप जाननशील... जिसका एक समय में अपने अतिरिक्त के अनन्त जीव आदि पदार्थ, उन्हें जानने का एक समय में स्वभाव है । सर्वज्ञपना सिद्ध करते हैं, मोक्षदशा सिद्ध करते हैं । ऐसा उसका-पर्याय का पूर्ण धर्म ही ऐसा है ।

जितने जीवादि पदार्थ... देखो ! अतीत-अनागत-वर्तमान पर्यायसहित... हुआ ? पश्चात् अनन्त गुण विराजमान... तीन ले लिये । पर्याय, गुण दोनों ले लिये । अब कौन ? जितने जीवादि पदार्थ... जितने अनन्त आत्माएँ और जितने अनन्त रजकण आदि, जितने द्रव्य हैं, वे सब तीन काल की पर्यायसहित अनन्त गुण विराजमान जो पदार्थ हैं, उनका जाननशील एक समय में । अन्तर छेदी की व्याख्या हुई । एक समय में युगपत् प्रत्यक्षरूप जाननशील... जाननशील (अर्थात्) जानने का जिसका स्वभाव है, लो । समझ में आया ?

सर्वज्ञ अर्थात् जानन, सर्व को जानना वह तो स्व का स्वभाव है। वे कहते हैं न, सर्वज्ञ, वे व्यवहार से सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ में सर्वपना आया, इसलिए व्यवहार है। यहाँ कहते हैं कि सबको जानना, ऐसा जाननशील अपना स्वभाव है। समझ में आया ?

युगपत् प्रत्यक्षरूप जाननशील जो कोई शुद्ध जीववस्तु, उनको मेरा नमस्कार। कहो, समझ में आया ? तीन बार आया न ? पहले में आया था, तीसरी लाईन में। उसे मेरा नमस्कार। नमः समयसार। बाद में यहाँ आया। चौथी लाईन। उसे—पदार्थ को नमस्कार। तीसरी लाईन—चेतन पदार्थ को नमस्कार। यहाँ आया। उसे मेरा नमस्कार। है तो वह नमः शब्द एक की ही बात है। तीन की सन्धि की है। समयसार शुद्ध, उसे मेरा नमस्कार। स्वानुभूति चकासते, ऐसे पदार्थ को मेरा नमस्कार। समझ में आया ? और सार जो भगवान आत्मा उपादेय अकेली वस्तु, उसे मेरा नमस्कार। आहाहा ! यह बात अध्यात्म की थोड़े शब्द में गागर में सागर भर दी है। संवर, निर्जरा, मोक्ष और भाव का सामर्थ्य। सामर्थ्य अर्थात् शक्ति और भाव अर्थात् स्वयं पदार्थ। समझ में आया ?

ओहो ! ऐसा भगवान आत्मा, जिसके स्वभाव सामर्थ्य में सर्वज्ञ और पूर्ण आनन्द पड़ा है, उसकी जिस पर्याय में अनुभूति हुई, अनन्त आनन्द का अनुभवना और एक समय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को युगपद् जाननशील जिसका स्वभाव है, ऐसी जिसकी दशा प्रगट हुई है, वह इस जगत में शुद्ध और सार कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? सार पदार्थ आत्मा। वह उसमें आया है, लाईन में आया है।

एक समय में युगपद। युगपद अर्थात् साथ में। प्रत्यक्षरूप से, इतने विशेषण। जाननशील। जाननशील शब्द प्रयोग किया, देखा ? जानने का शील उसका स्वभाव है। जानने का शील जिसका स्वभाव है। ऐसी जो वस्तु, उसे मेरा नमस्कार। आहाहा ! समझ में आया ? 'शुद्ध जीव का सारपना घटित होता है।' अब कहते हैं, शुद्ध जीव को सारपना घटित होता है। आगे कहेंगे। हों ! ऐसा शुद्ध, उसे जानने पर, अनुभव करने पर जाननेवाले को सुख और ज्ञान है। अन्त में यह लेंगे। शुद्ध जीव का सारपना घटित होता है परन्तु वास्तविक यह शुद्धपना, उसे सारपना घटित होता है।

श्रोता : जाननेवाले की बात है...

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्ध को जाननेवाला नहीं, इसको जाननेवाले को। आहाहा !

शुद्ध जीव के सारपना घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी।

सो हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुःख जानना। बस, यह दो सिद्धान्त। हितकर सुख और अहितकर दुःख। कोई परवस्तु दुःख या परवस्तु सुख, ऐसा नहीं है। हितकर अतीन्द्रिय आनन्द सुख। अहितकर दुःख, विकल्प, राग। शुभाशुभभाव अहितकर दुःखरूप है। कारण कि अजीव पदार्थ-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल के... क्या कहा? और संसारी जीव के सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं,... अजीव पदार्थ पुद्गल में ज्ञान नहीं है और सुख नहीं है। इस शरीर में, वाणी में, कर्म में, पैसे में, लड्डू में, दाल-भात में, जड़-पुद्गल में ज्ञान नहीं, वहाँ सुख नहीं।

श्रोता : यह सुख तब न। उससे पहले तो सुख है न वहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं है। कहाँ था? शोभालालभाई! इससे पहले है या नहीं? यह तुम्हारे पैसेवाले को सुख है, ऐसा कहते हैं। ऐई! सेठ! यह दरबार आये। सुख है या नहीं? ऐसा होगा? तुमको सब पैसेवाले माने। शरीर से बड़े, पैसे से बड़े, इज्जत से बड़े। बड़े सुखी कहते हैं।

श्रोता : यह तो दुःख का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर विकल्प उठता है, वह दुःख है। वह चीज़ नहीं। चीज़ के ऊपर लक्ष्य जाए और राग हो, वही दुःख है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शुभ और अशुभ परिणाम हों, वह दुःख है। वह अहितकर है, वह असार है। आहाहा! ऐसा आया या नहीं इसमें? हितकारी सुख जानना; अहितकारी दुःख जानना।

श्रोता : पैसा होवे तो सुख के लिये हितकारी, न होवे तो दुःख...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो यहाँ कहते हैं। अजीव अर्थात् पैसा। अजीव है? शब्द है? शोभालालजी! अजीव पदार्थ को। अजीव पदार्थ को... ऐसा शब्द है?

श्रोता : यह तो बराबर। उसे सुख नहीं है (सुख देनेवाला है।)

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहेंगे अभी। कहेंगे, सब कहेंगे। यह साथ में बैठे हैं, क्यों बताते नहीं? बताया? नहीं तो उलहाना मिले। वकील है, साथ में बताना चाहिए न इन्हें।

अजीव पदार्थ को... अर्थात्? कि पुद्गल में। पुद्गल अर्थात् एक परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु के स्कन्ध पिण्ड। उसमें पैसा आ जाता है। ऐ... सेठ! पुद्गल में पैसा आ जाता

है या नहीं ? पैसा आ जाता है, पुद्गल में पैसा आ जाता है, पैसा पुद्गल में आ जाता है । अभी इसे खबर कहाँ है सेठ को । क्या करे ? पैसा, वह पुद्गल है ।

**श्रोता :** पैसा तो द्रव्य है ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** द्रव्य है पुद्गल । है न । आहाहा ! यह शरीर पुद्गल, वाणी पुद्गल, कर्म पुद्गल, पैसा पुद्गल, स्त्री-पुत्र के शरीर पुद्गल, मकान पुद्गल, जेवरात पुद्गल, कपड़े पुद्गल । यह सब पुद्गल । कहते हैं कि पुद्गल में ज्ञान नहीं है । यह शरीर और शरीर में ज्ञान नहीं है, पैसे में ज्ञान नहीं है । तथा सिर और शरीर और पैसे में सुख नहीं है, ऐसा कहते हैं । ऐ.. न्यालभाई !

**अजीव पदार्थ को...** अर्थात् कि, ऐसा । पुद्गल को । पुद्गल जो है, परमाणु से लेकर एक रजकण का पॉइन्ट, एक रजकण से लेकर अचेत महास्कन्ध पूरा दुनिया में है । समझ में आया ? और यह कपड़ा, पैसा, यह फर्नीचर, सब चीजें हैं न ? यही कहते हैं, उनकी शोभा उनमें है । यह तो पहले बात हो गयी । उनके गुण-पर्याय से शोभा उनमें है, परन्तु उनमें ज्ञान और सुख नहीं है । उनके गुण-पर्याय से शोभायमान है, स्वाधीन है । परन्तु उस चीज़ में ज्ञान और आनन्द नहीं है । कहो, समझ में आया ? कहो, यह तो सादी बात है । ऐई ! सेठी !

**श्रोता :** दूसरी चीजों में ज्ञान नहीं, परन्तु सिर में तो ज्ञान है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सिर में ज्ञान है, हाँ... सिर, वह पुद्गल है, जड़ है, धूल है । धूल में ज्ञान कहाँ से आया ? अभी तो बाद में बात । अभी तो आगे बाद में बात आयेगी । अभी तो सिर को जाननेवाले को ज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं । सिर में तो ज्ञान नहीं परन्तु सिर को जाननेवाले को भी ज्ञान नहीं । सिर है, यह शरीर है, शरीर में तो सुख नहीं और ज्ञान नहीं, परन्तु शरीर को जाननेवाला जो आत्मा है, जाननेवाला, यह शरीर है-ऐसा जानता है, वह ज्ञान नहीं है और उसे सुख नहीं है । समझ में आया ?

यहाँ तो अभी पुद्गल जो अजीव है । कहो, मैसूरपाक, दाल, भात, लड्डू, जेवरात जड़, उन चीजों में ज्ञान नहीं है । वे तो जड़ हैं । तथा उनमें सुख नहीं है । वे तो जड़ हैं । एक बात । जगत में एक धर्मास्तिकाय है । अरूपी पदार्थ चौदह ब्रह्माण्ड में भगवान केवली ने देखा हुआ । धर्मास्तिकाय नामक ( पदार्थ है ) । वह धर्मास्ति अजीव है । उस अजीव में ज्ञान नहीं, उस अजीव में सुख नहीं । अधर्म नाम का एक पदार्थ चौदह राजुलोक में । अधर्मास्तिकाय । यह अधर्मास्तिकाय है अजीव, अरूपी, उसमें ज्ञान नहीं, उसमें सुख नहीं । आकाश सर्व व्यापक

आकाश नामक पदार्थ है, उसमें ज्ञान नहीं, उसमें सुख नहीं। काल, काल जो है, असंख्य कालाणु हैं। भगवान परमात्मा ने देखे हुए चौदह राजुलोक में एक-एक आकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु हैं। उस काल को ज्ञान नहीं और काल में सुख नहीं।

**और संसार जीव के...** लो। यह आया। निगोद से लेकर संसारी जीव। उन्हें ज्ञान भी नहीं और उन्हें सुख भी नहीं। सेठ! संसारी जीव जो है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, उस जीव को ज्ञान भी नहीं और उसे सुख भी नहीं।

**श्रोता :** वह सब पुद्गल में...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह सब ज्ञान और सुखरहित खाली है। आहाहा! कहो, समझ में आया ?

पाँच अजीव और एक संसारी (जीव), निगोद के जीव से लेकर नौवें ग्रैवेयक के जीव-यहाँ संसारी मिथ्यादृष्टि लेना। समझ में आया ? वह चाहे तो नौवें ग्रैवेयक में हो और चाहे तो बड़ा चक्रवर्ती राजारूप से हो, परन्तु जहाँ दृष्टि मिथ्यात्व है, उस जीव को ग्यारह अंग का ज्ञान हो, नौ पूर्व का ज्ञान हो, तो उसे ज्ञान नहीं है। संसारी जीव मिथ्यादृष्टि, जिसे ग्यारह अंग और नौ पूर्व का जानपना हो या निगोद के अक्षर के अनन्तवें भाग का उघाड़ का ज्ञान हो, तो कहते हैं कि संसारी जीव को ज्ञान है ही नहीं और उसे सुख नहीं है। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक...

**श्रोता :** ऐसी स्पष्टता कहीं हिन्दी में हो ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसमें जरा अटकना पड़े न, यह तो चलता जाए ऐसा का ऐसा सीधा। यह सब सेठिया आये बाद में। यही मिले। बीस दिन हिन्दुस्तान की (हिन्दी) बात रखी थी। जिसे आना हो, उसे हिन्दुस्तान में बीस में आना। ऐ... सेठी! सेठी तो अब यहाँ के हो गये। गुजराती हो गये। कहो, समझ में आया ? क्या कहा ?

अनन्त निगोद के जीव संसारी अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें ज्ञान नहीं और सुख नहीं। द्रव्य-गुण में ज्ञान है, वह नहीं; पर्याय में उन्हें ज्ञान नहीं और सुख भी नहीं; और नौवें ग्रैवेयक जानेवाला दिगम्बर मुनि, जो अट्टाईस मूलगुण पालन करे, ग्यारह अंग का ज्ञान हो, नौ पूर्व की लब्धि प्रगट हुई हो और किसी को विभंग भी प्रगट हुआ हो। निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय जीव को (किसी को) विभंग प्रगट हुआ हो, जिसे सात द्वीप समुद्र जानने की शक्ति प्रगट हुई हो, ऐसे संसारी जीव को ज्ञान भी नहीं, सुख भी नहीं। यह सुख नहीं। मूल पहले ज्ञान और सुख नहीं, ऐसा लेना है। कहो, समझ में आया ? सुख नहीं और ज्ञान भी नहीं। मूल आनन्द कहाँ

है वहाँ। कहो, भगवानजीभाई! परन्तु खोटा है ही नहीं, यहाँ तो कहते हैं। संसारी प्राणी और अजीव पाँच द्रव्य। संसारी प्राणी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जैन दिगम्बर साधु हो, अट्टाईस मूलगुण पालता हो, ग्यारह अंग की खिलावट हो गयी हो... समझ में आया? और किसी को विभंग अज्ञान भी प्रगट हुआ हो, तथापि उस जीव को सुख नहीं, वह सुखी नहीं है। उसे सुख नहीं, उसे ज्ञान नहीं, वह ज्ञानी नहीं।

**श्रोता :** जिस देह में जाए, वहाँ सुख नहीं...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, यही कहते हैं। यहाँ भी। यह कहा न। नौवें ग्रैवेयक कहा न! नौवें ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देव स्वतन्त्र ऐसे हैं। उस जीव को भी ज्ञान नहीं और सुख नहीं। जिसे विभंग तीन ज्ञान वहाँ है। मति, श्रुत, और विभंग। तीन ज्ञान नौवें ग्रैवेयक में है। मिथ्यादृष्टि साधु हुए उन्हें। परन्तु कहते हैं कि वह संसारी जीव है, उसे सुख नहीं और उसे ज्ञान भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

दूसरी बात। यह तो ठीक कि अजीव पदार्थ को अर्थात् पाँच को और संसारी जीव को अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव को सुख नहीं और ज्ञान नहीं। एक बात। दूसरी बात—**उनका स्वरूप जानने पर जाननहारे जीव को भी सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं,...** पुद्गल परमाणु, यह शरीर, सिर... ऐ.. सेठी! सिर में सुख नहीं, ज्ञान नहीं परन्तु इस सिर को जाननेवाला आत्मा, यह सिर जो ऐसा जो आत्मा जानता है, उसे भी ज्ञान नहीं और सुख नहीं। आत्मा के ज्ञान बिना ज्ञान नहीं और आत्मा के सुख बिना सुख नहीं। **पर का जानपना, वह ज्ञान ही नहीं है...** ऐसा यहाँ तो कहते हैं। यह सब तुम्हारा जज का ज्ञान झ्रया होगा? कैसा होगा? वहाँ अहमदाबाद में बड़े जज हैं। ग्यारह मजिस्ट्रेट के मजिस्ट्रेट बड़े। यहाँ इनकार करते हैं। वह ज्ञान नहीं है, वह सुख नहीं है। आहाहा! और ऐसे जीव को जाननेवाले को भी ज्ञान भी नहीं और सुख नहीं।

**श्रोता :** उसमें भी कानून के जाननेवाले को सुख नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इसमें बाकी क्या रहा? यह संसारी जीव कानून का बड़ा जाननेवाला... ऐसे रामजीभाई कोर्ट में ( बोले ), ऐसा है, वैसा है।

**श्रोता :** उसे सुख नहीं, ऐसा मानना?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसे ज्ञान नहीं और सुख भी नहीं। ऐसे जीव को जाननेवाले को भी ज्ञान नहीं और सुख नहीं। कहो, समझ में आया? भगवानजीभाई! भारी बात की यह।



हाँ, यह है। अनुभूति का ज्ञान, वह ज्ञान और अनुभूति में आनन्द, वह आनन्द। यह स्व की अनुभूति का ज्ञान, वह ज्ञान और स्व का सुख, वह सुख। बाकी पर को जानने से और पर में सुख है (ऐसा नहीं)। और पर में ज्ञान नहीं, तथा पर को जाननेवाले को भी ज्ञान और सुख नहीं। अनन्त निगोद के जीव हैं, ऐसा ज्ञान किया, कहते हैं कि वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस पैसे में ज्ञान, सुख नहीं है परन्तु पैसे को ज्ञान ने जाना। यहाँ ज्ञान आया न कि यह पैसा है। वह ज्ञान नहीं और वह सुख नहीं। पैसे में सुख और ज्ञान नहीं है परन्तु पैसे को जाननेवाला आत्मा या यह पैसा है, ऐसा जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। वह अज्ञान है, दुःख है। ज्ञान नहीं और सुख नहीं।

**श्रोता :** सबको भूल जा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** है ही नहीं। यहाँ तो आत्मा का अनुभव, आत्मा के आनन्दस्वरूप की अनुभूति, वह ज्ञान और उसमें आनन्द, वह सुख। बाकी पर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं और पर को जाना ज्ञान, वह ज्ञानी नहीं, वह सुखी नहीं। आहाहा! भारी बात, भाई! आहाहा!

खींचकर होता है न! खींचकर अर्थात् जैसा है, उसमें वैसा। भैंस के स्तन में दूध होता है न? दुहे, वह चतुर महिला ऐसे अँगूठा लगाकर वहाँ बीच में डाले, ऐसे खींचे। इसी प्रकार टीका करते हैं। राजमलजी ने टीका की है। खींचकर दूध निकाला है, अन्दर है, वह (निकाला है)। आहाहा! क्या कहते हैं?

भगवान! कहते हैं कि शुद्ध आत्मा अपना, उसका जो ज्ञान, उसे ज्ञान कहते हैं और भगवान आत्मा के ज्ञान में आनन्द आया, उसे सुख कहते हैं। बाकी जगत के आत्माएँ... यहाँ तो सुखी जीव है और ज्ञानी है, उसे जाननेवाले को ज्ञान, सुख है। क्योंकि उसे जाननेवाले का अर्थ कि अपने को जाना। ऐसा उसका अर्थ है। जो ज्ञानी है और सुखी है, वह तो ज्ञान और सुख है। परन्तु उसके जाननेवाले को ज्ञान और सुख है। अर्थात्? कि यह सुख है, ऐसा मैं हूँ—ऐसा जो अपने को जाने, उसे ज्ञान और सुख है। आहाहा! यहाँ तो ऐसी बात ली है। समझ में आया?

**उनका स्वरूप जानने पर...** किसका स्वरूप? देखो! स्वरूप जैसा है, वैसा, हों! वापस। कि यह पुद्गल है, यह पैसा है, यह लड्डू है, यह शरीर है, यह वाणी है... समझ में आया? आठ कर्म है, लो। इन आठ कर्म की प्रकृति का अभी बड़ा चलता है न? कि आठ कर्म इतनी सत्ता में, और ऐसे उदय में होते हैं और ऐसे संक्रमित होते हैं और ऐसे... होते हैं, अन्त

में उत्कर्ष होता है और अपकर्ष होता है। यह कर्म का जानना, यह कर्म के जड़ में, कर्म के आठ प्रकार के जड़ में ज्ञान भी नहीं और सुख भी नहीं। इस कर्म को जाननेवाले को ज्ञान और सुख नहीं। क्या बराबर ? यह तुम्हारे अभी चलता है न ? कर्मप्रकृति का जाननेवाला... एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित की, अहमदाबाद में। सुखी महाज्ञानी... आहाहा! कर्मप्रकृति का कुछ प्रकाशित किया है।

यहाँ तो कहते हैं, ओहोहो! कर्म का उदय तो जड़ है, उस जड़ में ज्ञान में नहीं, उसमें सुख नहीं। उस जड़ का जाननेवाला जो आत्मा, वह जड़ है, ऐसा जाननेवाला —उसे भी ज्ञान और सुख नहीं। समझ में आया ? आहाहा! राजमलजी ने कैसी राजटीका की है न! शोभित टीका! ऐ... राजमलजी! लो, राज आया। राज्यते शोभते इति राज। ...शोभा नहीं, यह शोभा। वाह! ...निकाली है न। बात इतनी स्पष्ट खुले रूप से रखी है। जब तक स्व का ज्ञान न आवे, वह ज्ञान नहीं कहलाता। पर का ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं। वह तो परप्रकाशक ज्ञान एकान्त ज्ञान, वह अज्ञान है। समझ में आया ? कहो, नेमिदासभाई! क्या है यह ? इस कंचन और पैसे में सुख नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे ज्ञान नहीं और उसमें सुख नहीं तथा उसे जाननेवाला यहाँ ज्ञान हो, जाने, वह ज्ञान नहीं और वह सुख नहीं। पहला सुख से लिया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, जिसमें अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो, उसे ज्ञान कहते हैं, बाकी ज्ञान नहीं है। आहाहा! ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान अनन्त बार पढ़ा, पढ़ा नौ पूर्व, ग्यारह अंग। कहते हैं कि वह ज्ञान नहीं और सुख भी नहीं। वाह... रे... वाह...! वीतराग के मार्ग की रीति! उसकी... उपदेश की पद्धति भी कैसी! वीतरागी ज्ञान, वह ज्ञान और वीतरागी सुख, वह सुख। समझ में आया ? बाहर का जानपना वकालात का या जज का या कारीगर बहुत होशियार होता है न ?

**श्रोता : एक्सपर्ट...**

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक्सपर्ट—कुशल। बहुत कारीगर होते हैं। यह घड़ी के, लो न। बड़े-बड़े... मानो... ओहोहो! बातें करने बैठे... मानो... आहाहा! ऐसा पार्ट होता है और इसका ऐसा होता है और ऐसा होवे न तुम्हारे मोटर का, लो न। ऐई! कहते हैं, उस मोटर के पार्ट में ज्ञान और सुख नहीं है परन्तु मोटर के पार्ट को जाननेवाले को सुख और ज्ञान नहीं है। आहाहा!

अरे! शास्त्र के पन्ने हैं, उनमें सुख और ज्ञान नहीं है। आहाहा! भारी बात, गजब बात करते हैं! लिखे हुए पृष्ठ हैं न ? उनमें सुख नहीं और ज्ञान नहीं। तथा उन्हें जाननेवाला उस ओर

का ज्ञान, उसे भी ज्ञान और सुख नहीं। आहाहा! पहले श्लोक का भी मांगलिक गजब है! गजब है!! अमृतचन्द्राचार्य अलौकिक...! राजमलजी ने वापस अन्दर से निकाला। बात तो यथार्थ... यथार्थ... यथार्थ। समझ में आया?

भगवान आत्मा वह पर के - शास्त्र के पृष्ठ जाने कि इसमें ऐसा लिखा है, इसमें ऐसा कहा है, ऐसा कहा है... उस सब शास्त्र को सुख और ज्ञान नहीं है। यह तो अपने आ गया है न? (गाथा ३९०)। 'सत्थं ण याणदे किंचि' यह सब पीछे आता है। पन्द्रह गाथायें, एक साथ पन्द्रह (गाथायें ३९० से ४०४ हैं)। शास्त्र कुछ नहीं जानता, किंचित् नहीं जानता। शास्त्र को ज्ञान नहीं है और शास्त्र में सुख नहीं है। यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! इस शास्त्र को जाननेवाला यहाँ परलक्ष्यी ज्ञान खिले न, वह ज्ञान कहलाता नहीं तथा उसे हम सुख कहते नहीं। जिसमें सुखवाला ज्ञान आवे, उसे ज्ञान और सुख कहते हैं। इस पर के लक्ष्य में तो दुःख और अज्ञान है, इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहते। भारी बातें, भाई! समझ में आया? ऐई! क्या यह सब रुपये-बुपये... कामदार! उसमें विवाह हो और उसमें लाख-दो लाख खर्चनेवाले हों और कुटुम्ब कबीला इकट्ठा हुआ हो, उसमें दो-पाँच करोड़ की पूँजी हो और फिर बैठा हो पाटिये पर और सब ऐसे सामने देखते हों... आहाहा! अपने... है न। सब नीची नजर से देखें, अपने परिवार में एक... ऐ सेठ! कहते हैं कि वह स्वयं दुःखी है और अज्ञानी है। उसके जाननेवाले को भी अज्ञान और दुःख है। उसके जाननेवाले को ज्ञान और सुख है नहीं। आहाहा! कहो, यह सब तुम्हारे क्या कहते हैं बहियों का? रजिस्टर। रजिस्टर करे, वह ज्ञान नहीं और सुख भी नहीं। आहाहा! न्याल हो जाए दुःख में। आहाहा!

उस पुद्गल के स्वरूप का जानना, कर्म का जानना और शास्त्र के पृष्ठ का जानना, उस कर्म और शास्त्र में सुख तथा ज्ञान नहीं है। उस ओर उसकी ओर का ज्ञान खिले, वह ज्ञान और सुख खिलने का ज्ञान नहीं। आहाहा! तब इसमें क्या कहते हैं? दूसरी फिल्म लेनी है इसके लिये... दूसरा करने का है। एक तो है और दूसरे चार लाख दिये। ...

यहाँ तो कहते हैं... आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु आनन्दकन्द का ज्ञान, उसे ज्ञान कहते हैं और उसे सुख कहते हैं। बाकी जगत के पदार्थ संसारी को ज्ञान, सुख नहीं और उसके जाननेवाले जीव को ज्ञान और सुख नहीं। कहो, समझ में आया? भारी टीका, भाई! भाई! तू प्रभु है न! नाथ! तुझमें आनन्द है न! उस आनन्द का ज्ञान करके सुख हो, वह ज्ञान और आनन्द कहा जाता है, भाई! आहाहा!

**श्रोता :** ऐसा ज्ञान बिना निमित्त के होगा ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बिना निमित्त के, पर की अपेक्षा बिना निरपेक्ष से होता है। यह आगे आयेगा। द्रव्यान्तर का सहारा नहीं है, ऐसा आगे बहुत जगह आयेगा। समझ में आया ? अच्छी टीका, बहुत सरस की है, कलश-टीका !

आत्मा के अतिरिक्त पाँच अजीव पदार्थ हैं। परमाणु से लेकर जेवर, लड्डू, दाल, भात, सब्जी, मैसूरपाक, उसका घी... उस घी में सुख नहीं है, उसमें ज्ञान नहीं है। उसके जाननेवाले को सुख नहीं और ज्ञान नहीं। उसके जाननेवाले को दुःख और अज्ञान है। समझ में आया ? बहुत बुद्धिवाला कहलाये न ? ऐसे अन्दर... ओहोहो ! बुद्धि का प्याला फट गया है। ऐसी पुस्तक लिखे, पुस्तक की पूरी अलमारी शिवलालभाई पढ़ते थे। शिवलाल पानाचन्द। पहले... हमारे वहाँ (संवत्) १९७७ में आया। १९७७। बुद्धि बहुत। २०० पुस्तकों की अलमारी। उसे पढ़ना हो, वह उसे याद होता है। इस जगह यह है और यह है। धूल ? प्रश्न किया। व्याख्यान पूरा हुआ और आये। उनके अमीचन्दभाई हैं न ? मूलचन्दभाई ! अमीचन्द के पिता। नागरभाई... नागरभाई। नागरभाई अमीचन्दभाई के पिता। नागरभाई और वे दो आये। (संवत्) १९७७ के वर्ष की बात है। बड़ा कलेक्टर। साढ़े तीन हजार का मासिक वेतन। जयपुर का। बहुत बुद्धि, बहुत। मैंने इतना पूछा, 'तब बहुत छोटी उम्र थी। भाई ! तुम आत्मा... आत्मा क्या कुछ पढ़ा है ? पढ़ा है, परन्तु सब पूछते भी हैं। परन्तु आत्मा है या नहीं, इसका मैंने निर्णय नहीं किया।' व्याख्यान में देरी से आये होंगे। नहीं तो आवे। व्याख्यान में आवे। ऐसे नरम व्यक्ति थे। ...परन्तु यह वस्तु ही नहीं। तो क्या करे बेचारा ? ...वे आये। तुमने आत्मा सम्बन्धी कुछ पढ़ा है ? आत्मा क्या है ? कहे, पढ़ा है और कोई पूछते भी हैं बहुत। परन्तु अभी मैंने निर्णय नहीं किया कि आत्मा है या नहीं ? लो, यह पढ़-पढ़कर पढ़े। क्या कहे ? हमारे पास चले क्या उसे ? कलेक्टर हो तो वहाँ रहा। शुरुआत में ७०० का वेतन, उस दिन, हों ! १९७७ से पहले। ७०० का मासिक वेतन। (संवत्) १९७७ के वर्ष से पहले। फिर तो आगे बढ़ गया। छोटी उम्र, ४८ वर्ष की उम्र। ... यहाँ से संकोचने लगा। ... देह छूट गयी। ४८ वर्ष की उम्र में। पुण्य थोड़ा लेकर आये हुए, उघाड़ लेकर आये थे। बापू ! ज्ञान और सुख है, ऐसा है नहीं।

**श्रोता :** आत्मा का निर्णय नहीं किया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी आत्मा है या नहीं, इसका निर्णय नहीं किया। २०० पुस्तकें। अलमारी पूरी, हों ! पूरी अलमारी पढ़ जाए। इस पुस्तक में यह है... उनका पुत्र या कोई था...

वढवाण में था। उसका भाई... छोटी उम्र से पहिचानते हैं न। आहाहा! छोटी उम्र में रोग ऐसा हुआ... समाप्त। ... जाओ... मुकाम करो... आहाहा!

जिसने भगवान आत्मा का ज्ञान नहीं किया, जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया और आत्मा के आनन्द का स्वाद जिसने नहीं लिया, उसे ज्ञान और सुख नहीं कहते। आहाहा! कहो, समझ में आया? क्या अपने व्याख्या (चलती है)? उसे तो भले नहीं, कहते हैं, 'उनका स्वरूप जाननेवाले में। मिथ्यादृष्टि साधु है, उसे नौ पूर्व का ज्ञान विकसित हुआ है। उसे ज्ञान और सुख, सुख और ज्ञान नहीं परन्तु उसके स्वरूप को जाननेवाले को ज्ञान, सुख नहीं। भाई! आहाहा! मिथ्यादृष्टि दिगम्बर साधु महा नवपूर्व की लब्धि प्रगट हुई हो, ग्यारह अंग का ज्ञान हो, अट्टाईस मूलगुण पालन करता हो, हजारों रानियों का त्याग हो, ग्यारह अंग खुले हों, तथापि कहते हैं कि वह सुख भी नहीं, वह ज्ञान नहीं। यह तो ठीक, उसे जाननेवाला दूसरा है कि यह जीव ऐसा है, उस जाननेवाले को सुख और ज्ञान नहीं। समझ में आया?

जिसमें भगवान स्वयं मिले नहीं, उसे ज्ञान और सुख नहीं कहते। ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुःखिया रे... ना आवे अकुलता का रे अन्त, मूरख में वे मुखिया रे... एक सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुःखिया रे...' आत्मा के स्वरूप के आनन्द की दशा प्रगट हुई है, और उसका जो ज्ञान है, वह जगत में सुखी है। 'दुरिजन दुःखिया रे...' मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व के पढ़नेवाले भी दुःखिया हैं। 'ना आवे आकुलता का रे अन्त, वे मूरख में मुखिया रे..' इस सब गड़बड़ को मूर्ख में रखा है। बराबर है? आकुलता है, वह दुःख है। आहाहा!

आता है, 'नवी सुही देवता देव... रे... नवी सुही पुद्गली... नवी सुही सेठ सेनापति... अदन्त सुखी मुनि वीतरागी...' सेठ सुखी नहीं, सेनापति सुखी नहीं, पृथ्वी का राजा सुखी नहीं, देव सुखी नहीं। एक सुखी भगवान आत्मा आनन्द का भान होकर जो आनन्द प्रगट हुआ है, जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है, उसे सुख और ज्ञान कहते हैं। बाकी किसी को ज्ञान और सुख नहीं कहते। आहाहा! यह वीतराग मार्ग है। वीतराग मार्ग में कीमत किसकी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वीतरागी आत्मा परमात्मा अपना, उसका जिसे अन्तर में ज्ञान और सुख हुआ, उसकी वीतरागमार्ग में कीमत है, बाकी कीमत है नहीं। आहाहा! ऐ... जेठालालभाई! गजब! यह कलश टीका बाहर आ गयी है। .....

**उनका स्वरूप जाननेपर जाननहारे जीव को भी... जीव को भी। उसे तो नहीं**

परन्तु उसको जाननेवाले जीव को भी सुख और ज्ञान नहीं है। परवस्तु को जानना, वह सुख और ज्ञान क्या कहलाता है? आहाहा! देखो! यह दिगम्बर सन्तों के भणकार तो देखो! समझ में आया? दिगम्बर मुनियों के उपदेश की—कथनी की पद्धति तो देखो! सनातन वीतराग मार्ग, जिन्हें चारित्रसहित प्रगट हुआ है, उनकी जगत को पुकार है। भाई! अचेतन पाँच पदार्थ और संसारी प्राणी, उन्हें सुख और ज्ञान नहीं है। उनके जाननेवाले को परलक्ष्यी ज्ञान है, इसलिए उसे सुख और ज्ञान नहीं है, वह आकुलता और अज्ञान है। समझ में आया?

इसलिए इनके सारपना घटता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आठ वर्ष की कन्या हो और अनुभूति के आनन्द का स्वाद लेती हो, कहते हैं कि वह सुखी और ज्ञानी है। ऐ... सेठ! और करोड़ पूर्व के आयुष्यवाला और चमत्कारी चक्रवर्ती (होवे), समझ में आया? परन्तु यदि मिथ्यादृष्टि है और ग्यारह अंग आदि का उघाड़ हुआ हो, वह सुखी नहीं तथा वह ज्ञानी नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसे सारपना घटित नहीं होता। घटित नहीं होता अर्थात्? घटित नहीं होता अर्थात्? कोई पूछता था, घटता नहीं अर्थात् क्या? घटित होता है? ऐसा किसी ने पूछा था। घटित होता है, ऐसा आया था न? घटित। लागू नहीं पड़ता। घटित अर्थात् कोई घटना है? यह यहाँ नहीं। उसे समुचित नहीं है। सारपना मिलना नहीं खाता। है ही नहीं उसे। आहाहा!

शुद्ध जीव के सुख है, ज्ञान भी है,... अब आया। एक सार आया। भगवान आत्मा सिद्ध और सम्यग्दृष्टि, वह शुद्ध है, उसे सुख और ज्ञान है। आहाहा! वह पंच महाव्रत के पालनेवाले मिथ्यादृष्टि को ज्ञान और सुख, सुख और ज्ञान नहीं है। आहाहा! अरे! पंच महाव्रत के विकल्प को जाननेवाला, उसे सुख और ज्ञान नहीं है। भारी बातें, भाई! आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, पंच महाव्रत कुन्दकुन्दाचार्य ने पालन किये। ऐसा आचरण किया। अरे! भगवान! तू भूला है, भाई! वह पालन नहीं किये, बापू! अन्दर आये थे। परन्तु वह सुखरूप है, भाई! तुझे खबर नहीं। समझ में आया? अन्तर में आत्मा का जो ज्ञान अनुभूति से प्रगट किया, उसे सुखी और ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया? इसलिए भगवान आत्मा शुद्ध प्रभु, बस! उसका अनुभव करना और उसका आनन्द लेना, वह सार में सार है।

शुद्ध जीव के सुख है, ज्ञान भी है, उसको जानने पर... देखो! अब आया। उसे जानने से तो ऐसा लो कि सर्वज्ञ और अनुभूतिवाले हैं, उन्हें जानने पर। अब फिर आया, जाननेवाले का अर्थ अनुभव करते हुए। अनुभव करते का अर्थ ही इस आत्मा को जानते हुए।

उसमें जानते हुए तक तो आया। परन्तु जानते हुए अर्थात् ही अनुभव करते हुए। जानते हुए अर्थात् ही अनुभवते हुए। उसको सुख है, उसे अनुभवते हुए अर्थात् उसका अनुभव यहाँ कहाँ होता है? परन्तु जो शुद्ध परमात्मा और शुद्ध अनुभूति सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आदि, उसे जानते हुए अर्थात् अनुभवते हुए अर्थात् कि यह भगवान् आत्मा, शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से सुख और ज्ञान है, बाकी सुख और ज्ञान नहीं है। यह बात बहुत अलौकिक है। आ गये, बराबर टाइम में आ गये हैं, इन गाथाओं में बराबर आ गये हैं। डाह्याभाई तो डाह्याभाई हैं। कहो, समझ में आया?

शुद्ध जीव के सुख है, ज्ञान भी है, उसको जानने पर-अनुभवने पर जाननेहारे को सुख है, ज्ञान भी है, ... वाह! जिसने अन्तर्मुख में भगवान् को जाना, वह सुखी और ज्ञानी है, बाकी सब दुःखी हैं, ऐसा कहते हैं। ऐ.. सेठ! यह क्या सब तुम्हारे पैसेवाले और बुन्देलखण्ड के राजा दुःखी हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! अरे! द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु, उसे जाननेवाला, वह ऐसा है—ऐसा जिसने ज्ञान किया, उसे भी ज्ञान और सुख नहीं है। आहाहा! यह तो कोई बात! समझ में आया? भगवान् जिसमें मिले, उसे सुख और ज्ञान है। भगवान् आत्मा, सच्चिदानन्द मूर्ति का अनुभव होने पर जो सुख (होता है, वह सुख है)। उसे जानने पर... वह तो ऐसा कहते हैं, तुम तो यह व्यवहार की बात हो, वहाँ भी निश्चय निकालते हो। वह कहता था। कलोल में। भाई थे या नहीं? भाई थे न! बाबूभाई थे। यहाँ तो तुम खींचकर (निकालते हो)। बापू! ऐसा नहीं, भगवान्! सुन, भाई! वह नमः ... आता है न? भगवान् शुद्ध को नमस्कार। पर को नमस्कार। वन्दितु सिद्ध को भी पर को नमस्कार। अरे! सुन, भाई! वहाँ कहा था, नहीं? कलोल में। यह बात उन्हें मिली न हो, सुनने को मिली न हो, इसलिए ऐसे तर्क होते हैं। यह अज्ञान का दोष है, द्रव्य-गुण का दोष नहीं।

इसलिए शुद्ध जीव के सारपना घटता है। लो। इसलिए भगवान् आत्मा शुद्ध पर्यायरूप परिणमा है, ऐसे जीव को सुख और ज्ञान घटित होता है। बाकी दूसरे को सुख और ज्ञान घटित नहीं होता। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१५

श्री नाटक समयसार, स्याद्वाद छन्द - १९ से २२, प्रवचन - १५५  
दिनांक - ०७-०९-१९७१

स्याद्वाद अधिकार। सातवें पक्ष का स्पष्टीकरण और खण्डन। क्या अधिकार है ? छह बोल तो हो गये। आत्मा तत्स्वरूप से है और अतत् परस्वरूप से नहीं है। उसमें ज्ञान और ज्ञेय लेना, आत्मा पूरा नहीं लेना। पहले में ऐसा कहा कि... कहाँ गये तुम्हारे ? देरी क्यों लगी ? आते हैं ?

ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह स्वयं से है और ज्ञेय जो रागादि, शरीरादि वस्तु है, वह ज्ञेय है। वह ज्ञेय स्वभाव से ज्ञेय अस्ति है परन्तु ज्ञेयस्वभाव के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। समझ में आया ? भगवान चैतन्यस्वभाव, वह अपने ज्ञान में ज्ञेय का ज्ञान (होता है), वह अपना ज्ञान है। वह अपने ज्ञान से स्वयं अस्ति है। अस्ति अर्थात् है, परन्तु पर से है नहीं। वह तत् है और अतत् से नहीं। यह दो भंग हो गये।

आत्मा ज्ञानस्वभाव से पर्याय में अनेकपने का ज्ञान होने पर भी वस्तुरूप से एक है। ज्ञान में रागादि और शरीरादि अनेकपना ज्ञात होने पर भी, अनेकरूप से जानने पर भी वस्तुरूप से एक है। यह जैनदर्शन का स्याद्वाद। वस्तु का स्वरूप यह है। और एक होने पर भी पर्यायरूप से अनेक है। यह चौथा भंग है। समझ में आया ? यह चार हुए।

पाँचवें में स्वद्रव्य से अस्ति है। उसमें ज्ञान और ज्ञेय के अस्ति-नास्ति की बात थी। यह तो चीज भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप से स्वयं से अस्ति है और परद्रव्य से वह नास्ति है। आत्मा का अस्तित्व परद्रव्य के कारण अस्तिपना है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वह स्वद्रव्य से है और परद्रव्य से नहीं। ऐसे छह बोल हुए। अब सातवाँ।

आत्मा असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र। भारी सूक्ष्म, भाई ! अपने असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र से है परन्तु परक्षेत्र से वह नहीं है। अस्ति का ऐसा तो पहला भंग है। सातवें पक्ष का स्पष्टीकरण और खण्डन।

कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवांन,  
तेतौ ग्यान तातैं कहूं अधिक न और है।



तिहूँ काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै,  
 आपा न पिछानै ऐसी मिथ्याद्वग दौर है॥  
 जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान,  
 ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिरमौर है।  
 ग्यान की प्रभामैं प्रतिबिम्बित विविध ज्ञेय,  
 जदपि तथापि थिति न्यारी न्यारी ठौर है॥१९॥

क्या कहते हैं? 'कोऊ सठ' कोई मूर्ख ऐसा कहता है कि... जितना शरीर का आकार, मकान का आकार, परवस्तु का जो आकार है, उसी प्रमाण आत्मा का ज्ञान है। पर के आकार, पर के क्षेत्र से ज्ञान का क्षेत्र है। समझ में आया? परक्षेत्र, इसका ज्ञान परक्षेत्र को जाने। जानने से अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि परक्षेत्र का ज्ञान है, इसलिए मैं हूँ। मेरे स्वक्षेत्र में, ज्ञान में मैं हूँ—ऐसी उसकी श्रद्धा का भान नहीं है। मकान-बकान अच्छा होवे न, उस क्षेत्र के आकार ज्ञान हो तो लगता है कि... आहाहा! हम अपने माँ-बाप के, कुटुम्ब के क्षेत्र में मकान में हैं तो हमारे ठीक है, तो उसके कारण हम निभते हैं। समझ में आया? अपना ऐसा दस पीढ़ी का मकान बाप-दादा का, यह अपने जाए (तो) अपना जीवन अच्छा नहीं कहलाये।

यह दृष्टान्त हमारे उमराला का है। उमराला का दृष्टान्त है। साधारण ब्राह्मण हो गये। मकान बिक गया। मकान समझे? बिक गया। बाद में हो गये पैसेवाले। तो उसकी माँ कहे, अरे..! बेटा! यह अपना सात पीढ़ी का मकान.. ... वह मकान जब तक वापस न ले, तब तक मेरे जीव को कहीं ठीक नहीं पड़ता। कहाँ वह तेरा क्षेत्र है? वह तो परक्षेत्र है और ज्ञान में ज्ञात हुआ। एक बात वहाँ है, वह परक्षेत्र ज्ञान में ज्ञात होता है न? परक्षेत्र, इतनी जो पर्याय, वह स्वक्षेत्र से भिन्न है अथवा परक्षेत्र की पर्याय, उससे स्वक्षेत्र भिन्न है। उसमें है कहीं। कलश टीका में है। समझ में आया? क्षेत्र है न? क्या है वह? क्षेत्र का? कितना है वह? देखो! २५३ है। उसमें है। स्वद्रव्यमयी।

'परद्रव्येषु' ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय की आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान, ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, उसमें निर्विकल्प सत्तामात्र ज्ञानवस्तु होने की होती है भ्रान्ति... समझ में आया? परद्रव्य में होने की अज्ञानी को भ्रान्ति होती है। सब शैली ऐसी ली है। यह तो हो गया है।... है, वह सूक्ष्म बात है। जो यह ज्ञान है न? वह परक्षेत्र को जानने की जो पर्याय है, उतना मैं हूँ अर्थात् पर्याय जितना मैं हूँ। असंख्य प्रदेशी वस्तु भगवान असंख्य प्रदेश आत्मा है। असंख्य प्रदेश में ज्ञान पूरा व्यापक है। अब उसमें एक समय की अवस्था में यह जो परक्षेत्र

आकारवाला है, उसका पर्याय में जानना होता है। इसलिए उस परक्षेत्र का ज्ञान मानकर, उसे निकालना चाहता है। स्वक्षेत्र में रहने के लिये। इसलिए उस परक्षेत्र की पर्याय, ज्ञान की पर्याय, इसकी वास्तव में स्वक्षेत्र में तो नास्ति है। वजुभाई !

एक समय की जो ज्ञान की पर्याय, उसमें परक्षेत्र का ज्ञान हो, वह तो अपना ज्ञान है। तथापि वह परक्षेत्र का ज्ञान पर्याय में होता है, उसे वह अशुद्ध मानकर, परक्षेत्र से भिन्न मेरा स्वक्षेत्र है, ऐसा करके उस परक्षेत्र की पर्याय अज्ञानी नाश करना चाहता है। समझ में आया ? और स्वक्षेत्र अकेला, पर से भिन्न है, वह उसे मानता नहीं। स्वक्षेत्र में रहने के लिये, स्वक्षेत्र में रहने के लिये पर्याय में जो परक्षेत्र का ख्याल है, उसका अभाव करूँ तो स्वक्षेत्र में रहूँ। ऐसा नहीं है। पर्याय में परक्षेत्र का ज्ञान एक अंश में—क्षेत्र में होने पर भी, उसरूप त्रिकाल क्षेत्र नहीं है। समझ में आया ? भारी सूक्ष्म।

परक्षेत्र तो आत्मा में है ही नहीं। यह बड़े बगीचे और बाग होते हैं न ? इसलिए वहाँ इसे नजर स्थिर होती है। बड़े-बड़े बाग-बगीचे नहीं होते ? वह 'सुन्दर टोलिया' का है न ? वह अभी इन लोगों ने ले लिया है न, वहाँ दो बार गये थे न ? पहले गये थे वहाँ ... वहाँ बड़े-बड़े लम्बे वृक्ष नहीं ? बगीचा। उसमें से निकलना इसका ठीक नहीं पड़ता। क्योंकि परक्षेत्राकारवृत्ति हो गयी है न ! क्षेत्राकारवृत्ति है। परन्तु वह तो परक्षेत्राकारवृत्ति इतना आत्मा है ही नहीं। उस परक्षेत्ररूप तो नहीं परन्तु परक्षेत्र का एक समय की पर्याय में ज्ञान हो, उतना आत्मा नहीं है। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी... 'कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवानं' जितना परज्ञेय है अथवा परज्ञेय का यहाँ ज्ञान है, उतने प्रमाण 'तेतौ ग्यान तातैं कहूं अधिक न और है।' उतने प्रमाण आत्मा है। उससे अधिक और कम है नहीं। जैनदर्शन का सूक्ष्म विषय है। 'तिहूँ काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै' अज्ञानी अपने ज्ञान में परक्षेत्र सम्बन्धी अपना ज्ञान (होता है तो) परक्षेत्र में ही मानो स्वयं गया हो, ऐसा मानता है अथवा एक समय की पर्याय में पूरा गया हूँ, (ऐसा मानता है)। 'तिहूँ काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै'

'आपा न पिछानै ऐसी मिथ्याद्दग दौर है।' परन्तु भगवान आत्मा असंख्य प्रदेश, अनन्त गुण का चीर जिसमें भरा है, ऐसा असंख्य प्रदेशी वह स्वक्षेत्र है। गजब धर्म ! ऐसी बात ? इसकी अपेक्षा तो व्रत पालना और अपवास करना और भक्ति करना, यात्रा करना, हो गया धर्म। धूल भी धर्म नहीं, सुन न अब। वह तो सब विकल्प है, वह तो सब राग है। आहाहा !

उस राग का क्षेत्र वास्तव में भिन्न है। वह तो... उपयोग अधिकार। संवर (अधिकार में) आता है। भाई! राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, वह विकल्प है, उसका क्षेत्र अलग है। सेठ! कठिन काम, भाई! यह तुम्हारे बँगले का क्षेत्र तो अलग, परन्तु यह बँगला मेरा—ऐसा राग, उस राग का क्षेत्र अलग। आहाहा! एक समय की पर्यायबुद्धि है। परज्ञेयबुद्धि होने पर इसकी एक समय की पर्यायबुद्धि हो गयी। ‘आपा न पिछानै’ स्वयं भगवान असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ऐसे स्वक्षेत्र पर इसकी नजर नहीं जाती। क्योंकि वह सब क्षेत्र अव्यक्त है और एक समय की पर्याय में ज्ञेय की आकृति का ज्ञान, वह व्यक्त प्रगट है। इसलिए प्रगट पर्याय को वह मानता है। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है, ऐई! निरंजन! वहाँ अमेरिका में हैरान हुए, पाँच वर्ष हैरान हुए। रामजीभाई ने सुमनभाई का ऐसा किया था, हों! वह अमेरिका गया था न? हैरान करने जाए। क्या कहलाये दूसरा? कूचे मरने। कूचे मरने जाता है। आहाहा! भगवान का स्वक्षेत्र तो अपने में है। वह अमेरिका के क्षेत्र का ज्ञान में ख्याल आया, उस पर्याय में, उतनी पर्याय जितना आत्मा नहीं है। पर जितना तो नहीं, परक्षेत्र तो इसमें नहीं, परन्तु परसम्बन्धी की ज्ञान की एक समय की पर्याय आकृतिरूप परिणामी, उतना भी आत्मा नहीं। आहाहा! कहो, हीराभाई! ऐसी बात है। ‘आपा न पिछानै’ कहीं आया था न? भजन में आया था। आपा। शिखरचन्दजी, शिखरचन्दजी भजन करते थे न? ‘आपा न पिछानै’ वे मोटे शिखरचन्दजी नहीं आते?

**श्रोता :** आपा नहीं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह ‘आपा न पिछानै तो कैसा ज्ञानधारी?..

भगवान! तेरा क्षेत्र.. द्रव्य तो आ गया। तेरा क्षेत्र असंख्यप्रदेशी। वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र, उसमें जो द्रव्यरूप भाव, वह स्वक्षेत्र और पर्यायरूप का क्षेत्र, वह परक्षेत्र। ‘आपा न पिछानै ऐसी मिथ्याद्ग दौर है।’ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जैन में जन्मा होने पर भी, जैन सम्प्रदाय में रहा होने पर भी, उसे भान नहीं कि व्यवहार के दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का राग का क्षेत्र ही भिन्न है। उसमें स्व असंख्य प्रदेशी निर्मल क्षेत्र उसमें नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ‘मिथ्याद्ग दौर है।’ मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। इसमें है न? इस प्रकार वे सदैव ज्ञान को परक्षेत्र व्यापी और ज्ञेय के साथ तन्मय मानते हैं, इसलिए कहना चाहिए कि वे आत्मा का स्वरूप समझ नहीं सके हैं। ‘आपा न पिछानै’ सो मिथ्यात्व की ऐसी ही गति है। वास्तविक तो यह यहाँ सिद्ध करना है। वस्तु

द्रव्य क्षेत्र, अपना क्षेत्र असंख्यप्रदेशी एकरूप, उसकी दृष्टि नहीं और अकेली पर्याय में दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया ?

पर्याय है... पर्याय, पर्यायरूप से उस क्षेत्र में जाने, मेरा स्वभाव है, ऐसा जाने। परन्तु इससे मैं पररूप हो गया हूँ, ऐसा नहीं है। आकारवाली चीज़ होती है न? देखो न! त्रिकोणी, चौकोणी, गोल, लम्बगोल ऐसे अनेक प्रकार देखकर... वह आकार तो पर है, परन्तु उस आकार का यहाँ ज्ञान होता है स्वयं से, तथापि उतनी ही पर्यायरूप में ज्ञेयरूप हूँ, परक्षेत्ररूप हूँ और परक्षेत्र से अपनी पर्याय में होता स्वयं से ज्ञान एक समय की पर्याय उतना ही हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ?

‘जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान’ जीव तो अपने ज्ञान की सत्ता प्रमाण ही है। पर की सत्ता प्रमाण नहीं। आहाहा! ‘जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान’ जीव की सत्ता प्रमाण ज्ञान है। ‘ज्ञेयसौं अव्यापक’ वास्तव में परक्षेत्र से वह अव्यापक है। उसमें परक्षेत्र में उसने प्रवेश नहीं किया। यह तो ठीक, परन्तु उसकी जो एक समय की पर्याय है, परक्षेत्र को जानने की स्वतः (जो होती है), उसमें भी द्रव्य ने प्रवेश नहीं किया। हीरालालजी! लो, यह तुम्हारे छह लाख के मकान में प्रवेश नहीं किया, ऐसा कहते हैं। सेठ! और उस क्षेत्र का यहाँ ज्ञान होता है, वह ज्ञान की पर्याय भी परक्षेत्र के कारण (नहीं हुई है) और परक्षेत्र में नहीं गयी है तथा परक्षेत्र की जो ज्ञान पर्याय हुई, उतने में पूरा स्वक्षेत्र नहीं आता। आहाहा!

आत्मा स्वक्षेत्ररूप अस्तिरूप है। उसमें दो प्रकार। एक तो पर्याय में परक्षेत्र का ज्ञान होने पर भी परक्षेत्ररूप हुआ नहीं, स्वक्षेत्ररूप रहा है; और पर्याय में स्वक्षेत्र का जो ज्ञान स्वयं से हुआ, उसे भी परक्षेत्र गिनकर, उसमें स्वक्षेत्र आता नहीं। आहाहा! ‘ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिरमौर है।’ आहाहा! घट पट आदि ज्ञेय से तन्मय नहीं होता। वह तो ज्ञान आत्मसत्ता के बराबर है, ज्ञान जगत का चूड़ामणि है,... भगवान आत्मा चूड़ामणि मुकुट है। तीन काल, तीन लोक के पदार्थ के क्षेत्र को पर्याय में जानने पर भी पररूप हुआ नहीं और पर के क्षेत्र का ज्ञान एक समय में आया, उसरूप भी द्रव्य हुआ नहीं।

ज्ञान की प्रभा में यद्यपि अनेक ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं... इस ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयाकार क्षेत्र जो है, उसका प्रतिबिम्ब अर्थात् उसकी पर्याय में उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है। समझ में आया ? तथापि दोनों की सत्ताभूमि भिन्न-भिन्न है। परक्षेत्र भिन्न और भगवान आत्मा की पर्याय का क्षेत्र भिन्न है और द्रव्य का क्षेत्र भिन्न है। आहाहा! देखो, यह स्याद्वाद! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह सातवाँ भंग हुआ। आठवाँ।

आठवें पक्ष का स्पष्टीकरण और खण्डन। उसमें स्वक्षेत्र से है, इतना सिद्ध किया। अब इसमें परक्षेत्र हुई नहीं, यह भंग सिद्ध करते हैं। यह सामनेवाले ने परक्षेत्र से है, ऐसा सिद्ध किया, उसका खण्डन किया। अर्थात् स्वक्षेत्र में है, ऐसा सिद्ध किया। अब इसमें अज्ञानी कहता है कि परक्षेत्र से है। तब ज्ञानी कहते हैं, परक्षेत्र से नहीं। यह नास्तिभंग सिद्ध करना है, परन्तु सामनेवाले का तर्क लेकर। ऐसी धर्म की बातें। अब इसमें कहाँ... ऐ... मूलचन्दभाई!

श्रोता : मस्तिष्क को फैलाना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : मस्तिष्क को अन्दर फैलाना पड़े।

चैतन्यसत्ता की अस्तित्व की स्थिति कितने क्षेत्र में है ? वह परक्षेत्र में नहीं और परक्षेत्र से नहीं। 'कोऊ सुनवादी कहै ज्ञेय के विनास होत' कहते हैं कि जो आकार क्षेत्र है न ? उस क्षेत्र के बदलने से उस क्षेत्र सम्बन्धी का जो यह ज्ञान है, वह भी नाश हो जाता है। इसलिए परक्षेत्र के कारण यहाँ ज्ञेयाकार का ज्ञान था। स्थूल बुद्धि हो... ऐसा धर्म... ऐ... जुगराजजी ! कैसा मार्ग है यह ? इसमें तो कुछ सुना न हो, उसे तो ऐसा (लगे कि) यह क्या कहते हैं ? आहाहा !

कोई शून्यवादी कहता है, मैं परक्षेत्र से हूँ, ऐसा माननेवाला शून्यवादी है। समझ में आया ? 'कोऊ सुनवादी कहै ज्ञेय के विनास होत' आकार ज्ञान में दिखते हैं, वे आकार जहाँ पलटते हैं, उन आकार सम्बन्धी का अपना ज्ञान भी उस समय पलट जाता है। अर्थात् ज्ञेय परक्षेत्र के आकार हुआ ज्ञान, परक्षेत्र के कारण था, ऐसा वह कहता है। ऐसा नहीं है। वे कहे, सार... सार... दया पालना, वह धर्म है न ! अरे ! सुन न अब ! तेरी दया किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। पर की दया पालने का भाव तो शुभराग है। समझ में आया ? वह कहीं धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा !

यहाँ तो भगवान आत्मा अखण्डानन्द कन्द जो स्वक्षेत्र में है, उसकी दया पालना अर्थात् जैसा है, वैसा मानना। समझ में आया ? परन्तु है, वैसा न मानकर, परक्षेत्र के कारण हूँ, ऐसा माननेवाले, वे अपने स्वक्षेत्र की अस्ति का नाश करते हैं, वे हिंसा करते हैं। अमरचन्दभाई ! जो स्वयं भगवान आत्मा असंख्य प्रदेश के स्वक्षेत्र में है, ऐसा न मानकर परक्षेत्र के कारण मैं हूँ, (वह) शून्यवादी है, कहते हैं। नास्तिक है। आहाहा ! समझ में आया ? 'ग्यान को विनास होइ कहौ कैसे जीजिये।' जो परक्षेत्र है, उस आकार ज्ञान अपनी पर्याय में परिणमता है। जहाँ वह क्षेत्र बदला तो यह भी बदल जाता है। इसलिए उसमें मेरा जीवत्व रहना किस प्रकार ? पर

के कारण जीवत्व है, मेरे कारण से नहीं। कहो, इसमें पर को जिला सकता है? जीवो और जीने दो। आता है न? महावीर का सन्देश—जीवो और जीने दो। भगवान का यह सन्देश है ही नहीं। जहाँ-तहाँ की विपरीतता करते हैं। अधिक लोग इकट्ठे होकर बोले, महावीर का सन्देश—जीवो और जीने दो। जीवो अर्थात् आत्मा को शरीर के आयुष्य से जिलाया जा सकता है? यह जिलाया जा सकता है।

परक्षेत्र से नहीं और स्वक्षेत्र से हूँ, ऐसा जो स्वक्षेत्र का जीवन, उससे जी सकता है। यह 'जीजिये' कहा न? 'कैसे जीजिये' कैसे जीवत्व रखना, ऐसा है न? 'जीजिये' है न अर्थ में? है। जीना का अर्थ यह किया है न? किस प्रकार जीवन रह सकता है? ऐसी दशा में किस प्रकार जीवन रह सकता है? बहुत सूक्ष्म बात है। कहते हैं, भगवान आत्मा का अस्तित्व असंख्य प्रदेश की स्वसत्ता में है और उसे ऐसा न मानकर परक्षेत्र की अस्ति के कारण मेरी अस्ति है, तो परक्षेत्र जहाँ बदले, वहाँ मैं भी बदल जाऊँ, अब मुझे जीना किस प्रकार? आहाहा! इसलिए परक्षेत्र से भिन्न पड़कर, पर्याय से भिन्न पड़कर, पर्याय का क्षेत्र निकाल डालूँ। पर्याय का क्षेत्र निकाल डालने से पर्याय चली जाएगी। समझ में आया?

ऐसे बोल लोगों को बैठते नहीं और महिलाएँ, आदमी बेचारे गाड़ियाँ हाँक रखते हैं।—सामायिक करो, और प्रौषध करो और... यह '...'! फिर यह सब चढ़ा दे। प्रौषध और प्रतिक्रमण... एक बार कहता था, वह 'चूड़ा' का था न? भाई! कौन? पण्डित कौन? दूसरा एक कोई नहीं था? होशियार था। चूड़ा वाला नहीं दूसरा एक? जानपनेवाला है। रतिलाल मास्टर। (संवत्) १९९९ में सुना। कहे, महाराज का सुनकर माने तो उपाश्रय बन्द करना पड़े। तब पहले (संवत्) १९९९ में आता था। अपने वहाँ दरबार गढ़ में उतरे थे न? तब आता था। यह बात कहाँ बेचारे ने सुनी नहीं हो जिन्दगी में। वीतराग परमात्मा ने क्या कहा और कैसी अस्तिरूप इसकी—जीव की सत्ता है, ऐसी सत्ता का उसने सुना नहीं। आहाहा! यह तो पर की दया पाल सकता हूँ अर्थात् परक्षेत्र में जा सकता हूँ, परद्रव्य में जा सकता हूँ। मूढ़ है? मूलचन्दभाई! भारी कठिन ऐसा।

**श्रोता :** अहिंसा परमो धर्म।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अहिंसा परमो धर्म... यह तो हिंसा धर्म है। पर को बचा सकता हूँ, पर को बचाने का राग, वह (राग) मेरा है, यह तो आत्मा की हिंसा है। उसका जीवन ज्ञानज्योतिरूप है। उसके बदले राग के कारण जीव बचेगा, मेरा या उसका, (यह मान्यता मूढ़

है)। समझ में आया ? मार्ग तो ऐसा कठिन है कि अभी सबको मक्खन लगाकर खड़े रहना, ऐसा यह मार्ग नहीं है। सबको प्रसन्न रखना। जिसके पास जाए, उसे जय नारायण ! चावल चढ़ाकर (कहे) तुम भी अच्छे और तुम भी अच्छे। जाओ।

**श्रोता :** अपने को दुनिया में किसी को खराब किसलिए कहना ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** खराब तो पर्याय में, वस्तु में खराब नहीं। परन्तु पर्याय में खराब न हो तो यह दुःख और संसार किसका ? समझ में आया ? संसार कोई पर का नहीं है। इसकी मान्यता में पड़ा है, वह संसार है। आहाहा ! बहुत काम... वीतराग परमेश्वर ने कहा हुआ तत्त्व अभी पूरा सब मानो ऐसे डूब गया। देवीलालजी !

यहाँ तो कहते हैं 'कैसे जीजिये। तातैं जीवतव्यता की थिरता निमित्त सब, ज्ञेयाकार परिनामनिकौ नास कीजिये।' ज्ञान में परक्षेत्र का जो ख्याल आता है, उसका अभाव करें। अभाव करें तो हम स्वक्षेत्र में रहें। वह तो पर्याय है। आहाहा ! समझ में आया ? दर्पण में... दर्पण... दर्पण... परक्षेत्र ज्ञात हो, वह परक्षेत्र नहीं। वास्तव में अपनी पर्याय में परक्षेत्र का ज्ञान है। अब ऐसा कहते हैं कि अरर ! यह तो परक्षेत्र का ज्ञान हुआ, परन्तु वह तेरी पर्याय का भाव है। अब हमें जीना किस प्रकार ? पर्याय में परक्षेत्र का ज्ञान निकाल डालें तो हम जियेगा। मर जाएगा, जियेगा कहाँ से ? समझ में आया ?

'तातैं जीवतव्यता की थिरता निमित्त सब' यदि अपने को अपने क्षेत्र से जीना हो तो 'ज्ञेयाकार परिनामनिकौ नास कीजिये।' परज्ञेयाकार जो ज्ञान परिणमता है, उसे निकाल डालें। क्या निकाल डालें ? वह तो ज्ञान की पर्याय है। पर्याय को निकाल डालें तो द्रव्य भी रहेगा नहीं। कहो, समझ में आया ? सूक्ष्म बात है न ! स्याद्वाद का अधिकार।

'सत्यवादी कहै भैया हूजे नांहि खेद खिन्न' धर्मी समकिती जैन ऐसा कहता है कि हे भैया ! 'हूजे नांहि खेद खिन्न, ज्ञेयसौं विरचि ग्यान भिन्नमानि लीजिये।' आहा ! इस ज्ञेय के आकार ज्ञान होता है तो ज्ञेय से भी भिन्न है और वास्तव में तो ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, उससे भी त्रिकाली ज्ञान भिन्न है। समझ में आया ? आहाहा ! कहो, वजुभाई ! यह ऐसा सूक्ष्म है। नये लोगों को तो ऐसा लगे, ऐसा जैनधर्म होगा ? जैनधर्म तो व्रत पालना, अपवास करना, सम्मेदशिखर की यात्रा जाना, शत्रुंजय की। अरे ! भाई ! यह तो सब विकल्प की वृत्तियाँ हों, परन्तु वह कहीं वस्तु नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? बहुत से ऐसा कहते हैं न, ऐसे क्षेत्र में जाएँ तो वातावरण ऐसा दिखता है, शान्ति उत्पन्न हो जाए। धूल भी नहीं, सुन न ! यहाँ क्षेत्र

से होती है ? सोनगढ़ का क्षेत्र अलग, आत्मा का क्षेत्र अलग। अरे ! सोनगढ़ का क्षेत्र तो ठीक, परन्तु उस सम्बन्धी ज्ञान में आया कि सोनगढ़ ऐसा है और प्रतिमा ऐसी है और सीमन्धर भगवान ऐसे हैं, ऐसा जो ज्ञानरूप परिणमन हुआ, वह भी एक समय का क्षेत्र है, वह त्रिकाली क्षेत्र नहीं। उस पर्याय का क्षेत्र, वह कहीं वस्तु है ? समझ में आया ?

‘सत्यवादी कहै भैया हूजे नांहि खेद खिन्न’ तेरी पर्याय में परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञान होता है, खेद न कर, खेद न कर। वह तो ज्ञानस्वभाव में रहा हुआ आत्मा है, उसमें इस क्षेत्र का ज्ञान होता है। आहाहा ! ‘ज्ञेयसौं विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिये।’ उस ज्ञेय आकार को भिन्न करके, ‘विरचि’ अर्थात् पृथक् करके, ‘ग्यान भिन्न मानि लीजिये’ भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति तो उस क्षेत्र से भिन्न है। आहाहा ! इन्होंने तो बहुत लिया है, पर्याय का क्षेत्र ही भिन्न है। समझ में आया ? इस पर्याय का क्षेत्र, वही परक्षेत्र है। समझ में आया ? आहाहा ! ज्ञेयाकार अपनी पर्याय में होता आकार, वह ज्ञान, इतना ही कहाँ तत्त्व है ? वह तो पर्यायबुद्धिवाला मानता है, मिथ्यादृष्टि है। एकान्त माने तो, हों ! त्रिकाली द्रव्यसहित पर्याय को माने तो पर्याय में है, वह बराबर है। वह तो इसका ज्ञान है। ‘ज्ञेयसौं विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिये।’ तुम व्याकुल न होओ, ज्ञेय से उदासीन होकर ज्ञान को उससे भिन्न मानो...

‘ग्यान की सकती साधि अनुभौ दसा अराधि’ भाई ! देखो ! यहाँ क्या कहते हैं ? ज्ञान की शक्ति जो परक्षेत्र से भिन्न है, स्वक्षेत्र की शक्ति है, उसका आराधन कर। आहाहा ! समझ में आया ? ज्ञान का स्वक्षेत्र जो है, उसे ‘ग्यान की सकती साधि अनुभौ दसा अराधि’ भगवान आत्मा ज्ञानसत्ता में पूर्ण है, ऐसी दृष्टि करके, उसे अनुसरकर अनुभव कर। आनन्द का अनुभव करना, वही धर्म है। आहाहा ! और कहते हैं कि अनुभूति से भिन्न। देवीलालजी ! तुमने प्रश्न किया था न ? अनुभूति से भिन्न, अनुभूति से भिन्न, सुन न ! यह तो पर्याय है। त्रिकाल सत् का पूरा पोटला, अकेला त्रिकाल एकरूप सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... वह वस्तु तो परिणमन की पर्याय से भिन्न है। आहाहा ! एक समय की पर्याय की सत्ता से त्रिकाल की सत्ता भिन्न है ? यह तो भाई ! जिसे आत्मा का आराधना करना हो, उसकी बात है। यह तो वीतरागमार्ग ऐसा है।

भगवान आत्मा ज्ञानभाव... यहाँ क्षेत्र की बात है। ‘ग्यान की सकती साधि’ अपनी शक्ति क्षेत्र में है उतनी। ‘अनुभौ दसा अराधि’ जब वस्तु क्षेत्र में असंख्य प्रदेश में आत्मा एकरूप है, उसकी दृष्टि करने से ज्ञान का और शान्ति का अनुभव हो, उसका नाम अनुभवदशा



आराधी—ऐसा कहा जाता है। ‘करमकों त्यागिकैं’ उस परज्ञेयाकार भाव को छोड़कर अथवा परक्षेत्र के कार्य को छोड़कर। कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमानन्दमय अमृतरस का पान करो। ‘परम रस पीजिये’ आहाहा! आत्मा निर्विकल्प रस से स्वक्षेत्र से भरपूर है, उसके स्वक्षेत्र में तो आनन्द का पाक है। समझ में आया ? आहाहा! उसके असंख्य प्रदेश में स्वक्षेत्र में अस्तित्व का स्वीकार होने पर उसे अनुभव का आनन्द का रस आता है। परक्षेत्र तो निकाल दे, परन्तु परक्षेत्र सम्बन्धी अपनी पर्याय, वह दृष्टि छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... समझ में आया ?

ऐसा भगवान आत्मा अपने स्व अवगाहन में व्याप्त तत्त्व, पर को अवगाहाता नहीं। पर में क्षेत्र से प्रवेश नहीं करता। द्रव्य से नहीं करता, इस क्षेत्र से नहीं करता। ऐसी दृष्टि करके अपने स्वक्षेत्र की त्रिकाल शक्ति का आराधन कर तो अनुभव का आराधन (होगा)। आहाहा! तब इसे सम्यग्दर्शन होने पर आनन्द का स्वाद आता है, तब इसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

पर्याय भिन्न है न, इसलिए कहा न कि द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता। अलिंगग्रहण का बीसवाँ बोल। पर्याय का अनुभव, वह द्रव्य को स्पर्श करे तो द्रव्य और पर्याय एक हो जाते हैं। आहाहा! समझ में आया ? प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो अर्थावबोध सामान्य को नहीं स्पर्शता ऐसा जो आत्मपर्याय, वह आत्मा है। ऐसा है बीसवाँ बोल। अलिंगग्रहण। वीतरागमार्ग अलौकिक अचिन्त्य है। उसके ज्ञान में भी यह चीज कैसे है, ऐसा न आवे तो अन्दर रुचि कहाँ से होगी ? और रुचि बिना स्थिरता तो होती ही नहीं। आहा!

‘करमकों त्यागिकैं परम रस पीजिये’ अर्थात् वह परक्षेत्ररूपी कार्य, उसे छोड़कर स्वक्षेत्र के अन्दर में - अनुभव में आ जा। वह (कर्म) छूटकर तुझे आनन्द होगा, ऐसा कहते हैं। दो भंग हुए।

नौवें पक्ष का स्पष्टीकरण और खण्डन। अब यह तीसरा बोल क्या है ? आत्मा स्वकाल में अपने से है, पर के काल से नहीं। यहाँ तो स्वकाल एक समय की पर्याय है न, और पर की पर्याय एक समय की है—राग की या शरीर की, वह परकाल है और आत्मा की सम्यग्ज्ञान आदि की वर्तमान अवस्था, वह स्वकाल से है। अतः स्वकाल से आत्मा अस्ति है और परकाल से नास्ति है। समझ में आया ? इससे आगे जाने पर स्वकाल की एक समय की पर्याय से जीव नास्ति है और त्रिकाल की अस्तिरूप से स्वकाल से अस्ति है। इसमें याद रहना कठिन पड़े। अब ऐसा धर्म। धर्म तो ऐसा है।

अपूर्व किसे कहें ? एक समय भी कभी, अनन्त काल में पंच महाव्रत पालन किये, दिगम्बर मुनि हुआ, परन्तु एक समय भी इसने धर्म नहीं किया। आहाहा! एक समय भी धर्म हो ( तो ) संसार का नाश हुए बिना रहे नहीं। वह धर्म कैसा होगा ? भाई! यह कहीं दया, दान के विकल्प, वह धर्म ? एक समय की पर्याय में, एक समय की पर्याय को मानना, वह धर्म ? नहीं। आहाहा! वह निश्चय से अनात्मा है। एक समय की पर्याय है, वह व्यवहार आत्मा है और व्यवहार आत्मा अर्थात् निश्चय से अनात्मा है। यह गजब की बातें हैं। यह तो परमेश्वर को पहुँचने की बातें हैं।

नौवें पक्ष का स्पष्टीकरण और खण्डन। नौवाँ कलश बोला गया था ? नहीं बोला गया ?

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्  
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्॥  
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां  
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामभुवत्याकारकर्षी परान्॥९॥

पर के आकार छोड़ने पर भी ज्ञान की पर्याय में जो आकार है, उसे वह छोड़ता नहीं। समझ में आया ? यह दसवाँ।

स्पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्  
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।  
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः  
पूर्णास्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि॥१०॥

नाश होने पर भी, परवस्तु के स्वकाल को अवलम्बन कहा, परवस्तु का। परवस्तु का स्वकाल है न ? उसका यहाँ अवलम्बन ज्ञान में जाना। तथापि उस परवस्तु के नाश होने पर भी मेरी पर्याय मुझसे है, ऐसा माननेवाला नाश नहीं होता। पर का काल बदलने से मैं भी साथ में उसके कारण बदल गया, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! समय बदलता है, तब सब बदल जाता है तब, ऐसा आता है न ? सब बदलता है तब। सब बदल जाए। यह मनुष्य नहीं। पैसा जाए, इज्जत जाए, शरीर में रोग हो, स्त्री मर जाए, पुत्री विधवा हो, पुत्र मरे, मकान जले, बीमावाला भाग जाए...

श्रोता : ऐसा रचा है...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** रचा है अनादि से। पुत्र की बहू मरे, तब तक दिक्कत नहीं, दूसरी लावे परन्तु पुत्र मरे और पुत्री विधवा हो, पुत्री मरे तो दिक्कत नहीं, यह तो विधवा, उसे रोकना। आहाहा!

कहीं नहीं... सुन न! पर से, उसमें तुझे क्या है? उस पर के अवलम्बन काल में सुखी मानता और वह जहाँ गया वहाँ... हाय... हाय...! हम बदल गये, दुःखी हो गये। मूढ़ है। आहाहा! तेरे स्वकाल की पर्याय में जो जानने की अवस्था थी, पर के काल को जाना। उसे बदलने पर तेरी अवस्था बदली, वह तो तेरे अपने परिणमने के कारण से बदली है। वह क्षेत्र बदले, इसलिए तेरी अवस्था बदल गयी, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

‘कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड’ मूल यह काल में लिया है। वस्तु तो चौदह सिद्ध की है। है न, वह आ गया। क्षेत्र में गया। यह परालम्बन काल में इसमें अन्दर आ गया।

कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड,  
जब देह नसैगी तब ही जीव मरैगौ।  
छायाकौसौ छल किधौं मायाकौसौ परपंच,  
कायामैं समाइ फिर कायाकौ न धरैगौ॥

यह वृक्ष हो, तब तक छाया। वृक्ष जाए तो छाया भी (चली जाती है)। इसी प्रकार देह हो, तब तक आत्मा। देह का काल हो, तब तक आत्मा, ऐसा। इसका अर्थ ही यह हुआ काल का।

‘धरामैं धाई, आपमें मगन ह्वैकै आप सुद्ध करैगौ॥’ मूल तो यही वस्तु है।?

‘कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड’ शरीर की अवस्था, वही जीव की अवस्था। अरे! मैं वृद्ध हो गया, मैं जवान हो गया, मैं बालक हूँ। यह तो शरीर की अवस्था है, यह तेरी अवस्था कहाँ आयी? मैं रोग अवस्थावाला हूँ, निरोग अवस्थावाला हूँ, यह सब अवस्था काल को सूचित करती है। परकाल के कारण मैं हूँ। शरीर मजबूत काल में हो, तब मुझे पुरुषार्थ की उग्रता होती है। शरीर निर्बल पड़े तो हो गया। यह दृष्टान्त आया है।... परदेशी राजा का दृष्टान्त दिया है। महाराज! शरीर और आत्मा एक है। क्यों?—कि शरीर जीर्ण हो तो आत्मा कुछ काम नहीं कर सकता।

शरीर था तो आत्मा का काम चलता था। शरीर, वही आत्मा है। ऐसा प्रश्न चला है।

परदेशी राजा। वहाँ चला था न? (संवत्) १९८९। उसका उत्तर दिया है। भाई! शरीर बीस वर्ष का निरोगी हो। परन्तु काँवड़ यदि कच्ची हो, काँवड़ समझे? उठाने की। यह पानी... बाँस, बाँस में एक ओर पानी के हण्डा रखे और उठाकर चले। काँवड़। श्रवण ने उसके माता-पिता को यात्रा करायी न। अन्धे थे। एक में नहीं बैठाया। काँवड़ कच्ची हो तो उसका काँवड़ से काम नहीं होता। इससे आत्मा अन्दर कच्चा है, ऐसा है नहीं। जीर्ण हो गया। हाथ में ऐसे पकड़ सके कि और ऐसे हो जाए। वह एक बड़ा अलमस्त नहीं था? क्या कहलाता है? झेण्डो। दो मोटर ऐसे चलती हो तो हाथ रखकर खड़ी रखे। हाथ टूटे नहीं और मोटर खड़ी रहे। गामा... गामा.. आया है, समाचारपत्र में आया है। अन्त में ऐसा रोग हुआ.. ऐसे बैठा है। ऐसे मक्खी (बैठी हो)। आहाहा! यह तो जड़ की अवस्था है। इससे आत्मा की अवस्था को क्या बाधा आयी? समझ में आया? परन्तु अज्ञानी ऐसा माने... आहाहा! शरीर की अवस्था बदली, इसलिए मैं भी बदल गया। यह ऐसा मानता है, शरीर अच्छा हो तो धर्म अच्छा होगा। ऐसा माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है।

**श्रोता :** कान ठीक न हो तो...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** न सुनाई दे, उसमें क्या हुआ? उसे उसके धर्म में कौन रोकता है? 'शरीर आद्यं खलु धर्म साधनम्।' आता है, पुरुषार्थसिद्धियुपाय में। धर्म का साधन है। धूल भी नहीं, सुन न! शरीर वृद्ध हो या युवा हो, या बालक हो, उसके साथ आत्मा को क्या सम्बन्ध है परन्तु उसमें जोर हो तो मुझे जोर रहे, ऐसा माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। इन्द्रियाँ अच्छी हो तो दया पले, आँख अच्छी हो तो दया पले, दिखाई दे कि यह जीव है या नहीं। नाक अच्छा हो तो गन्ध मारता है या नहीं, ऐसा ज्ञात हो। सड़ गया है या नहीं, रस के स्वाद में अन्तर पड़ा है या नहीं, यह जीभ से चखा जाए। पाँच इन्द्रियाँ ठीक न हो तो आत्मा किस प्रकार दया पाल सके? यह अभी ही आया है, हों! कोठाई में डाला है। ...शरीर अच्छा होवे तो उसके साथ धर्म का सम्बन्ध है। आज ही अभी आया है। 'जैनसन्देश' में... कर्म का रमकड़ा जीव है, ऐसा कहते थे। फिर यहाँ आया। कर्म का रमकड़ा है? कर्म तो जड़ है। जड़ आत्मा को विकार करावे? इसी प्रकार शरीर अच्छा हो तो शरीर के साथ धर्म का सम्बन्ध है। धूल भी नहीं, सुन न! सम्बन्ध माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१६

श्री समयसार, गाथा-१, प्रवचन - ५  
दिनांक - ०२-०८-१९६६

(समयसार) इसमें जीव-अजीव अधिकार। जीव अधिकार शुरु करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य पहली गाथा में मांगलिकपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं। गाथासूत्र का अवतार करते हुए (मांगलिक करते हैं)।

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं- मांगलिक करके मैं समयसार कहूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥१॥

ध्रुव, अचल अरु अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को,  
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥१॥

जब गाथा की परमाणुरूप से परिणमने का उसका काल था, तब इस शब्द की ध्वनि अन्दर विकल्प आया स्वयं के कारण से, उस समय यह गाथा अन्दर कुन्दकुन्दाचार्य को ध्वनि में उठी है।

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥१॥

पहले थोड़ा अन्वयार्थ लेते हैं। शुरुआत है न! आचार्य कहते हैं - मैं... आचार्य वे व्यक्ति हैं, एक आत्मा हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। कथन करनेवाला अधर से मुफ्तलाल नहीं है, ऐसा कहते हैं। मैं... प्रवचनसार में आया न? भाई! मैं वन्दन करनेवाला। ज्ञान, दर्शनस्वरूप स्वसंवेदनवाला आत्मा, वह तीर्थकरों को वन्दन करता है। समझ में आया? यह। यह स्वसंवेदन कहा न? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष। मैं यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा ज्ञानदर्शन सम्पन्न वह मैं। अनन्त तीर्थकरों को भूत, वर्तमान, भावी महाविदेह सबको सामान्यरूप से और प्रत्येक-प्रत्येक एक-एक व्यक्ति को लक्ष्य में लेकर, सामान्य-विशेष दोनों प्रकार से वन्दन करते हैं।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि मैं ध्रुव... सिद्धगति कैसी है ? कि ध्रुव। देखो! यहाँ से पहला शब्द शुरु किया है। इसमें—अन्वयार्थ मैं, हों! पाठ में 'वंदित्तु' से शुरु किया है। 'वंदित्तु' में से अमृतचन्द्राचार्य ने यह निकाला है कि हम सिद्ध को हमारे आत्मा में स्थापित करते हैं, यही वन्दन है। 'वंदित्तु' में से निकाला है। हमारे आत्मा में, उसकी पर्याय में अल्पज्ञता और राग होने पर भी हम आत्मा में सिद्ध भगवान को स्थापित करते हैं और श्रोताओं 'वंदित्तु' कहने से, हे श्रोता! तुम्हारे ज्ञान की दशा में हम सिद्ध को स्थापित करते हैं। यह 'वंदित्तु' में से निकाला है। इसका अर्थ कि ये सिद्ध परमात्मा जो है, उनका हम अन्तर में आदर करते हैं। और श्रोताओं को कहते हैं, हे श्रोताओ! तुम्हारे ज्ञान में भी मैं स्थापन करता हूँ, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा!

जिसे सिद्ध भगवान अन्तर में स्थापित हुए, परमेश्वर पर्याय में पधारे। हमने परमेश्वर का आदर किया है अर्थात् हमने आत्मा की दशा में उन्हें स्थापित किया है, उनका हमें आदर है। हमें निमित्त का, विकल्प का, अल्पज्ञता का आदर नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह तो महासिद्धान्त है। हम और श्रोताओं को कहते हैं कि स्थापित करते हैं। दो बोल। 'वंदित्तु' में से निकाले। मेरे आत्मा में और तुम्हारे आत्मा में मैं सिद्ध को स्थापित करता हूँ। वे सिद्ध भगवान कैसे हैं ?—कि ध्रुव हैं। इसका अर्थ टीका में आयेगा।

अचल है। अस्ति की है, पश्चात् नास्ति की है। विश्रान्ति है चार गति के भाव की। अनुपम है—उसे कोई उपमा नहीं। समझ में आया ? ध्रुव के सामने वह अध्रुव नहीं। अचल के सामने अब उसे नाश होना नहीं। अनुपम—उपमावाले पदार्थों की अपेक्षा वह अनुपम सिद्ध भगवान है। टीका में सब लेंगे। इन तीन विशेषणों से युक्त गति को... 'गति को' में से त्रिवर्ग निकालेंगे। धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग है। इससे गति, वह अपवर्ग है, ऐसा निकालेंगे। शब्दों में से निकाला है। समझ में आया ? प्राप्त हुए सर्व सिद्धों को... वापस सर्वसिद्धों को। हों! एक सिद्ध नहीं। अनन्त सिद्ध। ओहो! जबसे वन्दन करते हैं, तब तक के जितने सिद्ध हुए, बाद में भी ५-२५ वर्ष में जब श्रोता सुनते हैं और कहना चाहते हैं, वहाँ भी जितने सिद्ध हैं, उन सर्व सिद्धों को नमस्कार करके... नमस्कार के दो अर्थ निकालेंगे। भाव और द्रव्य।

अहो! श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित... इसमें से दो निकालेंगे। श्रुतकेवली में से दो निकालेंगे। एक सर्वज्ञ और एक श्रुतकेवली। और उसमें से तीसरा निकालेंगे—आगम निकालेंगे। श्रुत अर्थात् ? अर्थात् यह आगम। केवली में से दो निकालेंगे। यह समयसार नामक प्राभृत कहूँगा। 'कहूँगा' में से दो निकालेंगे। भाववचन और द्रव्यवचन। पाठ में से

ही निकाला है, हों! आचार्य मूल पाठ में जो ध्वनि है, उसकी ही टीका (की है)। टीका तो उसकी ही होती है न! भैंस के स्तन में दूध हो, उसे चतुर महिला अँगूठा लगाकर निकालती है। आऊ समझते हों, आंचल में दूध होता है न? आँचल में। अन्दर में है, उसे निकालते हैं न? समझ में आया? यह भी दुहने की एक कला है। वह ऐसे नहीं खींचती। ऐसे यहाँ अँगूठा रखती है और आँचल रखे बीच में इसलिए यह भाग उसके दबता है। ऐसे निकलता है।

उसी प्रकार यह टीका... समझ में आया? अमृतचन्द्राचार्य अपने ज्ञान और वीर्य के जोर के बल से। इसमें क्या कहना है, ऐसी टीका की है। अलौकिक टीका! इस टीका में भरतक्षेत्र में अभी कहीं है नहीं। आहाहा! समझ में आया? इतना अपने शब्दार्थ किया, हों! अब इसका अर्थ।

**टीका - यहाँ (संस्कृत टीका में) 'अथ' शब्द पड़ा है। 'अथ'। 'अथ' यह मांगलिकपने को सूचित करता है। साधकपना नया शुरु होता है, ऐसा सूचित करता है। 'अथ' शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। समझ में आया? इसका अर्थ अन्दर में ध्वनि ऐसी है कि वस्तुस्वरूप का शुद्ध साधन शुरु होता है, साधकपना, वहाँ से इसकी मांगलिक दशा शुरु होती है। अथवा यह टीकाकार साधक जीव है। इनकी दशा में मांगलिकपना प्रगट हुआ है, वह नया है, अनादि का नहीं था। समझ में आया? इसलिए टीकाकार भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने 'अथ' शब्द कहा है, वह मंगल के लिये मांगलिक है। वह सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश (सूचित करता है)। मंगल में दो अर्थ होते हैं न? 'मंग' अर्थात् पवित्रता और 'ल' अर्थात् प्राप्ति अथवा 'मं' अर्थात् पाप और 'गल' अर्थात् गला डाले। प्रत्येक में अस्ति-नास्ति दो-दो उठते हैं। इसी प्रकार इस मांगलिक में अशुद्धता का नाश और शुद्धता की प्राप्ति। ऐसा यह अपने भाव में सूचित करता है। हमारा भाव शुद्ध की पर्याय की प्राप्ति मांगलिक है, अशुद्धता का नाश, वह भी एक मांगलिक है। समझ में आया?**

**ग्रन्थ के प्रारम्भ में... भले वह प्रथम शब्द नहीं डाला इसमें। समझे न? प्रथम का अर्थ किया है न आदि। उसमें-हिन्दी में प्रथम, इसलिए ऐसा किया है। प्रथम आ गया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को... यह शब्द पड़े हैं, सर्वसिद्ध। परमात्मदशा प्राप्त अनन्त हैं। कोई कहे, एक है। परमात्मा होने के बाद अलग चूल्हा किसका? अलग चौका (किसका)? संसार में चौका अलग होता है। अलग सत्ता (होती है) परन्तु मुक्त होने के बाद ज्योति में ज्योति मिल गयी, ऐसा नहीं है। समझ में आया? बहुत से ऐसा कहते हैं। एक बड़ा मत है न? बड़ा मत है। पूर्ण सिद्ध होने के बाद क्या? हमारे यह पानाचन्द के पिता ने पूछा था। 'वरवाला'**

में (संवत्) १९८३ के वर्ष, १९८३। यह मोक्ष हो, उसमें फिर अलग सत्ता क्या रहे? वे वेदान्त में बहुत चढ़ गये, बहुत चढ़े हुए। इसका पिता। पाँच-पाँच घण्टे, छह-छह घण्टे ध्यान में रहे। तीन से ग्यारह तक। ऐसे आठ घण्टे। मिथ्या, हों! वस्तु की कुछ खबर नहीं होती। कैसे सच्ची बात है या नहीं? यह वेदान्त के... चढ़ गये। मस्त व्यक्ति, मस्त, हों! मस्त। इसका पिता। दरकार नहीं। लड़कों का क्या होगा, इसकी दरकार नहीं। बस, मस्त परन्तु मूल तत्त्व मिला नहीं। हमारे प्रति प्रेम बहुत। परन्तु यहाँ बहुत रहे नहीं। वे पूछते थे कि किन्तु अलग टोला क्या? भाई! सिद्ध हो वहाँ टोला क्या? टोला समझे न? पृथक् सत्ता।

**श्रोता :** उसने पूछा सिद्ध को फिर पर्याय का क्या काम है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो और साधारण। यह तो और वह भाई कहते थे। सिद्ध हो, तो भी अभी पर्याय लागू पड़ गयी? पर्याय छोड़ी नहीं उसने? यह और ऐसा प्रश्न करते थे। यह और एक यहाँ बड़े थे। दाढ़ीवाले और बहुत भाषण दे। समझ में आया? वे कहें, अभी सिद्ध को भी पर्याय ने छोड़ा नहीं? सिद्ध को भी। कहो, पर्याय मानो कोई लप होगी। भाषण दे। हों! हजारों लोगों में भाषण दे। बहुत लाखोंपति लोग। ऐसे त्यागी बाबा जैसे लगे। वे पूछते थे। जैन दिगम्बर। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, सर्वसिद्ध। एक-एक सिद्ध अनादि के अनन्त सिद्ध हैं। सत्ता शुद्ध अनन्त है। निर्मल हुई प्रत्येक सत्ता अपने द्रव्य-क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न रखते हैं। सिद्ध हुए, इसलिए एक होते हैं—ऐसा नहीं है। ऐसा करके सर्व सिद्ध कहकर अनन्त सिद्धपना पृथक् है, यह सिद्ध किया है। कोई एक कहता हो तो वह मिथ्या है।

अब, 'वोच्छामि' इसमें से यह निकाला। भाव-द्रव्य स्तुति से... देखो! 'वोच्छामि' के दो (अर्थ) निकाले। भाव अन्दर क्षयोपशम का भाव शुरु हुआ है। अन्दर भाव नमस्कार शुरु हुआ है। स्तुति। निश्चय से रागरहित आराध्य-आराधक वह मैं ही हूँ, ऐसी निश्चय से निर्विकल्प नमस्कार दशा अन्दर प्रगट हुई है, उसे भावस्तुति कहते हैं और द्रव्य-वाणी निकली। असद्भूतव्यवहारनय से उसमें वाणी निकली। ऐसे द्रव्य-भाव स्तुति से। दो शब्द निकाले। 'वंदित्तु' में से यह निकाला। यह 'वोच्छामि' में से निकाला।

अब, अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके... यह 'वंदित्तु' में से निकाला है। आदर करते हैं, वन्दन करते हैं। वन्दन अर्थात् कि ऐसा। आहाहा! हमारी पर्याय अल्प है, उसमें जरा राग है। आगे कहेंगे, मोह नाश के लिये, कहते हैं न? भाई! दो-दो बोल



हैं, दो-दो बोल, हों! आमने-सामने। पर के और मेरे मोह के नाश के लिये। यह भी अनादि शब्द प्रयोग करेंगे। क्योंकि मुनि को अस्थिरता का राग है, वह अनादि की है, वह कहीं नयी नहीं है। इसलिए शब्द भले मोह पड़ा है परन्तु मुनि को मोह नहीं है। किन्तु वह अस्थिरता का मोह है, उसकी ध्वनि करके... है न? 'अनादि मोह प्रहणाणायः' यह शब्द है। अनादि के मोह के नाश के लिये। मुझे भी अभी असावधानी का थोड़ा भाव है, उसके नाश के लिये और श्रोताओं के अनादि के मिथ्यात्व और अज्ञान के नाश के लिये। समझ में आया?

यहाँ अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके... देखो! पर के आत्मा में स्थापित करके, हों! हम सिद्ध समान पर्याय में सिद्ध को स्थापित करते हैं। ऐसी जिसे अन्तर में लक्ष्य दशा हुई, उसे अल्पज्ञ और राग का आदर नहीं रहता। उसे स्वभाव का आदर रहता है। श्रोताओं को भी कहते हैं, श्रोताओ! हमारे श्रोता ऐसे होते हैं कि जिनकी पर्याय में सिद्ध को समाहित कर सकते हैं। समाहित करने पर उनका लक्ष्य शुद्ध के ऊपर होता है। अल्पज्ञ और राग का उसे आदर नहीं है। उसे हम समयसार कहते-कहते उसकी एकाग्रता होगी और उसका मोह नष्ट हो जाएगा और परमात्मपद को प्राप्त करेगा, ऐसा कहते हैं। 'होगा' एक ही बात यहाँ है। न हो, यह प्रश्न ही नहीं है। समझ में आया? कहो, जयकुमारजी! पहली गाथा में तुम आ गये। शुरुआत की दो गाथा। ऐसे चार दिन से होता है। चार दिन से पढ़ा जाता है। अपने शुरु तो ११ से किया है। वहाँ दोनों पहुँच गये। आहाहा! प्रभु कहते हैं, अरे! सामने श्रोता की कितनी योग्यता कि तुम सीधे उसे सिद्धरूप से स्थापित करते हो? सुन न, प्रभु! हमारे श्रोता तो ऐसे हैं... यह अन्त में पाँचवीं में कहेंगे। 'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाणं' प्रमाण करना, ऐसा यहाँ लिया है। आहाहा!

यह तो अलौकिक शास्त्र है! समझ में आया? इसमें कुन्दकुन्द आचार्य साक्षात् भगवान से मिले हैं। भरतक्षेत्र के मानव, महाविदेहक्षेत्र की यात्रा। आहाहा! समझ में आया? सदेह, हों! वापस आहारकशरीर नहीं, चौदह पूर्व, आहारकशरीर - यह नहीं था। ऐसी लब्धि ही थी। साक्षात् भगवान समवसरण में परमात्मा वर्तमान विराजमान हैं, उस काल में विराजमान थे, वहाँ भगवान के पास गये थे। आठ दिन रहे थे।

अहो! मेरे आत्मा में सिद्धपद को स्थापित करता हूँ। महामांगलिक किया! समझ में आया? प्रवचनसार में आता है न? भाई! स्वयंवर मण्डप, नहीं आता? स्वयंवर। तीसरी गाथा। स्वयंवर। हमारी दीक्षा स्वयंवर है। मोक्षलक्ष्मी को उपादेय करके हम हमारी दीक्षा में स्वयंवर आयोजित किया है। प्रवचनसार में ऐसा लिखा है। हे सिद्धो! हे परमात्माओ! हमारे स्वयंवर

मण्डप में पधारो! विवाह करने जाता है न? तो अच्छे बड़े लोगों को साथ में ले जाता है। कदाचित् वह बदले, लड़की की पिता दस-पाँच हजार माँगे (तो) बड़े लोगों को देना पड़े। आठ बजे कन्या क्यों नहीं आयी? उसका होता है न? क्या कहलाता है? पाणिग्रहण का समय होता है। क्यों नहीं आयी? कुछ गड़बड़ हुई? पाँच मिनट (देरी से आवे) तो सेठिया को शंका पड़े? कैसे है? वहाँ गुप्तरूप से कोई कहे, कन्या के पिता को दस हजार चाहिए। अरे! यह क्या? अन्दर जाए। क्या है? हार निकालकर दे। मैं साथ में (होऊँ), उसकी कन्या (वापस) मुड़े नहीं। यह पहले बड़ों को ले जाते थे, भाई! हों! बड़ों को ले जाते थे। यह सब पहले रीति थी। ऐसा होता भी था, वह बदले। मौके से, अवसर पर कहाँ जाएँगे? नहीं तो उनकी नाक कटेगी।

इसी प्रकार कहते हैं, हे नाथ! हमारी स्वयंवर दीक्षा हमारे मोक्ष के साधन में आपको-सिद्ध को साथ में रखा है, हों! साथ में रखा। हमारा मोक्ष, प्रभु! नहीं फिरेगा। ऐसा कहते हैं। आहाहा! सिद्ध को यहाँ स्थापित करते हैं। परन्तु ऊपर है न? ऊपर हैं, उन्हें यहाँ स्थापित करते हैं। हम यहाँ स्थापित करके वहाँ आनेवाले हैं। समझ में आया? देखो तो यहाँ इनकी ध्वनि! जंगल में बैठे होंगे और जब यह ध्वनि उठी है... आहाहा! पण्डित वहाँ कहते थे, पौन्नूरहिल में यह समयसार आदि लिखा हुआ है। पौन्नूरहिल है न मद्रास से ८० मील। अपने दो बार गये थे न? वहाँ आगे से भगवान के पास गये थे। आठ दिन। वहाँ ताड़ के लाखों वृक्ष हैं। अभी, हों! उस समय वहाँ ताड़ बहुत थे। यद्यपि एक धवलगिरी है, धवलगिरि। वहाँ से दिखता है। वहाँ धवल, महाधवल लिखे गये हैं। साथ में ही है। व्यवहार का वहाँ और निश्चय के यहाँ। वहाँ तब बात की थी। तुम थे? दूसरी बार नहीं थे। दूसरी बार हुई थी। वहाँ शंकर का देवला हो गया है। धवलगिरि है मूल जैन का। यह धवल ग्रन्थ वहाँ लिखा गया। अभी शंकर का देवल है, वह खाली है।

यहाँ कहते हैं, वहाँ ऐसे अन्दर में ध्वनि उठी होगी। 'वंदितु' अनन्त सिद्ध को हमारे अन्तर में स्थापित करके, तुम्हारे आत्मा को स्थापित करके हम भाव-द्रव्यस्तुति से अन्तर आनन्द के नमस्कार द्वारा अन्तर नमकर और वाणी, विकल्प सब इकट्ठा लेकर, असद्भूत-व्यवहारनय से हम नमस्कार करते हैं, स्तुति करते हैं, स्तुति।

इस समय नामक प्राभूत का भाववचन... अर्थात् क्षयोपशम द्रव्यवचन... अर्थात् वाणी से परिभाषण प्रारम्भ करते हैं... इस परिभाषण में से अर्थकार निकालेंगे। पण्डित जयचन्दजी। पाठ में है न? 'परिभाषणामुपक्रम्यते' परिभाषण का अर्थ करेंगे। सूत्र

में ऐसे बहुत पाठ, नाम हैं। उसमें एक परिभाषण है (अर्थात् कि) यथास्थान में जो स्थान चाहिए, वहाँ उसे रचना, वह परिभाषा सूत्र कहलाता है। ऐसा हम परिभाषण शुरू करते हैं। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं... कहो, समझ में आया? भाव-द्रव्यस्तुति से... एक, दो, (जोड़ा) आया। (१) अपने आत्मा में और पर में स्थापित करके, ये दो आये तथा (२) भाववचन और द्रव्यवचन से, तीन आये। डबल-डबल भाव। फिर ऐसे तो ध्रुव और उसमें डबल-डबल, वह अलग बात है। तथा एक आयेगा—त्रिवर्ग और अपवर्ग। एक आयेगा, मेरे और तुम्हारे मोह के प्रलय के लिये। पाँच डबल भाव अन्दर कहे हैं। समझ में आया? इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं...

वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है... देखो! सामने दो उठाये। सिद्ध भगवान कैसे हैं?—कि हमारे आदर्श हैं। प्रतिध्वनि... प्रतिध्वनि। प्रतिध्वनि समझे?—प्रतिच्छन्द। बड़े मकान में बोले न? तू सिद्ध। सामने आवाज आवे, तू सिद्ध। यह प्रतिध्वनि कहलाती है। प्रतिध्वनि-प्रतिघात-प्रतिघात। आवाज आवे, तू सिद्ध। सामने आवाज आवे कि तू सिद्ध। प्रतिध्वनि। उसमें आदर्श शब्द रखा है। हिन्दी में यह प्रतिच्छन्द शब्द है न? उसका अर्थ वहाँ प्रतिच्छन्द के स्थान पर है अर्थात् आदर्श है, ऐसा लिखा है। हिन्दी में। आदर्श है न वे? आदर्श है न? प्रतिध्वनि। हे भगवान! तुम पूर्णानन्द हो। सामने आवाज (आती है), हे भगवान! तुम पूर्णानन्द हो। आहाहा!

वे सिद्ध भगवान साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द—प्रतिध्वनि के स्थान पर है। जिनके स्वरूप का... जिनके स्वरूप का—सिद्ध का। जो सिद्ध में नहीं, वह मुझमें नहीं। जो सिद्ध में है, उतना मुझमें है। समझ में आया? आदर्शरूप से है। वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं,—जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव... संसारी भव्य जीव, संसारी भव्य जीव। समझ में आया? प्रतिच्छन्द के स्थान पर। इसका (अर्थ हुआ) भव्य। भव्य ध्यान करते हैं न? दूसरा कौन करे? ऐसा कहते हैं। अभव्य को होता नहीं। सिद्ध, तू सिद्ध—ऐसी ध्वनि यहाँ भव्य में झिलती है, ऐसा कहते हैं। अभव्य को नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर... देखो! ध्यान करके। उनके समान। दो आये। उनके समान मैं हूँ, उनके समान मैं हूँ। यह तो किस दृष्टि का जोर कहे? परन्तु यहाँ राग है न? अल्पज्ञता है न?—नहीं, वह नहीं। मैं सिद्ध समान हूँ। समझ में आया? ऐसे साधक जीव—श्रोता को (कहते हैं)। स्वयं साधक कहते हैं, श्रोताओ! इस प्रमाण तुम निर्णय करो।

सिद्ध समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्हीं के समान हो जाते हैं... कोलकरार हो जाता है। नहीं हो, यह हमारी पुस्तक में नहीं है। समझ में आया ? उन्हीं के समान हो जाते हैं... कहा न ? प्रतिस्थान का अर्थ क्या हुआ ? यह भगवान है, यह भगवान है। ऐसा हो जाता है। समझ में आया ? सिद्ध भगवान पूर्ण केवलज्ञान अनन्त चतुष्टय प्राप्त और जिनमें अल्पज्ञता नहीं, रागादि नहीं; वैसा ही मैं हूँ। ऐसा मैं हूँ, ऐसा धर्मात्मा अपने आत्मा को सिद्ध समान ध्यान करके, एकाग्र करके, उन सिद्धसमान ध्यान करके सिद्ध हो जाता है। स्वयं भी सिद्ध हो जाता है। समझ में आया ? आहाहा! मांगलिक, यह भी मांगलिक है न गाथा!! इसमें कुन्दकुन्दाचार्य (कहनेवाले) !

और चारों गतियों से विलक्षण... 'गति' शब्द है न ? पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं। चार गति से विलक्षण। जो चार गतियों का लक्षण और सिद्ध का लक्षण ही विलक्षण है। कोई उनके साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। सर्वार्थसिद्धि की गति से सिद्धगति विलक्षण है। समझ में आया ? जहाँ सर्वार्थसिद्धि के देव (रहते हैं), उसके ऊपर मात्र बारह योजन ही सिद्ध है।

श्रोता : क्षेत्र से...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे भी एकावतारी, वहाँ भी कितने ही चौदह पूर्व के पाठक हैं। बारह योजन दूर हैं परन्तु उन्हें यह मनुष्यपना आकर प्राप्त हो ऐसा है। वहाँ ऐसे जाकर प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? यहाँ जाकर, मनुष्यपना पाकर, यह सिद्धसमान ध्यान करेंगे, तब हम सिद्ध होंगे। वहाँ सिद्ध के पड़ोसी हैं, निकट है, लो! वे तो बहुत नजदीक कहलाते हैं। उनके पास निगोद रहते हैं, वे अलग। जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं, वहाँ निगोद विराजता है। निगोद है या नहीं ? उनके गर्भ में भी निगोद है। पण्डितजी! पूरे लोक में निगोद है न! परन्तु उन्हें और उसे क्या सम्बन्ध है ? यह तो समकित्ती ज्ञानी है। कितने ही देव तो चौदह पूर्व के पाठक हैं। यहाँ से मुनि होकर चौदह पूर्व ले गये हैं तो भी हमारे अन्तर यहाँ बारह योजन है, क्षेत्र से। भाव से अन्तर बहुत है। इस मनुष्यपने को प्राप्त होकर सिद्ध जैसा यहाँ ध्यान करेंगे और हम सिद्ध होंगे। समझ में आया ? यहाँ तो पहले से कहते हैं कि नहीं, नहीं; तुम सिद्ध समान नहीं, सिद्ध समान नहीं। तुम साधारण प्राणी को बेचारे को सिद्ध समान स्थापित करते हो ? पहले सीधे धड़के! कितने ही ऐसा कहते हैं। लो, सीधा ऐसा ऊँचा उपदेश। यह क्या कहते हैं ? सुननेवालों को कहते हैं कि हम तुम्हारे आत्मा में सिद्ध को स्थापित करते हैं, इनकार करना नहीं। विकल्प करना नहीं, इनकार करना नहीं और ऐसा कैसे है—ऐसे प्रश्न उठाना

नहीं। ऐसा कहते हैं। चिमनभाई! यह तो बड़ा वीरपने की सभा में जाने की बात है। वीर बैठे हों, उनकी सभा में जाए तो कुछ शूरवीरता होवे तो जावे, तेजहीन, पामर वहाँ जाते होंगे? ऐ.. ऐ.. टें... टें... (करनेवाले जाते होंगे)? कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

कहते हैं, पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं। एक ही बात है। 'वंदित्तु' जिसने सिद्ध का आदर किया, वह सिद्ध जैसे हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं। जिसने 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' सिद्धों को वन्दन किया अर्थात् अन्दर स्थापित किया, ऐसा यहाँ इसका अर्थ है। आदर किया पर्याय में, अन्दर में, हों! वह सिद्ध ही हो जाता है। वह सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! यह तो कुछ बात करते हैं! क्या कहते हैं? उर्ध्व ही उर्ध्व की बात करते हैं। पामर जैसी बात (करे)? हमारे नहीं होता, भाईसाहब! पंचम काल के प्राणी हैं। पंचम काल के प्राणी को कहते हैं। यह किसे कहते हैं? चौथे काल को कहते हैं? किसे कहते हैं? पण्डितजी! पंचम काल को। आहाहा!

भाई! परन्तु पहली बात में? पहली बात में सिद्ध! सीधे सिद्ध हमारे ज्ञान में स्थापू? भाईसाहब थोड़ा पात्र तो होने दो। अरे! भगवान! बापू! तू तो पात्र है, प्रभु! तुझे पात्रता की कीमत नहीं है। आत्मा परमात्मस्वरूप है। उसकी पर्याय में पात्रता सिद्ध को स्थापित करने की प्रगट है और उसे प्रगट करने को तू योग्य है। न मत कर, इनकार मत कर। ऐसी बड़ी बात हमें कैसे करते हो? यह तर्क न कर। अभी देखो न, शोर मचाते हैं। अरे! अध्यात्म का ऐसा उपदेश? भाई! सुन न! तुझे पामर होकर सुनना है? प्रभुता कब पायेगा? समझ में आया?

पंचम गति को पायेगा। यह 'वंदित्तु' में से गति प्राप्त हो गयी, जाओ! वे सिद्ध तो गति को प्राप्त हैं, परन्तु जिसने वन्दन किया, जिसने आत्मा में उनका स्थापन किया, वह सिद्ध होगा, निश्चित होगा। आहाहा! इतना तो 'वंदित्तु' में से निकाला है। समझ में आया? स्वयंभूस्तोत्र में कहा, प्रभु! आपको गंठी... नहीं हम। पण्डितजी! आता है न यह? गंठी।... क्योंकि राग की एकता है, उसे सिद्धपना पर्याय में किसी प्रकार से नहीं बैठता।

यहाँ कहते हैं कि हम सिद्ध का आदर करते हैं और पूर्णानन्द प्राप्त को वन्दन करते हैं। समझ में आया? हमारा आदर राग में, व्यवहारविकल्प में, अल्पज्ञता में हमारा आदर नहीं है। ओहोहो! समयसार शुरु करते हुए सुननेवाले और स्वयं कहनेवाले, दोनों हम इस प्रकार हैं। हमारी समजातियाँ भी सिद्धपद को ही पायेगी, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? इतना महान मांगलिक! 'वंदित्तु सव्वसिद्धे'। स्थापित किया है भगवान को, वह भगवान हुए बिना

रहेगा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह वह नहीं करते? क्या कहलाता है? कहीं जाते हैं। काल, अकाल होता है न? प्रस्थाना रखते हैं न? प्रस्थाना। बाहर जाना हो, मंगलवार या ऐसा कोई वार (हो), अपने को बहुत खबर नहीं, वार न हो तो कहे, आज निकला जाए। दो-चार कुवार होवे न तो अन्यत्र प्रस्थाना रख आवे। रख आवे। फिर जब आना हो, तब ले जावे।

इसी प्रकार अभी केवलज्ञान का थोड़ा कुवार है। परन्तु इस काल में हमने सिद्ध भगवान को स्थापन किया है। हमें स-वार है, इसलिए जब अमुक गति को पाने का, मनुष्यभव होगा, तब हम केवलज्ञान लेकर पूर्ण हो जायेंगे। परन्तु हम तो अभी से सिद्ध को स्थापित करते हैं। हमने प्रस्थाना रखा है, ऐसा कहते हैं। प्रस्थाना कहते हैं? तुम्हारे हिन्दी में चलता है? प्रस्थाना रखते हैं। प्रस्थान रखते हैं, ऐसा हमारे कहते हैं। बाहर जाना हो। वह प्रस्थान रखते हैं। ऐसे जाना हो परन्तु वार ठीक न हो तो पहले रख आवे, बाद में जाए। जा आये। इतना शुरु कर दिया। है या नहीं? .... भाई! ऐसा प्रस्थान है या नहीं तुम्हारे? उसी प्रकार यह प्रस्थाना रखते हैं। हमने प्रस्थाना रखा है, सिद्धपने को स्थापित किया है। हमारी गति भले इस काल में सिद्ध नहीं, परन्तु हम सिद्ध होनेवाले हैं, यह प्रस्थाना रखा है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब यह पंचम गति कैसी है, इसके विशेषण (कहते हैं)। जिसने वन्दन किया है, जिसे यहाँ स्थापित किया है, वे कैसे हैं, उसका ज्ञान करके स्थापित किया है, ऐसा कहते हैं। उसकी पहिचान करके स्थापित किया है, हों! ध्रुव का अर्थ है। स्वभावभावरूप है... ध्रुव का अर्थ। 'स्वभावभावभूततया' यह पहला शब्द है। 'स्वभावभावभूततया' यह शब्द है न इसमें? 'स्वभावभावभूततया' अर्थ में क्या है? अर्थ में? उसमें स्वभाव से उत्पन्न हुई, ऐसा लिखा है। परन्तु यह 'स्वभावभावभूततया' है। क्या कहते हैं? 'स्वभावभावभूततया'। वह स्वभावभावरूप ही है। सिद्धगति स्वभावभावरूप है। स्वभावभाव पर्याय की बात है, हों! सिद्धगति स्वभावभावरूप है। अस्ति से स्थापन किया। ध्रुव... ध्रुव...। क्यों? स्वभावभावरूप है। स्वभावभावरूप होवे तो ध्रुव ही रहे। समझ में आया? देखो! सिद्धगति मोक्षगति स्वभावभावभूत है। 'स्वभावभावभूततया' समझ में आया?

पहले में जरा अपने अर्थ फेर हो गया है। हिन्दी में उन्होंने ऐसा लिखा है, इन्होंने भी। वापस कुछ बदले नहीं। यह दिल्ली से प्रकाशित हुआ है न! जरा भी पढ़ते नहीं। नया प्रकाशित करे परन्तु कुछ निर्णय तो करना चाहिए कि यह क्या है। समझे न? पंचम गति स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसलिए ध्रुवरूप का अवलम्बन करती है। अपने पहले जो लिखा है, पण्डित

जयचन्दजी ने लिखा है, वही लिखा है। स्वभाव से उत्पन्न हुई है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो (स्वभाव) रूप है। पहले के अर्थ जो किये हैं, वे ऐसे के ऐसे हाँक रखते हैं। ध्रुवं। स्वभावभावरूप है। वर्तमान है। उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं। सिद्ध की स्वभावभावभूत पर्याय है। जैसे द्रव्य, स्वभाव है; जैसे गुण स्वभाव है, वैसे पर्याय भी स्वभावभावरूप है। समझ में आया? देखो! यह अस्ति से सिद्ध किया है। द्रव्य-गुण तो अस्तिस्वभावरूप है, परन्तु पर्याय स्वभावरूप है, स्वभावभावरूप है। पर्याय स्वभावभावरूप है। पर्याय को साधारण कर डालते हैं न? पर्याय अर्थात् क्या? वह पर्याय स्वभावभावरूप है। सुन न! तुझे क्या खबर पड़े! आहाहा! ऐसी एक समय की पर्याय स्वभावरूप है। समझ में आया? पर्याय अर्थात् क्या? पर्याय अर्थात् कुछ नहीं। पर्याय वस्तु का स्वरूप है और सिद्ध को जो पर्याय प्रगटी, वह स्वभावभावरूप वर्तमान है, स्वभावभावरूप है। तीनों स्वभावभावरूप हो गये। द्रव्य स्वभावभावभूत था, गुण स्वभावरूप था, पर्याय स्वभावभावरूप रही। हो गये, तीनों एकाकार हो गये। समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! ओहोहो! कुन्दकुन्दाचार्य... कितने भाव अन्दर भरे हैं! अमृतचन्द्राचार्य उनका स्पष्टीकरण करें। वे उनके गणधर थे, तीर्थकर जैसे के। पंचम काल में कुन्दकुन्दाचार्य ने तो पंचम काल की अपेक्षा से तीर्थकर जैसा काम किया है और अमृतचन्द्राचार्य ने उनका अभिप्राय खोला है। यदि इतना सब नहीं होता तो एकदम निकाला नहीं जा सकता। इतनी टीका में अन्तर के उत्साह से होश से जितना उनका वीर्य है, उतनी टीका की है। समझ में आया?

कहते हैं न, विवाह होवे न? भाई! रिश्तेदार रिश्तेदार को लिखते हैं। आपके आने से मण्डप की शोभा बढ़ेगी। लिखते हैं। तुम्हारे भी लिखते तो होंगे। कोई पुत्री हो, दामाद हो, दूर हो न दूर परदेश में। भाई का विवाह है, तुम्हारे आने से मण्डप की शोभा बढ़ेगी। यहाँ कहते हैं, प्रभु! आप यहाँ पधारो, तब हमारे साधक की शोभा है। पधारो, यहाँ पधारो। स्वयं पधराता है, हों! हमारे मोक्षमार्ग की शोभा, प्रभु! आप यहाँ हमारे में विराजो, इसमें हमारी शोभा है। आहाहा! समझ में आया? प्रवचनसार में (ऐसा लिया है), स्वयंवर दीक्षा ली है। हमारा स्वयंवर हम स्वयं वरते हैं। हमारी मोक्ष और साधकदशा की दीक्षा को हम वरते हैं। कोई दूसरे नहीं। हम स्वयं वरते हैं, ऐसा कहते हैं। हम मोक्षलक्ष्मी को वरते हैं। कन्या स्वयंवर स्वयं वरती है या दूसरा पास करे तो वरण करे तो स्वयंवर कहलाये? प्रवचनसार में आचार्य ने ऐसा लिया है। हम स्वयं वरते हैं। हमारे शुद्धस्वरूप का साधन करके हमारी सिद्धपद दशा ही पर्याय में स्थापित की है। हमने स्वयं खुद स्थापन करते हैं और स्वयं फिर सिद्ध को वरते हैं। समझ में आया? किसी के आधार से, आश्रय से, निमित्त से, राग से, उसके आधार से हमारी मोक्षगति

नहीं है। हमारी दीक्षा भी ऐसी नहीं है। आहाहा! यह तो दिगम्बर सन्त बात करें वे। समझ में आया ?

**श्रोता :** इतनी सब बात हमें तो आपके द्वारा जानने को मिलती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह है, इसमें से कहते हैं। इसमें है या नहीं ? देखो न! आहाहा!

पंचम गति, जिसे हमने यहाँ स्थापित किया है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य। हमारी पर्याय में ( स्थापित किया है )। मनुष्यगति है न ? हमें मनुष्यगति है ?—नहीं; गति-फति रहने दे। ज्ञानचन्दजी! मनुष्यगति को छोड़ दे। सिद्धगति है। सिद्ध को स्थापित कर। हम सिद्ध को स्थापित करते हैं और तू किसलिए इनकार करता है ? तेरे आत्मा की ही ऐसी योग्यता है कि सिद्ध जैसा आत्मा है, बापू! इनकार नहीं करना, हों! हाँ करके स्थिर होना। वहाँ प्रमाण में यह कहते हैं न ? कहूँगा। ‘दाएज्ज पमाणं’ नहीं करेगा या ऐसी बात नहीं। ‘छलं ण घेत्त्वं’ बोलने में हमारी कोई शब्दों में भूल पड़े तो हमारा लक्ष्य ( वहाँ नहीं है )। हमारे तो अनुभव प्रमाण है। ‘छलं ण घेत्त्वं’ दुर्जनवत्, ऐसा है न उसमें ? भाई! जयसेनाचार्य में। बहुत लिखा है। आचार्य ने भी कहा है न ? पाँचवीं है न ? ‘छलं ण घेतवं... तहि छलं न ग्राहं दुर्जनवत्’ जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका है। हमारा आशय वस्तु का अनुभव और आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रगटता कैसे हो, यह हम स्थापित करते हैं। अनुभव की बात साधक की बात करके उसमें तेरा लक्ष्य होना चाहिए। इस व्याकरण में ऐसे भूल गये और अमुक ऐसे भूल गये। कदाचित् तेरा उस ( जाति का ) क्षयोपशम हो और तेरे ख्याल में बात आवे तो वहाँ खड़ा रहना नहीं, निकालना नहीं दुर्जनवत् कि भूले। अब भूले नहीं, सुन न! समझ में आया ?

इसी प्रकार यहाँ आचार्य कहते हैं, ओहो! एक तो सिद्ध की पर्याय, उसे स्वभावभूतपना। अन्यमति तो शोर मचा जाए। पर्याय और स्वभावभावपना। अभी पर्याय को ही मानते नहीं। यहाँ तो कहते हैं, पर्याय स्वभावभावभूत। यहाँ से पहला मांगलिक किया। ‘अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया’ संस्कृत टीका का पहला शब्द ही यहाँ से शुरु हुआ है। आहाहा! समझ में आया ? पर्याय है, सिद्ध एक पर्याय है। मोक्षगति है, पर्याय है तो फिर पर्याय को स्वभावपना ? पर्याय तो विषमपना हो या अस्थिरपना हो, या दुःखरूप हो। एक व्यक्ति नहीं कहता था ? वह बेचारा कहता था। अभी सिद्ध को पर्याय चिपट रही ? क्या कहते हो तुम ? तुम्हें इतने वर्ष हुए। क्या करते हो यह ? वह एक पण्डित आया था। नहीं ? वह कहे, पर्याय से... इतना बड़ा पण्डित। क्या नाम ? ‘सवैया शास्त्री’ व्यक्ति नरम व्यक्ति, हों! परन्तु बीस पन्थी का बहुत



आग्रह। सुनकर तो यह योग्यता और पर्याय की बात... परन्तु तुम पण्डित हो न।... फिर अपने को मिले थे। नहीं? वहाँ आये थे। पर्याय एक समय की स्वतन्त्र शुद्ध और वह अपनी योग्यता से हुई है। यह पर्याय और योग्यता... तुमने पर्याय का नया... कार्य तो पर्याय में है। द्रव्य ध्रुव में कार्य कब था? मोक्षमार्ग पर्याय में, संसारमार्ग पर्याय में, सिद्धपना पर्याय में। सब पर्याय में है। उसकी-पर्याय की स्वतन्त्रता की-पर्याय की खबर नहीं। वहाँ क्या हो?

यहाँ तो भगवान् अमृतचन्द्राचार्य ध्रुव शब्द में से यह निकाला। सिद्धगति ध्रुव? ध्रुव तो द्रव्य-गुण होता है। समझ में आया? इसलिए पहला शब्द भगवान् (कहते हैं), 'वंदितु सव्वसिद्धे ध्रुवम्' सिद्धपर्याय है परन्तु ध्रुव है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ध्रुव कहा है। परन्तु ध्रुव तो प्रभु! द्रव्य-गुण होता है। सुन न! यह पर्याय स्वभावभावभूत है, इसलिए ध्रुव है। समझ में आया? वीतरागी परमानन्द की परिणति पारिणामिकभाव की पर्याय पूरी हुई। पारिणामिक जैसा यह द्रव्य और गुणरूप था, वैसी उसकी पर्याय ज्ञायक की पारिणामिक की पूरी हुई, वह स्वभावभूत है। आहाहा! चिल्लाहट मचाये ऐसा लगे। एक आत्मा को माननेवालों को, पर्याय को नहीं माननेवालों को। उसमें और पर्याय अनन्त सिद्धों की एक-एक की पर्याय स्वभावभूत। सर्व सिद्धों को रखा और वापस वह सिद्ध की एक-एक पर्याय स्वभावभूत। बापू! यह वस्तु है। समझ में आया? आहाहा!

कैसी है पंचमगति? स्वभावभावरूप है... 'स्वभावभावभूततया' रूप है इसका। भगवान् आत्मा जैसा सिद्धस्वरूप शक्ति में था, वैसी ही पर्याय व्यक्तरूप से स्वभावभूत हो गयी। उसे मोक्ष और उसे सिद्ध और उसे ध्रुव कहा जाता है। समझ में आया? यह पर्याय को ध्रुव कहा। आहाहा! वह तो ऐसी की ऐसी रहनेवाली है न! यहाँ तो वर्तमान स्वभावभूत है। एक समय की पर्याय स्वभावभूत है, ऐसा सिद्ध करना है। और रहेगी वह भले (रहे)। समझ में आया? आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है, भाई! वह स्वयं परमात्मा पूर्णानन्दस्वरूप, उसका ध्यान करने से, सिद्ध का ध्यान करने से, सिद्ध जैसी पर्याय हो। सिद्ध की स्वभावभूत पर्याय है। तेरी भी ध्यान करने से पर्याय स्वभावभावभूत हो जाएगी। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? ऐ... छोटाभाई! कभी कहीं सुनने को मिला न हो। एकेन्द्रिय की दया पालो, सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो... ऐ.. भगवान् भाई! अरे! भगवान्! बापू! मूल वर है कौन, उसे तो देख! बिना वर के बारात? वर बिना की बारात कहते हैं न? दूल्हा बिना की। दूल्हा बिना की बारात जोड़ दी। (गुजराती में) जान कहते हैं? क्या कहते हैं? बारात.. बारात.. यहाँ तो पहले वर लिया।—सिद्ध भगवान्। ऐसा तू स्वयं है, ऐसा कहते हैं।

ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। स्वभावभावरूप है इसलिए। ऐसा कहा न? 'स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानाम' आहाहा! भगवान सिद्धप्रभु, जिसके द्रव्य और गुण स्वभाव, स्वभावभूतरूप ध्रुव है, ऐसी सिद्ध भगवान की पर्याय स्वभावभूतपने के कारण ध्रुव के अवलम्बन से है। आहाहा! समझ में आया? कारण देकर सिद्ध किया है। 'स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानाम' ध्रुव का अवलम्बन क्यों है? कि स्वभावभूत है इसलिए। आहाहा! समझ में आया? इसे भरोसा, बापू! ... इसे चोसले बात बैठनी चाहिए। समझ में आया?

पहले एक बार दृष्टान्त दिया था। ऐसा तपेला होता है न? फिर पानी भरा हो, पश्चात् इतना एक लकड़ी का डाटा करके उसमें अन्दर डाले तो सब पानी निकल जाए। तपेला समझते हो न? बर्तन। इतना वासन हो न। मण, दो मण पानी भरा हो। फिर इतना चौड़ा लकड़ी का डाटा... डाटा समझे? जितना वासन उतना अन्दर डाट—डाले तो सब पानी निकल जाए। इसी प्रकार तेरी पर्याय में सिद्ध को अन्दर डाल (तो) यह सब विकार और अल्पज्ञता टल जाएगी, इसमें पहले ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यह तो सिद्धान्त है, महामन्त्र है। यह कहीं कोई वार्ता, कथा नहीं है। यह तो एक-एक शब्द में महा आगम पड़े हैं। बड़े आगम। एक-एक सिद्धपर्याय स्थापित की स्वभावभूत। द्रव्य-गुण स्वभाव। पहले स्वभाव नहीं था, विभाव था, वह टलकर यह दशा हुई है। यह दशा ऐसी की ऐसी रहती है। ऐसे अनन्त सिद्ध हैं। उससे अनन्तगुने दूसरे आत्माएँ हैं। अनन्त काल में जब इतने अनन्त हुए, वे थोड़े काल में सिद्ध होते हैं, असंख्य समय में सिद्ध होते हैं। सिद्ध होने के लिये अनन्त काल नहीं चाहिए। इतने अनन्त की संख्या... तू भी सम्मिलित हो न, भाई! चल न! तुझे यहाँ निमन्त्रण देते हैं, सामूहिक। सामूहिक समझते हो? सबको। आता है न? 'मज्जन्तु' ऐसा शब्द आता है। अन्तिम श्लोक है। सब आओ। ३८-३८ (गाथा के बाद का श्लोक)।

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका  
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।  
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण  
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥३२॥

... देखो! यह कहते हैं, हों! समझ में आया? यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा

विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिए अब समस्त लोक उसके शान्त रस में एक साथ ही... देखो! सामूहिक निमन्त्रण। पूरी दुनिया आकर यहाँ शान्त रस में आ जाओ। 'मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका' देखो न! अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), आओ, प्रभु! सब आओ न! सब शान्तरस में डूब जाओ न! वापस एक साथ, हों! समस्त लोक उसके शान्त रस में एक साथ ही अत्यन्त मग्न हो जाओ। आहाहा! कैसा है शान्तरस? समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है। अर्थात् लोकालोक का ज्ञान जिसमें हो जाता है। उसमें आओ, प्रभु! उसमें आओ, पूरी दुनिया आ जाओ। भगवान की पुत्री का विवाह है। आ जाओ सब यहाँ। भाईसाहब बीमार हो और न आवे तो? तो उसके घर रहा। समझ में आया? परन्तु हम तो सब लोक को कहते हैं। आओ... आओ यहाँ... ऐ... न्यालभाई! भगवान की पुत्री का विवाह है। आहाहा! परिणति (विवाह करती है)।

कहते हैं, सिद्ध की पर्याय स्वभावभावरूप, अर्थात् ध्रुव के अवलम्बन से है। कारण दिया है। 'स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानाम' यह ध्रुव का पहला इतना अर्थ किया। समझ में आया? आहाहा! महा सिद्ध का विनय करके... आहाहा! जो ऊपर विराजते हैं, उन्हें अपनी पर्याय में स्थापित करके—नीचे लाकर। आहाहा! रामचन्द्रजी ने नहीं किया था? चन्द्र को जेब में डाला। उसी प्रकार यह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, हमारी पर्याय की जेब में अनन्त सिद्धों को यहाँ डाला है, हों! आहाहा! समझ में आया?

भगवान बड़ा। उनके जैसा बड़ा दुनिया में कौन है? उनके जैसा बड़ा कौन है परन्तु? जो महिमा दूसरे को देता है, उसकी महिमा की क्या बात करना? आहाहा! ऐसा भगवान, उसका आत्मा, जिसे सिद्धपने के ध्रुवपने के अवलम्बन से है। स्वभावभूतपने के कारण। ऐसा सिद्धपना जिसे अन्दर में जँचा, उसे स्वभाव के ऊपर लक्ष्य जाकर अस्थिरता और अल्पज्ञपना टलकर, सर्वज्ञ और स्थिर वीतराग हो जाएगा, ऐसा कहते हैं। कोलकरार (करके) स्वयं कहते हैं, हम सिद्ध होनेवाले हैं। जरा पाँचवाँ काल है, इसलिए अभी स्वर्ग में जाएँगे, परन्तु वहाँ से मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले हैं। ऐसी पुकार करते हैं। समझ में आया?

चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं... अस्ति-नास्ति की है। बात अस्ति से उठायी है। ध्रुव अर्थात् स्वभावपना, बस, इतना फिर स्पष्टीकरण करने को (कहते हैं)। चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं... परनिमित्त से होती है, वे कहीं स्थिर रहे? यह तो स्वभावपनेरूप होकर स्वभावभूत दशा हो गयी, इसलिए ध्रुव रह

गयी। चार गति में तो चाहे जो स्थिति हो, स्वर्ग आदि हो। वह कहीं अमर नहीं है। अमर तो बहुत काल रहता है, इसलिए कहते हैं। पश्चात् तो पर्याय पूरी हो, वहाँ हो गया। ओहो! अठारह सागर, बात नहीं हुई थी? आठवें देवलोक की अठारह सागरोपम की स्थिति और मिथ्यादृष्टि जीव कोई पुण्य करके आया। स्थिति पूरी हो गयी। आहाहा! कहाँ जाऊँगा? अठारह सागर में कहीं मरना भासित नहीं होता था। असंख्यात अरब वर्ष तो पल्लोपम में जाते हैं। ऐसे-ऐसे दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम और ऐसे अठारह सागर। कहीं अन्त भासित नहीं होता था। ऐसा जहाँ अन्त भासित हुआ... हाय... हाय... अब? अब क्या? जाओ कहीं। यह कहाँ स्वभावभूत गति थी? यह वापस कितने ही तिर्यच में जाते हैं। मनुष्य होते हैं... आहाहा! आठवें देवलोक का देव आत्मा के भान बिना, ध्रुवस्वरूप चिदानन्द के भान बिना वापस ढोर में जाता है। पशु पंचेन्द्रिय, हों! पंचेन्द्रिय हो, एकेन्द्रिय नहीं होता। आहाहा! कहाँ क्षण में पहले आठवाँ (देवलोक) और कहाँ क्षण पश्चात् तिर्यच! यह सब अस्थिर दशा है। चार गति पर निमित्त से होती होने से स्थिर नहीं होती। यह अठारह (सागर) भी पूरे हो गये, इकतीस भी पूरे हो गये नौवें ग्रैवेयक। मिथ्यादृष्टि अनन्त बार ३१ सागरोपम में गया। आत्मा के शुद्ध अन्तर सच्चिदानन्द प्रभु के अन्तरभान बिना इसमें ऐसा क्रियाकाण्ड अनन्त बार किया। नौवें ग्रैवेयक ३१ सागर में गया। उसका अन्त आ गया। गति है न? वह कहाँ वस्तु है? पर के निमित्तवाली गति पूरी हो गयी। नौवें ग्रैवेयकवाले मनुष्य में आते हैं। हाय... हाय... बस, हो गया? कहाँ गया सब? गया सब। था कब शाश्वत? समझ में आया?

चार गति पर के निमित्त से उत्पन्न होती होने से। राजा, महाराजा हुआ हो बड़ा। क्रोड़ पूर्व की आयुष्यवाला, लो न! महाविदेहक्षेत्र में यहाँ थे। अभी भगवान का करोड़पूर्व का आयुष्य है। सीमन्धर भगवान। यहाँ करोड़ पूर्व का आयुष्य था। ऋषभदेव का ८४ लाख पूर्व का, परन्तु उस समय के दूसरे... करोड़ पूर्व का, करोड़ पूर्व। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़, ५६ हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ऐसे-ऐसे करोड़ पूर्व। परन्तु है कितना काल? वह जहाँ पूरा हुआ... हाय... हाय...! यह सब मनुष्यगति, देवगति, नारकीगति, और पशुगति, ये परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। ध्रुव विशेषण से पंचम गति में विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया। ऐसा करके ध्रुव शब्द में बहुत समाहित कर दिया है। ध्रुव कहकर सिद्ध भगवान की स्थिति बतायी। दूसरे शब्द का बाद में आयेगा...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१७

श्री समयसार, गाथा-८७, प्रवचन - १६४

दिनांक - १३-०६-१९६९

बहुत दिनों से हिन्दी चलता है तो कोई गुजरातीवाले समझते नहीं। थोड़ा अभ्यास हिन्दीवालों को गुजराती (का) करना। इसलिए आज (गुजराती में लेते हैं।) देखो!

समयसार, कर्ता-कर्म का अधिकार। ८७ गाथा के ऊपर कोष्ठक में है, वहाँ से फिर से लेते हैं। देखो! (परद्रव्य के कर्ताकर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है, सो मिथ्यादृष्टि है;... क्या कहा? कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया को अपनी है, ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ, इस मान्यता को भगवान ने अज्ञान कहा है। थोड़ी-थोड़ी भाषा ख्याल में ले लेना। क्योंकि फिर सदा हिन्दी नहीं चलेगा। यहाँ तो गुजराती में बहुत है न! परद्रव्य के कर्ताकर्मपने की मान्यता को... आत्मा परद्रव्य की किसी भी पर्याय की क्रिया करे तो अपनी भी पर्याय करे और पर की भी करे, ऐसी दो क्रियावादी से वह मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होता है, ऐसा कहा।

श्रोता : अपनी न करे और पर की करे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अपनी पर्याय स्वयं करे। पर की करे कौन ? पर, पर की करे, इसमें प्रश्न कहाँ है ? स्वयं करे पर की और अपनी न करे, तो एक हो गयी न ? ऐसा कहाँ है ?

श्रोता : स्वयं कूटस्थ...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं भी कार्य बिना का ? पर्याय बिना का ? पर की (पर्याय को) करे, इतना तो वापस कर्ता हो गया न ? पर का कार्य हुआ, इतना तो वापस परिणमन आया। ऐसा है ही नहीं।

प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अर्थात् भिन्न-भिन्न, आत्मा और एक-एक परमाणु, अपनी-अपनी... पोतपोतानी अर्थात् अपनी-अपनी इतना थोड़ा समझ लेना। नहीं तो सदा हिन्दी नहीं चलता। यहाँ पर्यूषण में तो अकेली गुजराती चलेगी। पर्यूषण में बाहर से बहुत लोग आते हैं न ! चार सौ-पाँच सौ गुजराती लोग (आते हैं)। समझ में आया ? प्रत्येक आत्मा और

प्रत्येक परमाणु अपनी-अपनी वर्तमान पर्याय को-अवस्था को, बदलती क्रिया को करता है, पर की करता है - ऐसा माने वह अज्ञान और मिथ्यात्व है। यहाँ आशंका उत्पन्न होती है... ऐसा जब आपने कहा, तब उसमें समझने के लिये एक शंका उत्पन्न होती है, उसे आशंका कहते हैं। समझने के लिये शंका उपजे, वह आशंका है। आपकी बात मिथ्या है, ऐसा कहे तो वह शंका कहलाये, परन्तु आपकी बात मुझे समझने में आती नहीं, उसे मुझे समझनी है, उसे आशंका कहा जाता है। समझ में आया ?

यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु है? भगवान! हमारा प्रश्न है कि मिथ्यात्वभाव—विपरीत श्रद्धा, राग-द्वेष, अव्रत, कषाय आदि क्या चीज़ है? यह वस्तु क्या है? यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाए... मिथ्याश्रद्धा, राग-द्वेष, दया-दान आदि के भाव, इन्हें यदि जीव का परिणाम कहा जाए तो पहले रागादि भावों को पुद्गल का परिणाम कहा था... आप तो अभी तक ऐसा कहते थे कि पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, विकल्प जो है, व्रत, तप, शील, संयम इत्यादि जो विकल्प उठता है, वह सब पुद्गल के परिणाम हैं - ऐसा आपने तो कहा था।

श्रोता : ... कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहा था न। पहले से कहा था। और वह तो पुण्य-पाप के अधिकार में कहा है। समझ में आया? यह तो बहुत जगह कहा है। अपने तो यह सोलहवीं बार चलता है। सभा में सोलहवीं बार समयसार चलता है। पहले से पूरा-पूरा। समझ में आया? सोलह-सोलह। पूरा पहले से पूरा। पहले से पूरा सोलहवीं बार चलता है। यह कहीं पहला-पहला नहीं है, सोलहवीं बार पहले से चलता है।

यहाँ कहते हैं, यहाँ तो विशेष स्पष्टीकरण चलता है। शिष्य का प्रश्न है कि महाराज! आप मिथ्याश्रद्धा, अव्रत, प्रमाद, कषाय यह जो भाव है, उस भाव को आप क्या कहते हो? यह इस जीव के हैं या अजीव के हैं? यदि आप जीव का कहो तो पहले ऐसा कहते आये हो कि यह तो पुद्गल के परिणाम हैं, यह तो पुद्गल के परिणाम हैं। मिथ्यात्व राग, द्वेष, दया, दान, व्रत परिणाम, ये सब पुद्गल के परिणाम हैं, ऐसा अभी तक कहते आये हो। समझ में आया ?

मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं? यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाए तो पहले... तो पहले में इस जीव अधिकारादि में। इससे पहले भी सब आया है -५० गाथा। मिथ्यात्वादि भाव, रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहे थे। आपने तो दया, दान, व्रत, तप

का विकल्प उठता है, वह सब जड़, अचेतन, पुद्गल परिणाम कहा था। कहो, बराबर है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उस कथन के साथ विरोध आता है;... पुद्गल के परिणाम कहे और अभी यदि जीव के कहो तो पहले कथन के साथ विरोध आता है। तुम सुमेल किस प्रकार करते हो? पहले कहते थे कि मिथ्यात्व... आया न ५० गाथा में? २९ बोल का कचरा। मिथ्यात्व, राग, द्वेष, शुभ, अशुभ, अध्यवसाय, परिणाम, विकल्प, दया, दान, संयमलब्धिपरिणाम, गुणस्थान भाव सब पुद्गल के परिणाम हैं। चौदह मार्गणा—चौदह मार्गणा यह सब पुद्गल के परिणाम आपने तो कहे थे। समझ में आया? और यदि इन्हें—रागादि भाव को पुद्गल के परिणाम कहे थे, इसलिए जीव के परिणाम कहो तो विरोध आयेगा।

यदि उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा जाए... मिथ्यात्व को, राग-द्वेष के भाव को जड़ की दशा कहा जाए, जड़ के परिणाम कहा जाए तो जिनके साथ जीव का कोई प्रयोजन नहीं है... ये जीव के परिणाम—जीव के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं, तो उन परिणाम का फल जीव क्यों प्राप्त करे? मिथ्यात्व और राग-द्वेष यदि जड़ के कहो तो जीव को उनका फल दुःखरूप कैसे आता है? समझ में आया? कहो, यह तो समझ में आता है या नहीं अब गुजराती? दो प्रकार पूछे कि यह मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग यह तो क्या चीज है? यह यदि जीव के परिणाम कहो तो आपने पहले उन्हें पुद्गल के परिणाम कहे थे, उसके साथ विरोध आता है। यदि उन्हें पुद्गल के परिणाम कहो तो उसका फल दुःख तो जीव को आता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्वभाव का दुःख तो जीव को आता है। यदि पुद्गल के परिणाम हों तो उन्हें आत्मा को कुछ सम्बन्धित नहीं, तो दुःख का फल उसे कैसे आवे? कहो, बराबर है? पण्डितजी!

उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे? इस आशंका को दूर करने के लिये अब गाथा कहते हैं—) यह आशंका दूर करने को। शंका नहीं, परन्तु मैं समझ नहीं सका। मुझे समझने में नहीं आया। आप क्या कहना चाहते हो? घड़ीक में ऐसा कहो कि राग, वह पुद्गल के परिणाम; घड़ीक में कहो कि जीव के परिणाम। यह तो तुम क्या कहते हो? कहीं मुझे मिलान नहीं खाता। इसलिए मुझे समझना है। ऐसा समझने के लिये आशंका करे, वह दोष नहीं है। यह तो समझना चाहता है। परन्तु तुम कहते हो, ८७ (गाथा) वह मेल रहित है, झूठ है, ऐसा नहीं। इसका मेल किस प्रकार करना? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

मिच्छतं पुणं दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।

अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा॥८७॥

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है।

अविरमण, योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है।।८७।।

यह टीका लेते हैं। टीका – मिथ्यादर्शन... ८७ की टीका। यह प्रश्न समझने के लिये इसका उत्तर देते हैं। मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक, मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं, इसलिए वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं। क्या कहते हैं अब? यह कहे हुए की बात। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, अविरति, कषाय, योग, मोह, क्रोध। आदि शब्द है न! मूल पाठ में यह सब है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि जो प्रत्येक भाव मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं... जीव और अजीव द्वारा होते होने से वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं। अब क्या कहते हैं? इतनी बात की। अब उसे दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं।

इसे दृष्टान्त से समझाते हैं – जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव... घेरो समझते हो? अपने गुजराती में गहन, गहरा। गहरा... गहरा। गहरा बादली। गहरा नीला अर्थात् गहरा बादली और हरा, पीला इन वर्णरूप जो कि मोर के अपने स्वभाव से... देखो! मोर की पर्याय है मोर में। मोर के पीछे मोरनी है न वह? गहरा बादली, हरा आदि। मोर के अपने स्वभाव से मोर के द्वारा भाया जाता है (होता है)... मोर द्वारा होते हैं। मोर द्वारा होता है, लो! गुजराती आया और हिन्दी आ गया, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? मोर के द्वारा भाया... अर्थात् बनाने में अर्थात् मोर द्वारा होते हैं।

वह मोर ही है... बाहर मोहर है, उसका जो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श है, वह तो मोर ही है, वह कहीं दर्पण का नहीं है। और (दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाला) गहरा नीला,... और दर्पण है, उसमें जो मोर (दिखता है), यहाँ मोर है, उसका गहरा बादली आदि मोर है, परन्तु यहाँ जो गहरा बादली आदि होता है, वह दर्पण की स्वच्छता के विकार की दर्पण की अवस्था है। वह मोर की नहीं, मोर के कारण नहीं।

श्रोता : यह और नई बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो सिद्ध करना है। दर्पण में जैसे गहरा बादली आदि जो दिखता है, उसे क्या कहते हैं? देखो! (दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाला) गहरा नीला,... यह गहरा कहा वह। हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की)



स्वच्छता के विकारमात्र से... दर्पण की स्वच्छता है वह तो। दर्पण की स्वच्छता है। वह हरी, पीली जो दिखते हैं, वह दर्पण की अवस्था है, मोर में जो हरा दिखता है, वह मोर की अवस्था है, दोनों भिन्न अवस्था है। समझ में आया ? (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से... मात्र से क्यों कहा ? पर का कारण बिल्कुल नहीं है, ऐसा कहते हैं। (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाया जाता है, वह दर्पण ही है;... दर्पण को यहाँ जीव की उपमा दी है, मोर को अजीव की उपमा दी है। समझ में आया ? दर्पण को जीव की उपमा है और मोर को अजीव की उपमा है। इस उपमा से जीव-अजीव भाव को यहाँ सिद्ध करते हैं।

(दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाला) गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव... पर्याय। भाव शब्द से यहाँ पर्याय। जो कि (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाया जाता है, ... दर्पण द्वारा बनायी जाती है। वह दर्पण ही है;... दर्पण में जो हरी आदि अवस्था है, वह दर्पण द्वारा हुई है, मोर द्वारा नहीं। समझ में आया ? दर्पण में सामने मोर दिखता है न, दर्पण में यहाँ। वह दर्पण द्वारा हुई अवस्था है, मोर द्वारा हुई नहीं। दर्पण में मोर दिखता है—मोर, वह दर्पण द्वारा हुई अवस्था दर्पण की है, मोर द्वारा हुई अवस्था नहीं। मोर द्वारा मोर में हुई है।

श्रोता : मोर नहीं होता तो कैसे आकार होता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसे आकार होता है, इसका अर्थ क्या ? अपनी पर्याय में ऐसा आकार होता है, तब मोर है, परन्तु मोर द्वारा दर्पण की अवस्था हुई है, ऐसा बिल्कुल नहीं है।

श्रोता : ... काम नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम करता है, स्वयं से काम करता है - ऐसा कहते हैं।

श्रोता : वह वापस...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए 'पुण' शब्द रखा है। देखो न! 'पुण' शब्द पड़ा है ८७ में। 'मिच्छत्तं पुण' ऐसा कि द्वि-क्रियावादी को स्पष्ट करने के लिये हम यह कथन करते हैं। 'पुण' शब्द पड़ा है न ?

आत्मा अपने... दर्पण। वह दृष्टान्त है। दर्पण अपनी अवस्था को मोररूप जो दिखता है अन्दर, वह दर्पण द्वारा हुई और बनी हुई होती है; वह मोर द्वारा हुई नहीं और मोर में जो हरी, पीली, गहरा बादली अवस्था है, वह मोर द्वारा हुई—मोर द्वारा बनी हुई है, वह दर्पण द्वारा बनी

हुई नहीं है। गुजराती आवे परन्तु वस्तु तो सूक्ष्म होगी, वह आवे या नहीं ? बहिनों को तो परिचय नहीं होता, कुछ नहीं होता, सामायिक करो, प्रौषध करो। जय णमो अरिहन्ताणं। जाओ, इच्छामि पडिक्कमणेन तत्सुत्री करणेन। धूल में नहीं कुछ वहाँ। ... लो, काउत्सर्ग किया। कहाँ काउत्सर्ग था ? वहाँ तो सब मिथ्यात्व था। देह की क्रिया मैं करता हूँ, यह हाथ में ऐसा करता है, में शरीर को ऐसे रखता हूँ। यह सब देह की क्रिया का मिथ्यात्व अभिमान, मिथ्यात्वभाव है।

**श्रोता :** मोर की तरह है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मोर की तरह है। समझ में आया ? आहाहा !

**(दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से...** विकारमात्र से का अर्थ कैसे ? कि मोर के कारण से बिल्कुल नहीं, ऐसा कहते हैं। दर्पण अपनी स्वच्छता की विशेष अवस्था द्वारा उस प्रकार से बनी हुई अवस्था अरीसा से है—दर्पण से है, मोर से बिल्कुल नहीं। इसमें बड़ा विवाद उठे। मोर न हो तो वहाँ कैसे हो ? अरे ! परन्तु न हो, इसका प्रश्न कहाँ यहाँ रहे ?

**श्रोता :** यहाँ हो और मोर न हो, ऐसा बने किसी दिन ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह 'बनी हुई' साधारण (अर्थ) नहीं समझते ? हुई, थई। ऐसे थोड़े-थोड़े शब्द तो पण्डित लोग समझते हैं या नहीं ? हम तो गुजराती-काठियावाड़ी। हमारी काठियावाड़ी भाषा है। बनी हुई, स्वयं से हुई। समझ में आया ? यह तो कितने दिन से महीने से, सवा महीने से हिन्दी चलता है। आज तो गुजराती कहे चलाओ। हम समझते नहीं, ऐसा कहते हैं। इसलिए यहाँ आवे उसे थोड़ा (गुजराती सीख लेना चाहिए)। कैलाशचन्द्रजी ने लिखा था एक बार। कैलाशचन्द्रजी ने, कि भाई ! स्वामीजी के पास जाना हो तो गुजराती सीखकर जाना। क्योंकि उनकी भाषा गुजराती काठियावाड़ी है। अतः उनकी गुजराती भाषा में किस प्रकार से आता है, वैसा हिन्दी में नहीं आता। इसलिए गुजराती सीखना। लेख लिखा था।

**श्रोता :** लिखा था, परन्तु कोई अमल नहीं करता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कोई अमल नहीं करता। यह तो मुझे ख्याल है। क्योंकि जैसी गुजराती में स्पष्टता आती है, वैसी हिन्दी में नहीं आ सकती। हिन्दी का अभ्यास नहीं है न।

**श्रोता :** गुजराती सिखाओ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हम सिखावे या अपने आप सीखो ? यहाँ हिन्दी और गुजराती

शब्दकोश बनाया है। हिन्दी और गुजराती छोटा शब्दकोश बनाया हुआ है। चन्दुभाई के पास है। देंगे। आये हैं न? हिन्दी और गुजराती का शब्दकोश बनाया है। क्योंकि यहाँ तो हिन्दी लोग बहुत आते हैं न? तो कहीं हमेशा हिन्दी चले? यहाँ तो बहुत लोग गुजराती होते हैं। पर्यूषण में तो बिल्कुल हिन्दी नहीं चलती। यहाँ स्थानकवासी के जो पर्यूषण आठ दिन आते हैं, तब तो बहुत लोग बाहर से आते हैं। गुजराती काठियावाड़ी चलती है। तब तो सवेरे और दोपहर गुजराती ही चलती है। समझ में आया? थोड़ा अभ्यास करना। ऐसी बात है, भाई!

कहते हैं कि वह दर्पण है। यह दृष्टान्त दिया। दृष्टान्त समझे? कि मोर की अवस्था में जो अवस्था है, वह मोर द्वारा हुई है। लो! बनी हुई है, थयेली छे-हुई है, होता है, उससे होता है और दर्पण की अवस्था में जो मोर दिखता है, वह दर्पण द्वारा हुई (अवस्था) है। दर्पण में मोर दिखता है, वह दर्पण द्वारा हुई है, मोर द्वारा नहीं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

**इसी प्रकार...** अब यह तो दृष्टान्त दिया। मोर और दर्पण का दृष्टान्त। मोर की अवस्था मोर द्वारा होती है। कहो, ऐसा तो समझ में आता है या नहीं? और दर्पण की अवस्था दर्पण द्वारा होती है। दर्पण की अवस्था मोर द्वारा नहीं होती और मोर की अवस्था दर्पण द्वारा नहीं होती। बहुत सादी भाषा है।

**श्रोता :** मोर की अवस्था दर्पण द्वारा नहीं होती, यह तो हमें स्वीकार है परन्तु दर्पण की अवस्था का क्या?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसकी उस दर्पण द्वारा होती है, मोर द्वारा बिल्कुल एक प्रतिशत भी नहीं होती। बहुत से ऐसा कहते हैं, हों! इसमें विवाद करते हैं। देखो, भाई! सिर पर मोर है तो वैसी पर्याय दर्पण में आती है। मोर हटा दो तो कहाँ से रहे? परन्तु कौन हटावे, सुन तो सही। मिथ्या अभिमान है।

**श्रोता :** मोर की जगह बिल्ली का दृष्टान्त क्यों नहीं?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बिल्ली हो। भले बिल्ली हो, तो बिल्ली लो। बिल्ली की अवस्था बिल्ली में है और बिल्ली जो दर्पण में दिखती है, वह दर्पण की अवस्था है। बिल्ली दर्पण में ऐसी दिखती है और वह दर्पण की अवस्था है। दर्पण की अवस्था दर्पण से बनी है, बिल्ली से बनी हुई नहीं। बिल्ली में बहुत रंग नहीं हैं, इसलिए दृष्टान्त नहीं दिया। इसमें तो हरा, पीला और गहरा रंग है न! इसलिए यह दृष्टान्त दिया है।

**श्रोता :** मिथ्यात्व, कषाय...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, देना है न। मिथ्यादर्शन, अत्रत, प्रमाद, कषाय। मोर में सब है न? मोर में सब रंग है। कहो, समझ में आया?

इसी प्रकार... मोर और दर्पण के दृष्टान्त की भाँति मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव... मिथ्यादर्शन दर्शनमोह की पर्याय, अज्ञान ज्ञानावरणी की पर्याय, अविरति चारित्रमोह की पर्याय। समझे? इत्यादि... सामने ले लेना। योग—वह जड़ की पर्याय। अन्दर नामकर्म की (पर्याय)। मोह जड़ की पर्याय, क्रोध, मान, माया जड़ की पर्याय। सामने पुद्गल में। अविरति इत्यादि भाव... भाव शब्द से यह पर्याय है। भाव शब्द से यह पर्याय है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव... अर्थात् पर्याय। जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा भाये जाते हैं... अजीव द्वारा होते हैं। वे अजीव ही हैं... क्या कहा? पुद्गल में दर्शनमोह की जो अवस्था हुई, वह पुद्गल में मिथ्यादर्शन। पुद्गल में मिथ्यादर्शन अवस्था, दर्शनमोह की अवस्था, वह पुद्गल की मिथ्यादर्शन अवस्था है। अज्ञान... ज्ञानावरणी का उदय पुद्गल में हुआ, वह पुद्गल की अज्ञान अवस्था—पुद्गल की अज्ञान अवस्था।

अविरति... चारित्रमोह का उदय पुद्गल की अवस्था हुई, वह अविरति जड़ की अवस्था है। इसी तरह योग। जड़ में कम्पन हुआ। आकर्षण पुद्गल में (हुआ)। पुद्गल की अवस्था वहाँ योग (की हुई) वह अजीव अवस्था। ऐसा मोह। वहाँ मोहकर्म का उदय वह जड़ की अवस्था है। क्रोधादि—क्रोध, मान, माया, लोभ वह कर्म का—चारित्रमोह का उदय, वह जड़ की अवस्था। इत्यादि भाव जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से... देखो! यह पुद्गल के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव द्वारा हुआ है। उस अजीव द्वारा दर्शनमोह की पर्याय हुई है। आत्मा ने मिथ्यात्वभाव किया, इसलिए दर्शनमोह की अवस्था हुई है, ऐसा नहीं है।

**श्रोता :** गोम्मटसार पड़ा हो, उसे कठिन पड़े।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कठिन कुछ (नहीं)। सब गोम्मटसार भी बराबर है। निमित्त से समझाते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि जीव ने मिथ्यात्वभाव किया (कि) राग मेरा है, मैं दुःखी हूँ, मैं पर से सुखी हूँ या राग का करनेवाला हूँ, मैं पुण्य की क्रिया का करनेवाला हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह मिथ्यात्वभाव है तो वहाँ सामने दर्शनमोह की पर्याय होती है, ऐसा नहीं है।

समझ में आया ? वह तो अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से... पोताना समझे ? अपना समझ लेना । पोताना अर्थात् अपना-खुद का ।

अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव... देखो ! यह तो द्रव्यस्वभाव, यह पुद्गल का द्रव्यस्वभाव है । दर्शनमोहरूप परिणमना, वह पुद्गल का द्रव्यस्वभाव; चारित्रमोहरूप होना, वह पुद्गल का द्रव्यस्वभाव; कम्पन-योग की अन्दर शरीर की नामकर्म की प्रकृतिरूप होना, वह जड़ का द्रव्यस्वभाव, उस द्रव्यस्वभाव से—अजीव द्वारा बनता है । पुद्गल की अवस्था जड़ में अजीव द्वारा होती है, आत्मा द्वारा नहीं होती । आत्मा ने राग किया, इसलिए चारित्रमोह की पर्याय वहाँ हुई, ऐसा नहीं है । चारित्रमोह की पर्याय में द्रव्यस्वभाव—पुद्गल के द्रव्यस्वभाव के कारण चारित्रमोह की पर्याय हुई । यहाँ राग किया, इसलिए चारित्रमोह की पर्याय हुई—ऐसा नहीं है । आहाहा ! कहो, समझ में आया ? सुना किसी दिन न हो, विचार न किया हो, ऐसे-वैसे ऊपर-ऊपर से अन्ध चाल से चलता जाता है । जीव और अजीव दो भिन्न हैं । ऐसा कहे अवश्य । अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व, जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व । आता है न ? पच्चीस मिथ्यात्व में आता है । पच्चीस मिथ्यात्व स्थानकवासी सम्प्रदाय में ( आते हैं ) ।

कहते हैं जो दर्शनमोह की पर्याय जड़ में हुई, वह द्रव्य के पुद्गल स्वभाव के कारण हुई । जीव ने यहाँ मिथ्यादर्शन अभिप्राय किया, इसलिए दर्शनमोह की पर्याय हुई, ऐसा नहीं है । इसी तरह जीव ने अज्ञान किया—अज्ञान—स्वरूप का अज्ञान ( किया ), इसलिए ज्ञानावरणीय के पर्यायरूप उदय आया वहाँ ज्ञानावरणीय में—जड़ में, ऐसा नहीं है । वह ज्ञानावरणीय की पर्याय पुद्गल द्रव्यस्वभाव के कारण हुई है, जीव के अज्ञान के कारण नहीं ।

इसी प्रकार अविरति... जीव ने अत्यागभाव, सम्यग्दर्शनसहित या रहित, जितना अन्दर अत्यागभाव का परिणमन जीव में है, इसलिए वहाँ चारित्रमोह की प्रकृति में अविरति जड़ की पर्याय हुई, ऐसा नहीं है । समझ में आया ? अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से... देखो ! यह द्रव्यस्वभाव कहा । यह विकारी पर्याय भी द्रव्य का स्वभाव कहा, भाई ! यहाँ । यह जो द्रव्य का स्वभाव, पुद्गल का स्वभाव है । दर्शनमोहरूप होना, वह पुद्गलद्रव्य का स्वभाव है । चारित्रमोहरूप होना, वह पुद्गल का है तो स्वभाव है । वह द्रव्य का स्वभाव उस पर्यायरूप से उस समय में परिणमना, ऐसा उसका स्वभाव है ।

श्रोता : स्वभाव है तो फिर कभी मिटेगा नहीं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस स्वभाव का प्रश्न ( नहीं है ) । स्पष्ट भवनं स्वभावः । अपनी

पर्याय अपने से हुई, इसलिए स्वभाव। विकारी हो या अविकारी हो, उसके साथ अभी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! स्पष्ट भवनं। कहा न? स्पष्ट अर्थात् अपना द्रव्यस्वभाव। स्पष्ट भवनम् अर्थात्। परमाणु में अपने द्रव्यस्वभाव के कारण वह दर्शनमोह की पर्याय हुई है, चारित्रमोह की पर्याय हुई है, क्रोध, मान, माया, लोभ की जड़ की अपने द्रव्यस्वभाव के कारण कर्म में पुद्गल के स्वभाव के कारण हुई है, जीव के भाव के कारण वहाँ हुई है, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया ?

और मिथ्यादर्शन, ... अब जीव की बात ली है। जीव में जो मिथ्या अभिप्राय जीव करता है, वह जीव की पर्याय जीव द्वारा बनी हुई है, दर्शनमोह के उदय द्वारा बनी हुई है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? मिथ्यादर्शन, ... दया, दान, व्रत, परिणाम वे मेरे हितकर हैं, वह पुण्य मेरी चीज़ है, मुझे लाभदायक है—ऐसे जो मिथ्यादर्शन के परिणाम—ऐसे जो मिथ्यादर्शन के परिणाम, वे जीव द्वारा भाये हुए हैं—जीव द्वारा हुए हैं, वे दर्शनमोह द्वारा हुए नहीं हैं। कहो, समझ में आया ? मिथ्यादर्शन, अज्ञान, ... ज्ञानावरणी का उदय, निमित्त और यहाँ अज्ञान। अपने स्वरूप का भान नहीं, वह अज्ञान जीव के द्वारा हुआ है, जीव से हुआ है, जीव ने किया है। वह अज्ञान ज्ञानावरणीय की पर्याय के कारण से अज्ञान है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। कहो, समझ में आया ?

श्रोता : बिल्कुल नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल जरा भी नहीं। इसलिए तो कहते हैं, देखो न!

चैतन्य के विकारमात्र से... ऐसे शब्द हैं न? मात्र शब्द पड़ा है। ओहो! मिथ्यादर्शन का अभिप्राय जीव ने अपनी विकारमात्र की अवस्था से किया है; नहीं कि दर्शनमोह का उदय है, इसलिए यहाँ जीव विकार परिणमता है, ऐसा है नहीं। ओहोहो! सिखाया ऐसा सबको, लो! दर्शनमोह का उदय हो तो मिथ्यात्व होता है। देखो! समझ में आया ? चारित्रमोह का उदय हो तो राग होता है। वेद का उदय हो तो वेद की वासना होती है। सब झूठी बात है, सब झूठी बात है।

उसमें यह था। ज्ञानावरणीय... ज्ञानावरणीय। ज्ञानावरणीय में होगा ? अज्ञान, अज्ञान के कारण से होता है। अपने स्वरूप में अज्ञान अपना अपने कारण से होता है। ज्ञानावरणीय के कारण से बिल्कुल नहीं। आहाहा! सब लिया है न यह। टेपरिकार्डिंग लिया है। समझ में आया ? उसमें यह सब लिया है। इस ज्ञानावरणीय के कारण से होता है। है या नहीं

इसमें ? कहाँ है ? है उसमें ? कौन सी यह ? पहली ? यह क्या है ? यह नहीं । यह तत्त्वार्थसूत्र है ।...

‘विभाव और बात है । यह तो ज्ञानावरणादि कर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम है । तत् कर्तम् भाव से आत्मा का ज्ञान अधिक विकास होता है । जितना उदय होता है, उतना अज्ञान रहता है । जितना ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होगा, उतना ही अज्ञान रहेगा । जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगा, उतना ज्ञान रहेगा ।’ ऐई ! पण्डितजी ! नहीं है ? फिर रतनचन्द्रजी पूछते हैं । ‘कानजीस्वामी यह कहते हैं, महाराज !’... यह (संवत्) २०१३ के वर्ष की बात है । बारह वर्ष हुए । ‘कानजीस्वामी यह कहते हैं, महाराज ! ज्ञानावरणादि कर्म कुछ नहीं करते ।’ आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म कुछ नहीं करते, ऐसा कहते हैं । अपनी योग्यता से ज्ञान में हीनाधिकता होती है, ऐसा कहते हैं वे तो । वही यह चलता है । वध-घट हमारी भाषा । कमी-वेसी तुम्हारी भाषा । ज्ञान में हीनाधिकपना होता है, वह स्वयं के कारण से होता है, कर्म के कारण से—ज्ञानावरणीय के कारण से बिल्कुल नहीं, कहो, ‘अपनी योग्यता से होती है । कानजीस्वामी यह कहते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्म कुछ नहीं करते । तो महाराज ! क्या यह ठीक है ?’ वर्णीजी जवाब देते हैं । ‘यह ठीक है ? आप ही समझो । कैसे ठीक है ? कि ठीक नहीं है । कोई भी कहे चाहे, हम तो कहते हैं कि अंगधारी भी कहे तो ठीक नहीं ।’ यह टेपरिकार्डेड है । प्रकाशित हुई थी । बाहर आ गयी ।

श्रोता : शिखरजी के समय ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शिखरजी के समय । दो बार प्रकाशित हुई है ।

श्रोता : निर्णय क्या हुआ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बात झूठी है । ऐसी बात है नहीं । यह बात अपने यहाँ चलती है ।

श्रोता : द्विक्रियावादी की बात चलती है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्विक्रियावादी की बात चलती है । यह चर्चा हुई थी अन्दर में हमारे । नहीं, बिल्कुल नहीं । विकार और ज्ञान की हीनता तो स्वयं से होती है, पर से बिल्कुल नहीं । उसके सामने विरोध किया है । टेपरिकार्डिंग में है ।

यहाँ यह कहते हैं, देखो ! मिथ्यादर्शन, अज्ञान, ... देखो, अज्ञान । अविरति... जीव की पर्याय । इत्यादि भाव... इत्यादि में लेना योग, मोह, क्रोधादि । जो कि चैतन्य के विकारमात्र से... देखो ! चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं... भाये जाते

हैं। भाये अर्थात् बनाये जाते हैं। जीव द्वारा बनाये जाते हैं, जीव द्वारा होता है—जीव द्वारा होता है। वे जीव हैं। कहो, पण्डितजी! ज्ञानावरणीय का उदय है तो यहाँ हीन अवस्था होती है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो, इसलिए यहाँ क्षयोपशम अवस्था हो, ऐसा है नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह तो बड़ी विरुद्धता। दो द्रव्यों की एकता है यहाँ तो अभी। राग से भिन्न की तो बात ही कहाँ रही? समझ में आया?

दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के परिणाम, वे तो शुभ पुण्य। स्थूल परिणाम, वे तो स्थूल परिणाम हैं। अपने स्वभाव से भिन्न हैं। समझ में आया? अज्ञानी उन्हें मोक्ष का कारण मानता है। संवर-निर्जरा का कारण (मनता है)। व्रत, तप, नियम, संवर-निर्जरा का कारण अज्ञानी मानता है। वह तो शुभभाव है, बन्ध का कारण है। व्रत, तप, शील... समझ में आया? वह शुभभाव विकल्प है, राग है, है राग अपनी पर्याय—जीव की; जड़ की नहीं, इतना यहाँ सिद्ध करना है। परन्तु अज्ञानी तो राग की पर्याय पर से होती है, ऐसा मानता है और उस राग से धर्म होता है, ऐसा मानता है, इसलिए डबल भूल है। समझ में आया?

अजीव कर्म है, अजीव तत्त्व है, उसके कारण आस्रव तत्त्व हुआ। अर्थात् अजीव और आस्रव दोनों एक हो गये। उसके कारण आस्रव हुआ। पुण्य परिणाम आस्रव, वह अजीव के कारण आस्रव। अजीव और आस्रव एक कर दिये। यह मिथ्यात्व भ्रम है। और पुण्य-पाप परिणाम, आस्रव हैं, उनके कारण धर्म होता है तो आस्रव और संवर को एक कर दिया। समझ में आया? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! है तो बहुत सीधी और सरल परन्तु लोगों को मिली नहीं न, आड़े रस्ते चढ़ गये। ऐई! दीपचन्दजी!

देखो न! पहले जो मिथ्यादर्शन कहा था, वह जड़ की पर्याय। वह मोर में लागू पड़ती है और यह जो मिथ्यादर्शन, वह दर्पण में लागू पड़ता है। जैसे दर्पण की अवस्था दर्पण से हुई है; उसी प्रकार जीव की मिथ्यादर्शन, अज्ञान, राग-द्वेष अवस्था जीव से हुई है; अजीव के कारण से बिल्कुल है नहीं। मोर के कारण से दर्पण में अवस्था नहीं होती; इसी प्रकार जीव की अवस्था कर्म के उदय के कारण से बिल्कुल नहीं होती। मोर का दृष्टान्त अजीव है, दर्पण का दृष्टान्त जीव के साथ मिलाना। जीव और मोह। समझ में आया? अरे! भावार्थ में तो वापस राग से भिन्न करने का कहते हैं, हों! अकेला स्वाद यह मेरा है और पर का स्वाद नहीं तो वह स्वाद मेरा, वहाँ तक तो मिथ्यात्व है। यह तो मिथ्यात्व के नाश की बात करते हैं। बात आगे ले जाते हैं। स्वाद अलग है, वह जड़ का स्वाद है, अजीव है, तब तो फिर विकार मेरा है—ऐसा हुआ



अन्दर। विकार मेरा है, तब तक तो मिथ्यादर्शन है। समझ में आया? आहाहा! भारी अन्तर की बातें, भाई!

यह तो वास्तविक पदार्थ की दृष्टि है। समझ में आया? यह यथार्थ समझ बिना—यथार्थ ज्ञान बिना इसे स्वरूप की रुचि नहीं होगी और स्वरूप की रुचि बिना उसका अनुभव, सम्यग्दर्शन अनुभव नहीं होगा और जब तक सम्यग्दर्शन अनुभव नहीं, तब तक जरा भी धर्म नहीं, जरा भी अंश भी धर्म नहीं। चाहे तो पंच महाव्रत की क्रिया और अट्ठाईस मूलगुण पालन कर मर जाए, सूख जाए। 'क्लिष्यताम्' आता है न? 'क्लिष्यताम्' मर जाए, सूख जाए, चूरा हो जाए। शरीर को जीर्ण करके। तपस्या और व्रत... तेरा सब रण में शोर मचाने जैसी बात है। रणमां पोख। समझे? अरण्य रुदन। हमारी काठियावाड़ी (भाषा में कहते हैं) रणमां पोक मूके। अरण्य रुदन। वहाँ कौन सुने?—कोई सुने नहीं। आहाहा! इसी प्रकार तेरे पुण्य के विकल्प से तू धर्म माने तो कहाँ से होगा? यहाँ तो अभी तो पर से मुझमें विकार (होता है, ऐसा मानता है), देखो! कर्म के उदय से मुझे शुभभाव हुआ। ऐसा हुआ न इसे? शुभभाव मेरी पर्याय, परन्तु कर्म के कारण से हुई। अजीव से शुभभाव हुआ, ऐसा माना—आस्रव और उस शुभभाव से मुझे धर्म हुआ, इसलिए तीनों का खिचड़ा कर डाला। अजीव से पुण्य और पुण्य से धर्म। शुभभाव से धर्म। व्रत, नियम, यह शुभभाव है, इससे धर्म अर्थात् अजीव से आस्रव, आस्रव से संवर।

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसमें आ गया। कहो, समझ में आया?

पहले मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति कषाय आदि जो भाव थे, वह जड़ की पर्याय थी, पुद्गल की। वह पुद्गल की है, पुद्गल में है। जैसे मोर की पर्याय मोर में है। मोर की पर्याय कहीं दर्पण के कारण नहीं और दर्पण की पर्याय दर्पण के कारण से है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान वह दर्पण की अवस्था है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, क्रोध, योग, मोह इत्यादि पर्याय जो कि चैतन्य के विकारमात्र से... चैतन्य के विशेष विकृतमात्र से। मात्र से, ऐसा कहते हैं। निमित्त बिल्कुल कुछ करता नहीं, ऐसा कहते हैं। जीव द्वारा जीव के द्वारा... आत्मा द्वारा। आहाहा! देखो यहाँ। भाये जाते हैं। जीव द्वारा ये बनाये जाते हैं। जीव द्वारा पर्याय विकारी बनायी जाती है। वे जीव हैं। ओहोहो! समझ में आया? ३२० गाथा चली थी। ३२० गाथा है न? समयसार की चली थी। राजकोट।

श्रोता : भिन्न है ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** जीव द्वारा भाये जाते हैं । वहाँ तो ऐसी बात है कि अपना भगवान जो ध्रुव परमस्वभाव है, परम पारिणामिकभाव... आज आ गया था पृष्ठ, हाथ में आ गया । ३२० गाथा है न ? जयसेनाचार्य की टीका, उसका गुजराती बनाया । राजकोट से माँग थी । बहुत सूक्ष्म है । राजकोट की माँग थी, तो फिर यहाँ व्यक्ति मिला नहीं । हिन्दी से बात कर नहीं सकते । संस्कृत में से कह नहीं सकता । गुजराती होवे तो स्पष्ट करूँ । अतः फिर भाई ने गुजराती बनाया । बहुत सूक्ष्म है । आठ व्याख्यान हुए थे ।

उसमें तो यहाँ तक कहा है, उसमें जयसेनाचार्य की टीका है । भगवान आत्मा जो परमपारिणामिक ध्रुव स्वभाव है, उसमें तो बन्ध भाव नहीं, मोक्ष भाव नहीं, मोक्षमार्ग की पर्याय नहीं, बन्ध के कारणरूप पर्याय नहीं । इन चार पर्याय से रहित ध्रुव स्वभाव वह आत्मा है, आत्मा है । ध्रुव स्वभाव वह आत्मा है, ऐसा कहा । उत्पाद-व्यय वह परमार्थ आत्मा नहीं । उत्पाद-व्यय; मोक्ष की पर्याय भी उत्पाद-व्यय है । मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पाद-व्यय है । बन्ध भी उत्पाद-व्यय है, बन्ध का मार्ग भी उत्पाद-व्यय है । अर्थात् समयपर्याय है । उस पर्यायरहित वह त्रिकाली द्रव्य है, वह जीव का वास्तविक परमार्थस्वरूप है । समझ में आया ? है न उसमें है अभी, हों ! मूल तो उसमें है ।

शुद्ध पारिणामिकभाव बन्ध के कारणरूप जो क्रिया—रागादि परिणति, उसरूप नहीं; मोक्ष के कारणरूप क्रिया शुद्धभाव की परिणति उसरूप भी नहीं । इसमें नहीं । जयसेनाचार्य की टीका की बात है । बहुत सूक्ष्म बात है, बहुत सूक्ष्म है । देखो ! सिद्धान्त में कहा है कि शुद्ध पारिणामिकभाव निष्क्रिय है । त्रिकाल भाव, ध्रुव भाव निष्क्रिय है । उसमें मोक्ष की पर्याय की क्रिया नहीं है, मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, ध्रुव चैतन्य है, उसमें वे नहीं हैं । समझ में आया ? परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं और मरता भी नहीं तथा बन्ध और मोक्ष करता भी नहीं - ऐसा श्री जिनवर कहते हैं परमात्मप्रकाश में ।

यहाँ तो भगवान आत्मा, यहाँ तो अभी तो पर से भिन्न बताते हैं । समझ में आया ? परन्तु अभी पर से भिन्न मेरी पर्याय मुझसे (होती है) और उसकी पर्याय उससे (होती है), इतना निर्णय करना न आवे, उसे विकारी और अविकारी पर्याय से मेरी चीज़ अत्यन्त भिन्न है, (यह किस प्रकार निर्णय करेगा ?) भिन्न है द्रव्यस्वभाव, वह सम्यग्दर्शन का विषय है । निष्क्रिय ध्रुव, वह सम्यग्दर्शन का विषय है । मोक्ष और मोक्ष का मार्ग, यह सब सम्यग्दर्शन का विषय

नहीं। बहुत सूक्ष्म है। वहाँ तुम्हारे लालभाई हैं न राजकोट में? लालचन्दभाई ने बहुत सूक्ष्म अभ्यास किया है, बहुत सूक्ष्म। वहाँ जाएं तो सूक्ष्म-सूक्ष्म माँगते हैं। सूक्ष्म में सूक्ष्म बात लाओ। बोलो भाई कौन-कौन सी गाथा (लेनी है?) तो लिखे कि यह गाथा... यह गाथा... बहुत अभ्यास। परमात्मप्रकाश में से... बहुत सूक्ष्म अभ्यासी, बहुत आत्मारथी, अन्तर में बहुत मन्थन है। वहाँ पढ़ते हैं। वे आये थे। रविवार को आवे तो आवे। परसों। कल शनिवार है। रविवार को आवे तो आवे। इस रविवार को। वहाँ जाएँ तो सूक्ष्म माँगते हैं। तीन सौ घर हैं। अपने घर हुए। श्वेताम्बर में से दिगम्बर हुए।

यहाँ कहते हैं, भगवान! दर्पण की अवस्था तो स्वयं से स्वयं के द्वारा स्वयं में षट्कारक से हुई है। वह मोर के कारण बिल्कुल नहीं। मोर की अवस्था दर्पण के कारण बिल्कुल नहीं। यह तो अभी लोगों को जँचता है। ठीक है, भाई! यह तो अभी ठीक लगता है। मोर की अवस्था दर्पण के कारण नहीं, परन्तु यदि मोर न हो तो दर्पण में अवस्था नहीं होती, तो मोर आया तो दर्पण की अवस्था का परिणामन उसके कारण हुआ? उसके अस्तित्व के कारण हुई?— बिल्कुल नहीं। स्वयं की उस पर्याय के अस्तित्व के कारण वह परिणामन दर्पण में स्वयं से हुआ है, मोर है; इसलिए हुए है, मोर का अस्तित्व सामने है; इसलिए हुआ है—यह बात बिल्कुल झूठ है। मोर की पर्याय का सत् सत् में और दर्पण की पर्याय का सत् दर्पण में। इसी प्रकार आत्मा की पर्याय—राग-द्वेष, मिथ्या अभिप्राय की पर्याय जीव में और पुद्गल की पर्याय जड़ में। जड़ की पर्याय के कारण किञ्चित् मिथ्यादर्शन और अज्ञान तथा राग-द्वेष यहाँ होते हैं यह बिल्कुल झूठ बात है।

**श्रोता :** आपके उपदेश में राजकोट में...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो होनेवाला होता है। क्या होता है? पर से कहाँ होता है? समझ में आया?

**श्रोता :** चरणानुयोग में तो इसी प्रकार से कहते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह तो निमित्त से कथन है। चरणानुयोग में निमित्त से कथन है, वस्तु ऐसी नहीं है। निमित्त से कथन है कि ज्ञान अपनी पर्याय हीन करता है, उसका कर्ता जीव है; तब एक निमित्त चीज है, उससे हुआ—ऐसा व्यवहारनय से कथन है, अर्थात् ऐसा है नहीं। ऐसा सबमें ले लेना। यह तो पूरा गोम्मटसार का अधिकार—करणानुयोग में अधिकार ही ऐसे आते हैं। परन्तु वह अनुकूल है न, इतना निमित्त? इस अपेक्षा से। अनुकूल का अर्थ व्यवहार से, हों!

**श्रोता :** उस समय में वह एक ही बात थी...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दूसरा पक्ष नहीं था। एक ही चलता था। आहाहा!

**चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा...** भाषा देखो! जीव द्वारा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का विकल्प जीव द्वारा होते हैं, बनता है। जीव द्वारा होता है। तुम्हारे बनता है, ऐसा कहते हैं। जीव द्वारा होता है। भाने का अर्थ जीव द्वारा होता है, कर्म द्वारा होता है—ऐसा नहीं। समझ में आया? **वे जीव हैं।** आहाहा! वे जीव ही हैं। गजब भाई! जीव है। वह अज्ञानी मानता है कि मेरे विकार परिणाम तो जड़ के किये हुए, इसलिए मेरे नहीं हैं। अरे! सुन-सुन। किस अपेक्षा से कहा? यह तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराने को, द्रव्य स्वभाव की दृष्टि / सम्यग्दर्शन के लिये। पुण्य, पाप, दया, दान सब अचेतन जड़। यह तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने के लिये कहा है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि **चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा...** विकारी पर्याय हुई है, कर्म द्वारा विकारी पर्याय हुई नहीं। देखो! इसमें तो कितनी स्पष्टता है! आत्मा में जितना विकार होता है और जितना अज्ञान होता है, जितना क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट, विकार, दया, दान आदि हो, वह जीव ने किया हुआ विकार है, उसमें कर्म का कुछ अधिकार नहीं है। कर्म के कारण बिल्कुल नहीं, ऐसा भगवान सिद्ध करते हैं। आहाहा! कहो, पण्डितजी! क्या कहा? तो कर्म निकम्मे हो गये?

**श्रोता :** कर्म जहाँ है, वहाँ स्वयं में है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** स्वयं में है? कर्म कर्म में रहे, जड़ जड़ में रहा, भगवान भगवान में रहा आत्मा। आत्मा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अब्रत, क्रोध, मान, माया, योग, कम्पन, वह जीव द्वारा हुई पर्याय है; नहीं कि कर्म द्वारा वह पर्याय हुई है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की पर्याय हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

**जीव ही है।** एक ओर कहते हैं कि मोक्ष की पर्याय जीव नहीं है। मोक्ष का मार्ग, वह जीव नहीं है। यह किस अपेक्षा से? वह तो पर्याय का अंश है, वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। ध्रुव भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव चैतन्यबिम्ब निष्क्रिय जो ध्रुव, उसमें एक समय की पर्याय का सर्वथा अभाव है। द्रव्य में एक समय की पर्याय—मोक्ष की, केवलज्ञान की, ध्रुव स्वरूप में सर्वथा अभाव है। यह बात तो द्रव्यदृष्टि कराने को, सम्यग्दर्शन का विषय बताने को यह बात की है। सर्वथा। कहो, क्या है?

श्रोता : सर्वथा... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वथा, कहो क्या है ? यह नय तो सर्वथा है न ! पूरे द्रव्य की बात करे तो द्रव्य और पर्याय की, परन्तु द्रव्य जो ध्रुव है, वह तो सर्वथा पर्यायरहित है और पर्याय है, वह सर्वथा ध्रुवरहित है। नहीं तो दो सिद्ध किस प्रकार होंगे ? समझ में आया ? ऐसा वीतराग का मार्ग समझे बिना कल्पना से बातें करे, प्ररूपणा करे, पूरी गड़बड़ हो। वीतरागमार्ग से विपरीत पूरी शैली चलती है। और माने कि हमने कुछ धर्म की कथा की। होवे मिथ्यादर्शन की कथा, विपरीत मान्यता की कथा और माने कि हमने धर्मकथा की। आहाहा ! धर्म छेदनी, समकित दर्शन की छेदनी कथा है। पच्चीस प्रकार की कथा चली है। कैसा कहलाता है ? तरंगिणी। सुदृष्टि तरंगिणी है न ? सुदृष्टि तरंगिणी, टेकचन्दजी बनायी हुई। उसमें पच्चीस प्रकार की विकथा कही है। उसमें एक विकथा ऐसी ली है कि जिसमें से समकित का, श्रद्धा का नाश हो। यह राग से धर्म मनावे, कर्म से आस्रव हो, ऐसा मनावे, वह सब दर्शनभ्रष्ट कथा है। वह सब प्ररूपणा समकित से भ्रष्ट करनेवाली है। वह विकथा है, वह धर्मकथा नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? लो ! दोनों बातें की। दर्पण और मोर। मोर की अवस्था मोर में है। दर्पण की अवस्था में जो मोर दिखता है, वह दर्पण की अवस्था है; मोर के कारण से बिल्कुल नहीं।

श्रोता : ... निमित्त होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु निमित्तपने का अर्थ क्या ? वह तो है। है दूसरी चीज़। दर्पण में जो अग्नि दिखती है, वह अग्नि नहीं है, वह तो दर्पण की अवस्था है। हाथ लगाओ तो कहीं गर्म होगा ? अग्नि यहाँ है। अग्नि की अवस्था अग्नि में है और दर्पण की अवस्था अग्नि के जिस पल से हुई है, वह तो दर्पण की अपनी अवस्था है, अग्नि के कारण से वह अवस्था नहीं है। ज्वाला ऐसे-ऐसे दिखती है, वह तो जड़ की अवस्था है, दर्पण की अवस्था है। गर्म है वहाँ ? उष्णता है वहाँ ? वहाँ हाथ लगावे तो जल नहीं जाते। दर्पण को हाथ लगावे तो जले ? इसी प्रकार दर्पण में बर्फ दिखाई दे बर्फ, तो सर्दी होती है ? वह तो दर्पण की स्वच्छ अवस्था है, वह बर्फ के कारण नहीं है। बर्फ की अवस्था बर्फ में और दर्पण की अवस्था दर्पण में। दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है। उस दर्पण द्वारा बर्फ की अवस्थारूप से दर्पण परिणमा है; नहीं कि बर्फ परिणमा है। परिणमा समझे ? उसरूप हुआ है। आहाहा ! अरे ! अभी दो द्रव्यों के बीच की भिन्नता की खबर न हो, उसे आस्रव-विकल्प, छोटे में छोटा एक विकल्प उठे, उससे भगवान भिन्न है, (यह बात कैसे समझ में आये!) अत्यन्त चिदानन्दमूर्ति आनन्दकन्द निर्मलानन्द,

जिसकी दृष्टि करने से सम्यक्त्व होता है, वह चीज़ तो राग से बिल्कुल भिन्न... भिन्न... और सर्वथा भिन्न है। सर्वथा आत्यन्तिक भिन्न है। समझ में आया ?

भावार्थ -... लो, समय हो रहा है। पुद्गल के परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। देखो! आठ कर्म है न आठ, वे पुद्गल के परमाणु पौद्गलिक मिथ्यादर्शनमोह, चारित्रमोहरूप परिणमते हैं। परिणमते हैं अर्थात् होते हैं। उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर... उस कर्म का विपाक कर्म में, हों! पाक। जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्वादि अजीव है;... समझ में आया ? वह स्वाद जड़ का है, अजीव है। और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है... देखो! उत्पाद, उसमें-जड़ में आया, उस प्रकार से जीव स्वयं विकाररूप स्वयं से परिणमता है। वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं... लो! बस, वह जीव अपने विकार—राग, द्वेष, मिथ्यात्व, कषाय, क्रोध आदि होते हैं इसलिए वे जीव हैं। वे जीव के किये हुए जीव (परिणाम) हैं, जड़ के किये हुए बिल्कुल नहीं। इसका विशेष जानने का स्पष्टीकरण आयेगा....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१८

श्री समाधितन्त्र, श्लोक- ६५, ६६ प्रवचन - ७९

दिनांक - ०३-०७-१९७५

६५ गाथा, समाधितन्त्र ।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान। छहढाला। मिथ्यादृष्टि, शरीर की उत्पत्ति में, आत्मा का जन्म मानता है... 'मैं जन्मा' ऐसा। और शरीर के नाश को, आत्मा का नाश मानता है।

विशेष - शरीर में आत्मबुद्धि होने से ऐसी विपरीत मान्यता होती है, उसको पर के शरीर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भ्रम होता है। स्त्री या पुत्र के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश मानकर वह दुःखी होता है। हाय... हाय... मेरा पुत्र मर गया, ऐसा मानता है। शरीर का नाश होने पर मानो आत्मा का नाश (हो गया)। आत्मा कहीं गया, ऐसा नहीं। और रोता है, यह इसकी सुविधा जाती है, उसे रोता है। वह मरकर नरक में गया या पशु में गया, उसकी लोगों को कहाँ पड़ी है। आहाहा! उसका शरीर था। कामकाज में, व्यापार में, धन्धे में मदद होती थी। इसका उसे दुःख होता है। मर गया अर्थात् कि शरीर नाश हुआ। आत्मा कहाँ नगर और कैसे रहा, उसकी इसे नहीं पड़ी है। आहाहा! क्योंकि इसे नजर में तो शरीर आया था। उसका आत्मा है, वह तो नजर में आया नहीं था। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध माना था। वह सम्बन्ध छूटा, इसलिए मानो आत्मा का नाश हो गया। आहाहा!

'...जैसे - कोई नवीन वस्त्र पहिने, कितने ही काल वह रहे, तत्पश्चात् उसको छोड़कर अन्य नवीन वस्त्र पहने; इसी तरह जीव भी नवीन शरीर धारण करे, उसे कितने ही काल धारण किये रहे, फिर उसको भी छोड़कर अन्य नवीन शरीर धारण करता है;... आहाहा! यह कहीं आत्मा जन्मता है और मरता है, ऐसा तो है नहीं। यह तो शरीर का नया होना और उसका जाना, यह तो शरीर की बात है। परन्तु अपना अस्तित्व भिन्न है, इसकी खबर नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व दूर होने पर आत्मा मर गया और इसका अस्तित्व—संयोग हो तो आत्मा जन्मा। आहाहा!

इसलिए शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा से जन्मादि है... आत्मा को कहीं जन्म और आत्मा को मरण नहीं है, वह तो वस्तु अनादि अनन्त है। जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है, .. जन्म और मरण, वह वस्तु-आत्मा को कहाँ है ? भले उसकी पर्याय बदले परन्तु वस्तुरूप से तो नित्य है; और वर्तमान परिणाम को भी आश्रय तो द्रव्य का है। ध्रुव, वह तो नित्य है। वर्तमान परिणाम है, उसका आधार है, वह तो ध्रुव है, वह तो नित्य है। शरीर पलटने पर आत्मा पलटा, ऐसा नहीं; पर्याय भले पलटे। पर्याय पलटने पर वस्तु पलटती है ? वस्तु तो नित्य रहती है। आहाहा! ऐसे अस्तित्व की श्रद्धा और रुचि अन्तर में से होना, इसका नाम प्रथम धर्म की दशा है। बाकी सब बातें हैं।

बौद्ध को कहा, कहता हूँ पश्चात् उसने विचार किया कि मैं दूसरे को उपदेश देने में रुकूँगा तो मेरी एकान्तता (नहीं रहेगी)। अपने एकान्त में रहो। कहो, केवलज्ञान होने के बाद। अरे!

**श्रोता :** केवलज्ञान होने के बाद विचार आवे...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** विचार आया। पश्चात् उसका एक भगत था, उसने कहा—साहेब! ऐसे बहुत जीव तैयार है कि आपका उपदेश मिले, इसलिए तुरन्त समझ सके, ऐसे जीव हैं। पश्चात् उपदेश शुरु किया। धर्मचक्र चलाया। केवलज्ञानी के ऐसे लेख इस 'जैनप्रकाश' में (आये हैं)। क्या करता है यह तो कुछ ? आहाहा!

जैन परमात्मा सर्वज्ञस्वरूपी, पर्याय, हों! यह चीज अन्यत्र कहाँ है ? बौद्ध क्षणिकवाद, वेदान्त कूटस्थवाद। एक... एक वस्तु है, उसका निर्णय करनेवाली तो पर्याय है। उस पर्याय को जिसने नहीं माना, वह सब वस्तु झूठी है। क्योंकि पर्याय में ही कार्य होता है। मैं त्रिकाल नित्य ध्रुव हूँ। मेरा पूर्ण अस्तित्व ध्रुव है। ऐसा तो पर्याय में ज्ञात हो और निर्णय होता है। समझ में आया ? अब यह जो न माने और शरीर के पलटने से सब पलटा। वह आत्मा भी पलट गया। (यह) अज्ञानी को भ्रम है।

देह छूटने पर जहाँ जाए वहाँ सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे हो जाते हैं। संयोगी द्रव्य दूसरा, क्षेत्र दूसरा, उसकी पर्याय भी दूसरी हुई, भाव भी ऐसा हुआ कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, राग मैं हूँ, यह मैं हूँ। यहाँ था तब दूसरे रागादि (थे), वहाँ उस प्रकार के माने थे। आहाहा! यह तो उसकी दृष्टि, पर्याय की दृष्टि पर्याय के ऊपर थी, इसलिए ऐसा माना था। वस्तु ऐसी नहीं। पर्याय की दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि से जाने। द्रव्यदृष्टि को जाननेवाली तो पर्याय है। पूर्ण



है, ऐसा स्वीकार तो पर्याय करती है। ऐसा जो नित्य द्रव्य, परिणाम के पक्ष में आना अथवा उसका-ध्रुव का पक्ष होना, वह तो नित्य है। उसे जन्मना या मरना नहीं है। अरे! उसे पर्याय में परिणमना, वह जहाँ नहीं। आहाहा! समझ में आया? पर्याय में परिणमन जो है, वह तो पर्याय का है।

एक जगह आया है, न्यालभाई में (आया है) कि परिणामी अपरिणामी कहें तो परिणामी परिणाम। आता है। परिणाम स्वयं अपरिणामी के ऊपर लक्ष्य है, इसलिए अपरिणामी परिणाम है। चेतनजी! है? इस ओर है। वस्तुस्थिति है। क्योंकि अपरिणामी को जब परिणाम ने जाना, तब अपरिणामी परिणाम। चन्दुभाई! मार्ग ऐसा है। और यह सर्वज्ञपन्थ में ही ऐसा मार्ग होता है, अन्यत्र कहीं तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

देखो न! जिसकी एक समय की पर्याय नित्य को स्वीकार करती है, वह सत्यार्थ है। उसे जन्म कहाँ, मरण कहाँ, उसे पर्याय का उपजना और विनशना, यह ध्रुव में कहाँ है? समझ में आया? जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,.. इस शब्द की यह तो व्याख्या की। ध्रुव है, उसे जन्म और मरण कहाँ है उसमें? वह तो नित्य वस्तु भगवान है और उसे ही आत्मा कहा है। पर्याय को व्यवहार आत्मा, अभूतार्थ आत्मा कहा। आहाहा! पर्याय को आत्मा अभूतार्थ, असत्यार्थ कहा; त्रिकाल की अपेक्षा से। पर्याय ऐसा स्वीकार करती है कि मैं तो जन्म-मरणरहित और परिणाम की परिणति रहित ऐसी चीज़ हूँ। वह तो नित्य है। सुजानमलजी!

**श्रोता :** एक म्यान में दो तलवार।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक म्यान में एक ही तलवार। कहा नहीं?

**जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,..** वास्तव में तो जीवतत्त्व जो निश्चय जीव है, यह तत्त्वार्थ में कहा नहीं? पहला शुद्धभाव (अधिकार में)। यह जीव है। व्यवहार निश्चय को स्वीकारता है। आहाहा! वह तो नित्य है।

**श्रोता :** अभूतार्थ भूतार्थ को...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभूतार्थ भूतार्थ को स्वीकारता है। अभूतार्थ किस अपेक्षा से? त्रिकाल की अपेक्षा से। वर्तमान अपेक्षा से भूतार्थ है। आहाहा! त्रिकाल है, उसकी अपेक्षा से पर्याय को गौण करके असत्य और अभूतार्थ कहा है। अभाव करके असत्य (नहीं कहा)। न होवे तो फिर निर्णय किया किसने? आहाहा! कार्य और निर्णय सब पर्याय में होता है। ध्रुव तो कूटस्थ है, है ऐसा का ऐसा है। आहाहा!

परमात्मप्रकाश में नहीं कहा ? 'बंधो मोक्खो न जीवहि' बन्ध और मोक्ष यह परिणाम जीव को नहीं। ठीक, ऐसा कहा वहाँ। आहाहा! जीव उसे कहते हैं कि जिसे बन्ध और मोक्ष परिणाम नहीं है। आहाहा! बन्ध और मोक्ष के परिणाम तो व्यवहार हैं। गौण करके उसे मोक्ष के परिणाम भी नहीं, असत्यार्थ कहा और छठी गाथा में तो ऐसा लिया कि प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायें उसमें है ही नहीं। एक समय की दशा वस्तु में कहाँ ? दशा, दशा में है।

ऐसा जो जीव, स्वयं जन्मादिरहित नित्य है,.. आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव से भरपूर तत्त्व, वह जन्मादि से रहित नित्य है। तो भी मोही जीव को भूत-भविष्य का विचार न होने से,... कायम टिकते तत्त्व की खबर नहीं होने से। आहाहा! पर्यायमात्र ही अपना अस्तित्व मानकर,... एक समय की अवस्था वही अपनी अस्ति मानी है, पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहा करता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में दिया है न? मोक्षमार्गप्रकाशक, गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ-४७। उसमें इसका विस्तार दिया है।

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है;... धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन होने पर शरीर और आत्मा की भिन्नता का भान है। चाहे तो वह युद्ध की क्रिया में दिखाई दे तथापि अपना अस्तित्व देह की इन क्रियाओं से भिन्न है, ऐसा उस क्षण भी भान है। समझ में आया ? इसलिए वह शरीर के नाश के समय व्याकुल नहीं होता। शरीर बदलने पर छूटने के काल में वह खेद नहीं पाता। आहाहा! क्योंकि दोनों का भेदज्ञान किया है, अतः भेदज्ञान में भिन्न हूँ, वह तो अनुभव है। अब शरीर का नाश होने पर उसे खेद होता है, वह रहा नहीं। आहाहा! क्योंकि उससे भिन्न हूँ। भिन्न हूँ, वह भिन्न होता है, उसमें खेद क्या ? समझ में आया ?

कदाचित् अस्थिरता के कारण, अल्प आकुलता होती है परन्तु श्रद्धा और ज्ञान में वह ऐसा दृढ़ है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता... बहुत सरस ! शरीर छूटने पर जरा आकुलता है, वह छूटने के कारण से नहीं, निर्बलता के कारण से है। निर्बलता के कारण से जरा आकुलता होती है। उसके साथ आनन्द भी साथ में है। इस शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता और आकुलता का स्वामी नहीं होता। लो। मुझमें—स्वरूप में आकुलता है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! यह ६५ हुई।

जितना कषाय का अस्तित्व है, उतनी आकुलता है। वस्तु अकषाय स्वभावी का अनुभव हुआ, उतना तो आनन्द और अनाकुलता भी है। दोनों हैं, परन्तु यह शरीर छूटता है, इसलिए आकुलता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान हो और शरीर छूटे, लो। छूटता है,

इसलिए दुःख है ? इतनी आकुलता है न वहाँ। मात्र कमजोरी के कारण। अज्ञानी को आकुलता होती है (वह इसलिए होती है कि उसे ऐसा लगता है कि) यह जाता है, वह मैं जाता हूँ। यह मरता अर्थात् मैं मरता हूँ। शरीर जन्मता है अर्थात् मैं जन्मा। नित्यता की इसे खबर नहीं, इसलिए संयोग पर इसके लक्ष्य में जोर जाता है। पाँच इन्द्रियाँ मिली तो कहते हैं कि मुझे अवयव मिले, मुझे साधन मिले—ऐसा अज्ञानी मानता है। यह साधन न हो तो मैं किस प्रकार जान सकूँगा ?

**श्रोता :** लकड़ी न हो तो चला नहीं जाता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लकड़ी चलती है लकड़ी के कारण। एक ओर छत्री तथा एक ओर बटुक। चलते हैं न, देखा है। वह कुछ नहीं। पर के सहारे से शरीर चलता ही नहीं।

**श्रोता :** आपने ही कहा, नजर से देखा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नजर से देखा क्या ?—कि ऐसे चलता है। ऐसे बटुक का हाथ पकड़ा है। बटुक को ? इसका नाम क्या है ? गरासिया। एक ओर छत्री। सवेरे आवे तो ऐसे अन्दर दिखे न खिड़की में से। यह रजकण-रजकण उनके क्षेत्रान्तर के काल के कारण से उसे कोई पर की सहायता नहीं है। आहाहा !

**श्रोता :** एक ओर आत्मा के परिणमन को दूसरी की आवश्यकता हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कुछ है ही नहीं न। आहाहा ! लकड़ी भी जो ऐसे चलती है, वह हाथ ऐसे चला, इसलिए लकड़ी ऐसे चलती है—ऐसा नहीं है।

**श्रोता :** दुनिया से अलग प्रकार है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वस्तु ऐसी है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, नहीं तो दूसरी स्थिति सिद्ध होगी नहीं।

अनेक द्रव्य है, ऐसा कहो तो अनेक अनेकरूप रहकर अपनी परिणति अपने में करते हैं। चन्दुभाई ! पर के साथ क्या सम्बन्ध है कोई ? बाह्य पदार्थ भले लोटे, फिरे ऐसे। बहिर लोटंति। परन्तु उसे अन्दर में कहाँ प्रवेश है ? ओहो ! ऐसा मार्ग है। उसने आत्मा को तुच्छ कर डाला। जिसे सर्वज्ञदशा क्या है एक समय की... आहाहा ! तीन काल, तीन लोक को जाने, ऐसा कहना वह भी असद्भूतव्यवहार है। परन्तु उस पर्याय का सामर्थ्य इतना है। आहाहा ! एक समय की ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य ही पर और स्वसम्बन्धी का अपना ज्ञान है, वह

आत्मज्ञान है, आत्मज्ञ है। ऐसा जिसका स्वभाव, उसे अपूर्ण ज्ञानी मानना और अपूर्ण ज्ञानवाला आत्मा को जाना है... आहाहा! जिसका स्वभाव ही सर्वज्ञस्वरूपी... सर्वज्ञस्वरूपी... ज्ञान का सूर्य स्व-परप्रकाश का पिण्ड प्रभु, उसे सर्वज्ञपना तो सत्ता में-शक्ति में-स्वभाव में पड़ा ही है।

उसमें नहीं आया? 'पुण्य-पाप अधिकार' में। सर्वज्ञान, सर्वदर्शि। है तो ऐसा। आहाहा! 'पुण्य-पाप अधिकार'। उसमें आया, तब गाथा चलती थी न? यह विवाद उठाया। कर्म के कारण (होता है)। अरे... सुन तो सही। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तो ऐसा इसका स्वरूप ही है। वही आत्मा और उसे आत्मा कहते हैं। परन्तु वह अपने कर्मरज के अपराध के (कारण)... रज शब्द से भले वहाँ रजकण नहीं लिया। अपने विकार की पर्याय में परिणमते, परलक्ष्य से परिणमते हुए सर्व को जानना-देखना इसे रहा नहीं। है तो ऐसा। आहाहा!

चैतन्य के तेज! जिसका अम्बार, चैतन्य के तेज का अम्बार। ऐसा परिपूर्ण स्वभावी भगवान आत्मा, उसकी शक्ति ही सर्व को देखना-जानना ऐसा स्वभाव है। आहाहा! ऐसा आत्मा जिसने माना नहीं, उसने आत्मा ही माना नहीं। समझ में आया? आत्मा अर्थात् ज्ञान और दर्शन उसका स्वभाव। स्वभाव अर्थात् परिपूर्ण भाव। परिपूर्ण भाव अर्थात् जिसका एकरूप जानना-देखना ऐसा स्वभाव। चिदानन्द एक स्वभावरूप आत्मतत्त्व, आया था न? टीका में आया था। चिदानन्द एक स्वभाव ऐसा निज आत्मतत्त्व। यह आत्मतत्त्व। पर्याय को कहाँ गिना है। चिदानन्द ज्ञानानन्द एक स्वभावी निज आत्मा। वापस एक स्वभाव, भेद नहीं। आहाहा! ऐसा इसका—जीव का स्वरूप ही है। उसे जीव कहते हैं।

ऐसा कहे, बौद्ध ने ऐसा किया। भगवान ने तो दूसरे सब प्राणियों की दया का भी उपदेश दिया। भारी भाई! ऐसे-ऐसे लेख जैन में (आते हैं)। जैन प्रकाश तो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा को जो सिद्ध करके साबित करे और पर्याय में प्रगट करे, वह जैन प्रकाश है। यह जैन। चन्दुभाई! समाचारपत्र यह है। समाचारपत्र को कहाँ खबर है कि मैं कौन हूँ। है खबर? उसे जाननेवाला है, वह तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभावी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, शरीर का नाश होने से जरा आकुलता ज्ञानी को होती है। वह आकुलता शरीर का वियोग होता है, इस कारण से नहीं है, परन्तु निर्बलता के कारण (होती है)। निर्बलता स्वरूप से ज्ञान उसे जानता है। निर्बलता आदरणीय नहीं है। है, उसे जाने तो सही न! ज्ञान तो बराबर जानता है। ऐसी अस्तित्व की स्थिति पर्याय में है और पूर्ण द्रव्य में जैसी अस्तित्व की स्थिति है, ऐसे दोनों को ज्ञान तो जानता है। आहाहा! अपने वस्तु के स्वभाव में अस्तित्व की

मौजूदगी जितनी जैसी है, उसे जाने और पर्याय में जितनी ज्ञान की और राग आदि की मौजूदगी, उसे जाने। पर के साथ क्या सम्बन्ध है? आहाहा! समझ में आया? यह ६५ (गाथा) हुई। ६६ (गाथा)।

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।

रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः॥६६॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।

रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल॥६६॥

टीका - जैसे-लाल वस्त्र पहिने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को) लाल नहीं मानता;... आहाहा! उस समय लाल का ज्ञान हो, वह लाल का ज्ञान नहीं है। लाल वस्त्र तो नहीं, ऐसे शरीर लाल या सफेद-गोरा शरीर, उसे जानता हुआ ज्ञान, उस रक्त को—लाल को जानता है, ऐसा नहीं है। आबाल-गोपाल आता है न? १७-१८ (गाथा समयसार)। वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय यह जानती है। क्योंकि उसके अस्तित्व में शरीर, लाल या राग यहाँ तो नहीं। यहाँ जो है, वह तो स्व-पर को जानने की ज्ञान की दशा का अस्तित्व है। यह पर को जानना, वह भी परसम्बन्धी अपने सामर्थ्य को जानना (होता है), ऐसा है। आहाहा! भाई! यह मार्ग ऐसा है। यह तो धीर का मार्ग है। हो... हा.. और यह और यह और यह... धमाधम... क्या कहा? चेतनजी! 'धामधूम से धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर।' यशोविजय का है।

जैसे-लाल वस्त्र पहिने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को) लाल नहीं मानता; इसी प्रकार अपनी देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी... परिवार आदि से लाल अर्थात् उसका रंग लाल हो। लाल, गेहूँ वर्ण शरीर हो। होने पर भी अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता। आहाहा! गेहूँ वर्ण शरीर हो या गोरा शरीर, वह सब तो जड़ की अस्तित्व की दशा बताते हैं। उससे मैं लाल हूँ, ऐसा माने? लाल कपड़ा है, इसलिए मैं शरीर लाल हूँ, ऐसा माने? इसी प्रकार लाल शरीर है, इसलिए मैं लाल हूँ - ऐसा माने? आहाहा! लाल शरीर है, वह मैं—यह मिथ्याभ्रम असमाधि है।

लाल शरीर तो जाननेवाले का अस्तित्व लाल शरीर के अस्तित्व से उसमें नहीं रहा हुआ अस्तित्व, वह भिन्न मेरा अस्तित्व है। आहाहा! गोरा शरीर, गोरे (अंग्रेज) जैसा शरीर। यह गोरा शरीर (होवे तो) आत्मा गोरा हो गया?

श्रोता : आत्मा में रंग ही कहाँ है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : रंग कहाँ है । अरे ! गोरे का ज्ञान है, वह गोरे के कारण कहाँ है ? समझ में आया ? कहाँ है ? गोरे के कारण गोरा तो नहीं, परन्तु गोरे का ज्ञान है, वह गोरे के कारण नहीं है । आहाहा ! ऐसा है ।

देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी... ऐसा डाला । शरीर में कंकू डाला । यह नहीं डालते सब होली में ? अन्तर आत्मा आत्मा को लाल नहीं मानता । वह तो जड़ की दशा है । कंकू ( गुलाल ) तो ठीक परन्तु उसका शरीर का रंग है, वह तो जड़ की दशा है । उसके अस्तित्व में आत्मा का अस्तित्व कहाँ और आत्मा के अस्तित्व में लाल रंग के अस्तित्व कहाँ ? आहाहा ! अरे ! यह लाल रंग का ज्ञान, उसके ज्ञान के अस्तित्व में यह लाल रंग का शरीर, ऐसा अस्तित्व है, इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ—ऐसा कहाँ है ? आहाहा ! मार्ग ऐसा है । अन्तर्मुख का मार्ग बहिर्मुख से मानकर लोग ( भटक रहे हैं ) और पर्याय में अल्पज्ञता की क्रीड़ा में इसका पूरा स्वभाव वस्तु है, जो एक समय की पर्याय में चीज़ नहीं आती, वह चीज़ जो है, वह मैं हूँ । इतना जो अस्तित्व—मौजूदगी है ( वह मैं हूँ ) । वस्तु के स्वभाव की निरालम्ब पर्याय के अवलम्ब बिना की अथवा पर्याय के अस्तित्व बिना की... आहाहा ! ऐसा जो अस्तित्व, वह कहीं लाल रंग के कारण नहीं है । तथा लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए उसका-ज्ञान का अस्तित्व यहाँ ( है, ऐसा नहीं है ) । यहाँ लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए लाल के अस्तित्व से उसका ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है । यह तो ज्ञान के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व पर को और स्वप्ने जानने का प्रगट हुआ है । समझ में आया ? आहाहा !

अरे ! इसकी जाति की क्या कीमत है, ( उसकी दरकार नहीं की ) । श्रीमद् में आता है न ? जिनवाणी का माप करते हुए स्वयं का माप हो जाता है । आता है ' मापवाथी निजमति मपाय छे । ' इतने उनके शब्दों ( में ) बहुत भाव ! जिनवाणी का माप करते हुए... आहाहा ! अर्थात् कि उसके कहे हुए स्वभाव का माप करते हुए मापने की पर्याय मप जाती है, उसकी हदवाली हो जाती है । आहाहा ! क्या उनकी भाव की श्रेणी धारा ! कथनश्रेणी भाषा ली है, परन्तु मूल तो चैतन्य की निर्मल श्रेणी धारा, क्या उसकी तेजता, उसकी प्रभावता ! आहाहा ! यह सब प्रभाव प्रगट हुआ है, उस पर को जाना इसलिए प्रगट हुआ है—ऐसा नहीं है । जाननेवाले में जाननेवाले में से वह पर्याय प्रगट हुई है । आहाहा ! भगवान आत्मा जाननेवाला है, वह जानने के स्वभाव में से जानने की पर्याय ( प्रगट होती है ) । स्व-पर को जानने की ( पर्याय ), वह पर को जानने की, इसका अर्थ वह तो परसम्बन्धी का अपना ज्ञान है । आहाहा !

ऐसा जो भगवान आत्मा वह स्वयं लाल शरीर या लाल हूँ—ऐसा कैसे माने ? अरे ! लाल शरीर और लाल का ज्ञान हुआ, इसलिए लाल के कारण ज्ञान हुआ, ऐसा कैसे माने ? आहाहा ! यह तो मेरा स्वभाव ही ज्ञानस्वभाव है । मेरी सामर्थ्य के कारण स्व-परप्रकाश का सामर्थ्य है । मेरी अस्ति में से यह अस्ति आयी है । आहाहा ! अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता ।

**भावार्थ—** जैसे – पहिने हुए लाल वस्त्र से शरीर लाल नहीं होता ; इसी प्रकार अपना शरीर कुंकुमादि से लाल होने पर भी, आत्मा कहीं लालवर्ण का नहीं हो जाता । यह तो ठीक । यह तो रक्त वर्ण । शरीर ही रक्तवर्ण लाल होता है । लोग नहीं कहते ? इसकी माँ का शरीर गेहूँ वर्ण था तो इसका शरीर गेहूँ वर्ण हुआ । ऐसा कहते हैं न ? आहाहा ! इसके पिताजी का शरीर गोरा था तो गोरा हुआ । एक ही माँ के गर्भ से दो ( बालक ) हों । होता है न ? माँ गेहूँ वर्ण हो तो उसका गेहूँ वर्ण शरीर ( होवे ), तो कहे—माता के जैसा शरीर है, ऐसा कहे है तथा पिताजी गौर वर्ण शरीर हो तो उसी और उसी में उत्पन्न हुआ वह गौर वर्ण शरीर होता है । परन्तु वह तो शरीर की पर्याय हुई, उससे आत्मा कहाँ गौर वर्ण हो गया ? आहाहा ! वह तो जड़ की पर्याय हुई । उस जड़ की पर्याय से आत्मा जड़ पर्याय से गोरा हो गया ? आहाहा ! ऐसी बात ! सरल धारा ! केवलज्ञान की धर्मात्मा की धारा में यह प्रवाह आया है । वह यहाँ आचार्य समाधि का तत्त्व बतलाते हुए बताते हैं, भाई ! मैं मुझसे हूँ, मेरा ज्ञान भी पर के कारण नहीं है—ऐसी दशा में उसे शान्ति और समाधि होती है । समझ में आया ? उसमें उसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चरित्ररूपी समाधि होती है ।

**जैसे – लाल वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; इसी तरह लालवर्णवाला शरीर... देखो !** यहाँ लाल वर्ण ( लिया ) । और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं । परमात्मप्रकाश में डाला है :

रत्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।

देहे रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइं रत्तु ॥ (२-१७८)

परमात्मप्रकाश में है ।

आत्मा, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्शरहित है... नहीं वर्ण जीव को... है न ? ५०वीं ( गाथा ) । वहाँ तो अभी कहा नहीं था ? ' नहीं विशुद्ध संक्लेश-विशुद्ध परिणाम जिसे... मेरी अनुभूति से भिन्न है ' क्योंकि द्रव्य से तो भिन्न, वह बाद में । परन्तु द्रव्य पर दृष्टि जाने से जो अनुभूति हुई उससे भी शुभपरिणाम से भिन्न है । आहाहा ! अब यह शुभपरिणाम भिन्न हो, उससे

धर्म होगा, लाभ होगा, (ऐसा अज्ञानी को मनवाना है)। भारी गड़बड़ भाई! गहरे-गहरे मिथ्यात्व की शल्य पड़ी है न!

यहाँ तो यह कहा—विशुद्ध और संक्लेश परिणाम अनुभूति से भिन्न हैं। चौदह गुणस्थान के भाव अनुभूति से भिन्न है। उससे तो भिन्न है परन्तु लब्धिस्थान जो कहा, ऐसा आया न? उनसे, अभेद अनुभूति है, वह भिन्न है। आहाहा! क्या सन्तों की शैली! क्या रचना सिद्धान्त की! क्या स्वभाव की रचना को सिद्ध करने की युक्ति और तर्क!! आहाहा!

श्रोता : युक्ति, आगम और अनुभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब (आ गया)।

आत्मा रसरहित, रंगरहित, गन्धरहित। स्पर्शरहित है... आहाहा! तथापि शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से अज्ञानी, शरीर का जैसा वर्ण होता है, वैसे वर्ण का अपने को (आत्मा को) भी मानकर, राग-द्वेष करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है;... धर्मी को राग से और पर से ज्ञानानन्दस्वभाव भिन्न है, ऐसा भान है, भिन्न है, ऐसा भान है। इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता... मैं शरीर से रूपवान, लोग मुझे देखे और देखने लायक मेरी शरीर की स्थिति, कोमलता है। लोगों की आँख ठहरती है, ऐसा अज्ञानी मानता है। समझ में आया? भगवान की भक्ति का विकल्प आवे और निर्विकल्प ज्ञान भी वर्ते। उसमें आया, स्तुति में नहीं आया था? ऋषभदेव की स्तुति। प्रभु! यह दो हाथ जोड़कर पैर छूते हैं आपको, उसमें से तो मैं ऐसा मानता हूँ—एक तो अनुभूति की परिणति वहाँ खड़ी है और एक विकल्प खड़ा है। ये दो हैं। एक विकल्प का फल अनुकूल संयोग मिलेगा और निर्विकल्प परिणति तो वहाँ वेदन में आती है। आहाहा! ऋषभ स्तुति में (आया था) भोपाल में की थी, नहीं? भोपाल में की थी। पश्चात् दूसरी यहाँ ली थी, कोटा... कोटा में ली थी। वहाँ लाये थे। यह दो हाथ जोड़ते हैं, इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ, प्रभु! धर्मात्मा की दृष्टि की निर्मलता तो है, उसका फल वहाँ निर्मलता है; तथा एक दूसरा विकल्प उठता है, उसका फल संयोग की अनुकूलता है। संयोगीभाव का फल संयोग आयेगा। स्वभावभाव का फल वहाँ आनन्द और शान्ति आयेगी। समझ में आया? संयोगी भाव कहा है न? भक्ति आदि का भाव संयोगी भाव है, स्वभावभाव नहीं।

कहते हैं, अज्ञानी शरीर का जैसा वर्ण हो, वैसे वर्ण का आत्मा को भी मान बैठता है और फिर राग-द्वेष करता है। आहाहा! मेरा सुन्दर शरीर रूपवान। अरे! तेरे रूप की क्या बात



करना! भाई! तेरा रूप तो अन्तर (में) है। भगवान का शरीर देखने के लिये इन्द्र हजार नेत्र करता है। उसे देखने का विकल्प है, वह दुःखरूप है। बाहर से तो ऐसे हर्ष मनावे, माने... प्रभु तो ऐसा का ऐसा है। इन्द्र सम्यग्दृष्टि है। ऐसे देखता है तो वह मानो प्रसन्न होता है, ऐसा माने। परन्तु अन्दर में राग होता है, वह दुःख है।

**श्रोता :** झुकाव होता है...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह राग स्वयं है न। यह झुकाव हुआ, वह स्वयं राग है। आहाहा! ऐसे तो हर्ष मनावे। भगवान का जन्म (हुआ है)। माता-पिता इकट्ठे हों, सभा भरे। नृत्य करता है न? क्या कहलाता है वह? ताण्डव... ताण्डव, ऐसी कोई भाषा है। देव... परन्तु यह क्रिया झंझर और उसकी क्रिया जड़ और वाणी की निकले, उसकी महिमा वह भी जड़। उसमें विकल्प उठा है, वह भी वास्तव में तो... है। दुःख है। आहाहा! सहजानन्द स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह जीव की शुद्धि को मदद कैसे करे? समझ में आया? इन लोगों को निमित्त से होता है और व्यवहार शुभ से (शुद्ध) होता है तथा क्रमबद्ध नहीं है। इन पाँच का विवाद है। आहाहा! यह विवाद। गाँव-गाँव में जब प्रश्न व्यक्तिगत उठे तो उन्हें ऐसे उठे। बाहर से बहुत बोल न सके। आहाहा!

धर्मी को—ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है; इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता... गोरा, इसलिए ठीक है और काला, इसलिए ठीक नहीं। कुबड़ा शरीर काला हो, शीतला के दाने निकले, शीतला (चेचक) निकली हो, फिर सूख जाए तो वे दाग रहते हैं। इसलिए मैं खराब हूँ, ऐसा नहीं मानता, तथा उनके प्रति द्वेष नहीं होता। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग-द्वेष नहीं होता अर्थात् वह अपना या पर का सुन्दर वर्णवाला शरीर देखकर प्रसन्न नहीं होता... आहाहा! अथवा अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। शरीर बिगड़ा हुआ हो, कीड़े पड़े। आहाहा! वह तो शरीर की दशा है। इससे उसे द्वेष नहीं होता कि ऐसा कैसे? परन्तु यह जड़ की अवस्था है, ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय के दो भाग करना कि यह ठीक, यह ठीक नहीं—ऐसा नहीं है। अस्थिरता की वृत्ति उठे, वह अलग वस्तु है। समझ में आया? अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के (स्वभाव) धर्म हैं;... आहा! 'रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की, सबको जाना पुद्गल एक स्वभाव।' वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के धर्म हैं;... धर्म अर्थात् स्वभाव। आत्मा का धर्म नहीं—आत्मा का वह

स्वभाव नहीं। आहाहा! आत्मा तो निरंजन, निराकार,... जड़ का कोई आकार नहीं, अरूपी, अतीन्द्रिय और स्वसंवेदनगम्य है। आत्मा तो निरंजन—अंजन—मैल-वैल रहित चीज़ है। निराकार, जिसे शरीर का आकार नहीं। अरूपी है। वह तो रूपरहित चीज़ है। आहाहा! कर्म के सम्बन्ध से उसे रूपी कहो, यह तो सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। रूपी तो रूपी ही है। प्रवचनसार में आता है। अमूर्त का अमूर्त गुण है। ऐसा कहा है कि अमूर्त को मूर्त है? दोनों को भिन्न किया नहीं? द्रव्यरूप से गिनकर फिर मूर्त और अमूर्त दो भिन्न किये हैं। अमूर्त द्रव्य के अमूर्त गुण और अमूर्त पर्याय।

आत्मा तो निरंजन, निराकार,... निराकार शब्द से प्रदेशत्वगुण के कारण आकार है, उसका यहाँ निषेध है। आकाश, वह भी आकारवाली चीज़ है। सर्व व्यापक, कहीं भी अन्त नहीं, तो उसे भी प्रदेशत्वगुण के कारण आकार है। वस्तु की स्थिति ही कोई अलौकिक है! आकाश सर्व व्यापक, तथापि उसे आकार है, कहते हैं। पर का आकार नहीं। आकार उसका कद ऐसा, कद ऐसा है। आहाहा! प्रदेशत्वगुण के कारण से आता है या नहीं? यहाँ तो शरीर और वाणी का आकार, उस आकार से आकार नहीं है। परन्तु अपना कद जितने में है, उतना आकारवाला तो वह है। आहाहा! सर्व व्यापक आकाश को भी आकार है। आहाहा! क्या बात यह तो!

श्रोता : आकाश की हद आ गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हद ज्ञान में आयी, वहाँ हद नहीं है। अनहद को अनहद से जाना है। आहाहा! एक वस्तुस्थिति तो देखो! कितनी आश्चर्यकारी वस्तु! एक ओर अरूपी आकाश, यहाँ अरूपी भगवान, उसे आकार नहीं, ऐसा कहना, तथापि प्रदेशत्वगुण के कारण उसे व्यंजनपर्याय का आकार होता है। आहाहा! उसके अस्तित्व में वह आकार है। शरीर के अस्तित्व का आकार उसमें नहीं है। इस अपेक्षा से निराकार कहा। अरूपी अतीन्द्रिय। आहाहा! और स्वसंवेदनगम्य। यह तो अपने ज्ञान के प्रत्यक्ष के अनुभव में गम्य है। परोक्षरीति से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। उसका स्वरूप ही स्वसंवेदनगम्य है। उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। यह ६६ हुई, ६७ लेंगे।

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )

१९

श्री समयसार, श्लोक- ७१-७६ प्रवचन - १९२

दिनांक - ०५-१०-१९७६

समयसार कर्ता-कर्म अधिकार । ७१वाँ श्लोक है । ७१ । नीचे अर्थ । देखो ! कर्ता-कर्म की बात बहुत सूक्ष्म है ।

**श्लोकार्थ - जीव मूढ़ (मोही) है...** जीव मोहसहित है, यह भी एक व्यवहारनय का पक्ष है । भगवान आत्मा परमपवित्र चैतन्यघन, वह मोहसहित है अथवा राग और द्वेष के भेदरूप मोह, पर में सावधानी, उस रूप है, वह पर्याय में है । वह व्यवहारनय का पक्ष है । दूसरा कहे, मूढ़ नहीं है । भगवान आत्मा में मोह है ही नहीं । वस्तु का स्वरूप जो है, उसमें मोह नहीं है । यह निश्चयनय का पक्ष है । परन्तु ये दोनों विकल्प हैं, ऐसा कहते हैं । आहाहा !

**श्रोता :** दोनों विकल्प है...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** राग है । आत्मा वस्तु...

‘कर्ता-कर्म अधिकार’ है । मोह है, वह मुझमें है, यह एक व्यवहारनय की अपेक्षा से है । इसका तो पहले से निषेध करते आये हैं, ऐसा कहते हैं । यह तो कल आ गया । अब यहाँ तो आत्मा में मोह नहीं है, वह तो आनन्दकन्द प्रभु, शुद्ध चिदात्मा पवित्र धाम में, मोह नहीं है । मोह नहीं है, ऐसा जो पक्ष विकल्प से करना, राग (करना) वह भी बन्ध का कारण है । आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! वर्तमान में तो जगत को कठिन पड़े । मैं मोह नहीं, ऐसा जो विकल्प वह पुण्य है, वह शुभभाव है । वह मेरा कर्तव्य है, (ऐसा जो मानता है), वह मिथ्यादृष्टि है । कर्ता-कर्म अधिकार है न ! ऊपर है न कर्ता-कर्म ? आहाहा !

भगवान शुद्ध चिद्घन सहजात्मस्वरूप, वह मोहसहित है, यह व्यवहार का पक्ष है, उसका तो हम निषेध करते आये हैं, कहते हैं । परन्तु मोहरहित है, वस्तु ऐसी है । परन्तु मोहरहित है ऐसा विकल्प-राग करना और राग का कर्तव्य मेरा, ऐसा जानना, उसका नाम मिथ्यात्व है । आहाहा ! ऐसी बात है । सूक्ष्म बात, बापू ! जन्म-मरणरहित होने का रास्ता अलग प्रकार का है । यह लोग तो बाहर से यह करो... अभी तो यह विकल्प अन्तर की बात हुई, परन्तु

यह तो बाहर से पूजा, भक्ति, व्रत, तप करो। यह करते हुए तूने उसमें से पुण्यबन्ध होगा और पुण्यबन्ध के फल से तुम्हें भविष्य में कर्म का क्षय होगा। ऐसी तो अभी प्ररूपणा करते हैं। समझ में आया? यह आज उसमें आया है। यह है न? दिल्ली से सम्यग्ज्ञान दीपिका (पत्रिका) निकलती है न? ज्ञानमति आर्थिका है न? जम्बुद्वीप बनाती है। उसमें आया है कि इस प्रकार पुण्य करते-करते पुण्य के बल से कर्म का क्षय भविष्य में होगा। परन्तु अब झ्रया हो? वह स्वयं बन्ध है। उसमें आया है, हों! कहीं है अवश्य। किस जगह है? चिह्न किया है। प्रश्न है : मन्दिर बनाने से तो महा आरम्भ होता है। प्रश्न है।

उत्तर - ऐसी बात नहीं है। जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, वस्तिका, स्वाध्याय भवन आदि बनानेवालों को महान सातिशय पुण्य का बन्ध होता है और परम्परा से वे लोग इस पुण्य के बल से कर्मों का भी नाश कर देते हैं। ऐई! चारों अनुयोग की बात करते हैं परन्तु ऐसी बात है। समझ में आया? द्रव्यानुयोग में डाले, तब ऐसा डाले कि शुद्धात्मा की प्राप्ति तो समाधि से होती है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक परमात्मा... कुन्दकुन्दाचार्य, वे परमात्मा ही हैं न! मुनि हैं न। कहते हैं कि जीव मोही नहीं है। आत्मा पवित्र है, पूर्णानन्द सिद्धस्वरूप ही है, उसमें मोह नहीं है। यह बात सत्य है, परन्तु मोह नहीं है—ऐसा जो विकल्प उठाना, पक्ष करना, वह राग है। व्यवहारनय के, दया-दान के राग की बात तो कहीं स्थूल रह गयी। आहाहा! परन्तु मैं एक चैतन्यमूर्ति मोहरहित हूँ, ऐसा एक राग के सम्बन्ध का विकल्प उठाकर निश्चयनय के पक्ष में खड़े रहना, वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा दूसरे नय का पक्ष है।

इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में... देखो! भगवान तो ज्ञानस्वरूप है, वह तो ज्ञान-ज्ञाता सूर्य, वह चैतन्यसूर्य है। ऐसे जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। 'यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः' परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव, उस ज्ञानस्वरूपी भगवान तत्त्व का वेदन करनेवाला, वह पक्षपातरहित है... उसे मैं मोहरहित हूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को कठिन पड़ती है। वस्तु तो यह है। अनन्त सर्वज्ञ, सन्त, कुन्दकुन्दाचार्य मुनि तो जगत के समक्ष यह पुकार करते हैं। समझ में आया?

मैं एक मोहरहित हूँ, पवित्र हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ—ऐसी जो विकल्प की वृत्ति उठाना, आहाहा! वह भी बन्ध का कारण है, वह कर्म मेरा कर्तव्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह अनन्त संसार में भटकनेवाला है, वह इस जाति का है। पन्नालालजी!

इस प्रज्ञा की अलग बात है। आहा! अरेरे! इसमें चौरासी के अवतार में अनन्त भव कर-करके अनन्त बार मुनि हुआ। दिगम्बर मुनि अनन्त बार हुआ, २८ मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, हजारों रानियाँ छोड़ी, राजा या रानियाँ छोड़कर... अरे! परन्तु यह सब पंच महाव्रत के परिणाम तो विकल्प और राग हैं। आहाहा! उस राग से कल्याण माना, वह मिथ्यादृष्टि है। यह तो स्थूल बात हो गयी, यहाँ तो सूक्ष्म लेते हैं। मैं एक आत्मा मोहरहित हूँ। यह पंच महाव्रत का विकल्प है, उससे भी मैं तो रहित हूँ। आहाहा! ऐसा रहित है अवश्य, परन्तु रहित हूँ—ऐसा एक विकल्प, राग की वृत्ति उठाना, वह नय का पक्ष है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! वह जन्म, जरा, मरण की सन्तति को बढ़ानेवाला है।

ज्ञानी दोनों विकल्प के पक्ष को छोड़कर... आहाहा! तत्त्ववेदी। तत्त्व चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, उसका वेदन करनेवाला। यह राग मेरा है, राग का पक्ष है, तब तो राग का वेदन था। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। तत्त्ववेदी। तत्त्व अर्थात् चैतन्यस्वरूप जो भगवान आत्मा, उसको जो वेदन करनेवाला—अनुभव करनेवाला, उसे स्पर्श करनेवाला, ऐसा जो सम्यग्दृष्टि जीव, वह पक्षपातरहित है। उसे 'मैं मोहरहित हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं है। रतनलालजी! ऐसा यह चैतन्य रत्न है। आहाहा! लोगों को व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार ऐसा गले पड़ा है न! उस व्यवहार का तो निषेध किया है, परन्तु आत्मा निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यघन हूँ, ऐसा जो राग का विकल्प उठाया, उसका भी यहाँ निषेध कर दिया है। आहाहा!

तत्त्ववेदी... उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है... आहाहा! यह तो ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञानस्वरूप को ही वेदता है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव को चैतन्यस्वरूप आत्मा ज्ञानस्वरूप के सन्मुख होकर उसे वह वेदता है। अमूढ़ हूँ, ऐसे विकल्प को छोड़ देता है। आहाहा! चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है। देखा? उस विकल्पवाला भी नहीं। मैं निश्चय से शुद्ध चैतन्य हूँ, अमूढ़ हूँ—ऐसा विकल्पवाला वह स्वरूप नहीं है। इससे उस चित्स्वरूप ज्ञानस्वरूप में, ज्ञानस्वरूप में ज्ञानस्वरूप होकर वेदता है। आहाहा! इसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ऐसी बात है। आहाहा! लोगों को ऐसा लगता है कि बाहर ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। दस-दस लाख के मन्दिर बनाओ, गजरथ निकालो, लाखों लोगों में रथ निकले और पचास हजार लोग चलते हों, उसमें हजार-हजार लोगों के अन्तराल से एक-एक बैण्डबाजा, दूसरे हजार में (दूसरा बैण्डबाजा), ऐसे पचास बैण्डबाजा पचास हजार में। कितनी धामधूम लगे। भाई! इसमें धर्म नहीं है, कहते हैं। यह क्रिया तो पर की है। उसमें कदाचित् जीव का शुभभाव होवे

तो वह बन्ध का कारण है। यहाँ तक जाना। ताराचन्दजी! यह एक श्लोक हुआ। दूसरा श्लोक—७२।

**जीव रागी है...** एक कहता है कि जीव रागी है। राग उसका स्वभाव है और जीव रागवाला है, यह एक व्यवहारनय का पक्ष है। दूसरा कहता है कि **जीव रागी नहीं...** वह तो वीतरागमूर्ति प्रभु है, वह राग नहीं, इसके स्वरूप में राग नहीं। वह नहीं—ऐसा जो एक विकल्प उठाना, वह भी राग बन्ध का कारण है। आहाहा! अरे! प्रभु! देवीलालजी! ऐसा मार्ग है, भाई! रागी नहीं है, ऐसा एक दूसरे नय का पक्ष है, विकल्प है, राग है।

इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है... आहाहा! मैं अरागी हूँ, ऐसा विकल्प भी छोड़कर तत्त्व का जो स्वरूप है, उसे वेदता है। आहाहा! अर्थात् मैं रागी नहीं, ऐसा जो विकल्प है, उसे छोड़कर। यह विकल्प है, वह दुःखरूप है। मैं रागी नहीं, ऐसी विकल्पवृत्ति भी दुःखरूप है। आहाहा! उस दुःखवृत्ति को छोड़कर भगवान् चैतन्यतत्त्व का जो आनन्दस्वरूप है, उसका वेदन करे, उसे यहाँ धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा! है या नहीं इसमें यह? शास्त्र का है या नहीं? वे कहते हैं कि सोनगढ़ का है। प्रकाशित हुआ है सोनगढ़ में, परन्तु वस्तु किसकी है?

**श्रोता :** गुजराती हुआ है...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** गुजराती हुआ है, हिन्दी यहाँ से प्रकाशित हुए हैं। पाँच-सात हजार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। कितनी हुई हैं? अधिक होंगी। समयसार बहुत प्रकाशित हुए। दिगम्बर शास्त्र तो यहाँ बहुत प्रकाशित हुए हैं। उसमें से सम्यग्ज्ञान दीपिका प्रकाशित हुई है। आहाहा! उसमें उन्होंने यह बात की है। बहुत सरस। सम्यग्ज्ञान दीपिका में। वस्तु छह द्रव्य है, उनसे भिन्न भगवान् आत्मा सप्तम हो जाता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! यह सम्यग्ज्ञान दीपिका की देन है। छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्माएँ, अनन्त रजकण, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश—(ऐसी) छह वस्तुएँ हैं। संख्या से अनन्त और जाति से छह। उसमें से मैं एक आत्मा, उन छह द्रव्य के विकल्प के पक्ष से छूटकर, मैं तो भिन्न सप्तम आत्मा हूँ। आहाहा! आनन्द के वेदन में उसे सातवाँ आत्मा छह से भिन्न लगता है। समझ में आया?

इसी समयसार की ४९वीं गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्य की है। उसके अव्यक्त के छह बोल हैं। उसके पहले बोल का ऐसा अर्थ किया है। स्वतन्त्र अर्थ किया है। सम्यग्ज्ञान दीपिका

में। आहाहा! छह द्रव्यस्वरूप लोक, छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है; उनसे जीव भिन्न अव्यक्त है, ऐसा पाठ है। छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है। ४९ का पहला बोल—अव्यक्त का पहला बोल। समझ में आया? आहाहा! एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर चैतन्य प्रभु सातवाँ भिन्न है और एक ओर पूरा गाँव छह द्रव्य है। समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! यह मार्ग बाहर आया, वह लोगों को अब कठिन लगता है। व्यवहार करो, व्यवहार करो। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा। बहुत ही मिथ्यात्व शल्य है, मिथ्यात्व शल्य है। अनादि का है, वह है।

यहाँ तो कहते हैं, जीव रागी नहीं। बात सच्ची है, रागी नहीं है। परन्तु रागी नहीं, ऐसा अन्दर विकल्प उठाना, वह राग है। धर्मी जीव को चित्स्वरूप जीव में दो नयों के पक्षपात रहित है। वह तो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है। उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। दो बोल हुए। तीसरा।

**जीव द्वेषी है...** है? ७३ (श्लोक)। अज्ञानी कहता है, रागवाला, द्वेषवाला जीव है, द्वेषवाला जीव है। पर्याय में द्वेष है, इससे व्यवहारनयवाला ऐसा कहता है कि द्वेषी जीव है। ऐसा भी एक विकल्प है। उसका तो हम निषेध करते आये ही हैं, कहते हैं। यह पहले में आ गया, देखो! इस ग्रन्थ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। भावार्थ। आहाहा! गौण करके, व्यवहारनय को तो गौण करके ही कहते आये हैं। अब यहाँ तो निश्चय का विकल्प है, उसे भी उठा लेना है। ऐसी बहुत कठिन बातें, भाई!

अरे! चौरासी के अवतार नरक और निगोद के... भाई! विचारने में आवे तो इसे खबर पड़े। इसे भव का भय लग जाए। आहाहा! अकेला... अकेला... अकेला... कोई सहायक नहीं। इस राग की एकत्वबुद्धि में, भले मैं निश्चय शुद्ध हूँ, अद्वेषी हूँ, ऐसा जो विकल्प, उसके पक्ष में रहकर भी इसने दुःख को भोगा है। मुनि हुआ, त्यागी हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ी, पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु वह तो राग है, विकल्प है। उससे भी यहाँ मैं अद्वेषी हूँ। आहाहा! है तो ऐसा ही वह। तथापि अद्वेषी हूँ, ऐसा विकल्प / राग उठाना, वह दुःखरूप है। आहाहा! उसे छोड़कर, दोनों पक्षपात को छोड़कर तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है। उसे चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। ज्ञानस्वरूप, वह ज्ञानस्वरूप है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि को वेदन में ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञानस्वरूप वेदन में आता है। उसे यह

अद्वेषी हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ छूट जाता है। उससे अद्वेषी स्वरूप वेदन में नहीं आता। मैं अद्वेषी हूँ, ऐसा जो विकल्प, उससे अद्वेषीस्वरूप वेदन में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें, इसलिए लोगों को नया लगता है। उन्हें नया लगता है। नया नहीं, बापू! ऐसा अनादि का मार्ग है, भाई! जैन परमेश्वर अनन्त तीर्थंकर, अनन्त सन्तों, गणधरों के झुण्ड में और इन्द्रों के समक्ष में प्रभु ऐसा कहते थे। भगवान भी यह कह रहे हैं। महाविदेह में त्रिलोकनाथ धर्मपिता सीमन्धर भगवान हैं। आहाहा! उनकी दिव्यध्वनि में आयी हुई बात है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे और आठ दिन रहे थे। आकर यह बात की है। भगवान ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अरेरे! बाहर के झगड़े इसमें कहाँ रहे? भाई! यह ७२ बोल हुआ। द्वेषी का ७३ हुआ है न? ७४ (श्लोक)।

**जीव कर्ता है... है?** भाई! क्या कहते हैं? एक पक्षवाला—व्यवहार पक्षवाला कहता है कि जीव राग का, व्यवहार विकल्प है, उसका कर्ता है। आहाहा! जो विकल्प—शुभराग उठता है, उसका मैं कर्ता हूँ, ऐसा व्यवहारनय के वर्तमाननय को देखनेवाले का यह पक्ष है। वह भी राग है। दूसरा (पक्ष)।

**जीव कर्ता नहीं है...** विकल्प है, उसका कर्ता जीव नहीं है। आहाहा! विकल्प जो राग है, वह तो अन्दर में मैं राग का कर्ता नहीं, राग विकल्प जो शुभभाव है, उसका मैं कर्ता नहीं। यह कर्ता नहीं, यह स्वरूप बराबर है। परन्तु कर्ता नहीं – ऐसा जो विकल्प उठाता है, वह दुःखरूप है। ताराचन्दजी! यह ऐसी बातें हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा परद्रव्य का तो कर्ता है ही नहीं, परन्तु अज्ञानभाव से राग जो होता है—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि। मैं रागी हूँ, राग का कर्ता हूँ, ऐसी बुद्धि है, वह व्यवहारनय के पक्ष की अज्ञानबुद्धि है।

यहाँ से दूसरा पक्ष ले कि जीव कर्ता नहीं। क्योंकि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा स्वाभाविक वस्तु शुद्ध चैतन्यघन है, उस विभाव के राग को कृत्रिम को कैसे करे? पन्नालालजी! यह अलौकिक दूसरी बातें हैं, यह पैसे-फैसे की बातें नहीं हैं। आहाहा! भगवान! यह तो भगवान के दरबार में जाने की बातें हैं। मैं राग का कर्ता नहीं, व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है, उसका भी मैं कर्ता नहीं—ऐसा भी एक विकल्प का पक्ष है। समझ में आया? यह अपने आप पढ़े तो कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है। पोपटभाई! आप पैसे में उलझ गया हो, उसमें यह पढ़े तो कहाँ समझ में आये? पोपटभाई को पहिचानते हो। बड़े गृहस्थ हैं। दो करोड़ रुपये। दुनिया कहती है। धूल... धूल... दो करोड़ रुपये ऐसा कहते हैं और छह लड़के हैं। इनका हसमुख यह लाया है न, मशीन... मशीन। पौने चार लाख। उत्कीर्ण करते हैं न? यह मशीन इनका लड़का इटली से लाया है।



श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का कैसे ? यह तो ... यहाँ तो राग इसका नहीं तो लड़का कहाँ से आया ?

मैं एक राग का कर्ता नहीं, ऐसा जो भाव, ऐसा जो विकल्प, वह भी इसका नहीं। समझ में आया ? बापू! जन्म-मरण रहित होने का सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है, भाई! और इसके बिना जन्म-मरणरहित नहीं हो सकेगा। बापू! लोग भले प्रसन्न हो जाएँ, और लोगों को प्रसन्न करें। व्यवहार से ऐसा होता है, बापू! वहाँ अन्दर में नहीं चलेगा। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं कि जीव कर्ता नहीं है। किसका ? पर का तो नहीं, परन्तु राग जो अन्दर होता है, उसका कर्ता नहीं। कर्ता नहीं, यह बात सत्य है, परन्तु कर्ता नहीं—ऐसी वृत्ति अन्दर उठाना, विकल्प उठाना, वह दुःखरूप है। चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। भगवान तो ज्ञानस्वरूप है न! आहाहा! वह प्रज्ञास्वरूप है न! वह तो ज्ञायकरस स्वरूप है। उसमें यह कर्ता और अकर्ता के विकल्प का अभाव करके तत्त्व चित्स्वरूप है, उसे जानना, वेदन करना, इसका नाम आत्मा की प्राप्ति और धर्म कहा जाता है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो है, वह है। आहाहा! और वह भाव किये बिना उसके जन्म-मरण नहीं मिटेंगे, भाई! कोई स्वर्ग आदि भव मिलेगा, परन्तु वहाँ क्लेश है। समझ में आया ? यह करोड़ोंपति और अरबोंपति सब दुःखी है। इस पैसे की ओर का लक्ष्य है, वह राग है, क्लेश है। आहाहा! इसी प्रकार स्वर्ग में भी पुण्य के फलरूप से जाता है, वहाँ वह क्लेश है। भगवान के आनन्द का उसमें अभाव है। आहाहा! देव भी क्लेश को—दुःख को भोगते हैं। स्वयं देवस्वरूप भगवान को जाने बिना, उसे अनुभव किये बिना देव भी राग को-क्लेश को भोगते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि जो धर्मी है, वह दोनों पक्षपात से रहित है। आहाहा! तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, उसे निरन्तर... ज्ञानस्वरूप (भगवान), वह ज्ञानस्वरूप (ही है)। राग का कर्ता हूँ, वह नहीं और राग का अकर्ता हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं। आहाहा! बहुत मक्खन बात है, भाई! क्या हो ? जो स्वरूप हो, वह आवे। लोग प्रसन्न हों और लोग खुशी हों, ऐसी यह बात नहीं है, आत्मा प्रसन्न हो, यह तो ऐसी बात है। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा राग का कर्ता नहीं, ऐसा जो विकल्प उठाना, अन्दर में गये बिना बाहर में रहकर, आहाहा! मैं राग का कर्ता (नहीं), इसकी इन पण्डितों में बड़ी चर्चा

ललितपुर में की है। परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! तुम थे या नहीं? इन रमेशभाई को वहाँ मारा था। मन्दिर में? कुछ बोले होंगे। बोलना नहीं चाहिए। वास्तव में ऐसे समय में बोलना नहीं चाहिए। विरोध नहीं करना चाहिए। उनके सामने न देखे। वे तो बेचारे उन्हें जो जँचा हो, वह कहे। विरोध करना और उनके सामने बोलना, यह न्याय का नहीं है। समझ में आया? बहुत मारा था मन्दिर में। पण्डित कहे, परद्रव्य का कर्ता है। परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर नहीं। अरे! प्रभु! तू यह क्या करता है? भगवान! तुझे यह शोभा नहीं देता, प्रभु! वह भगवान है, हों! परमात्मा है। व्यक्ति के प्रति द्वेष करनेयोग्य नहीं है। रतनलालजी! उस व्यक्ति के प्रति (द्वेष नहीं)। परमात्मा है, साधर्मी है। उसका आत्मा और यह आत्मा एक जाति है। पर्याय में भूल भले हो, उसकी अभी बात नहीं है। परन्तु जिसने... आहाहा!

मैं राग का अकर्ता हूँ, ऐसी जो विकल्प की वृत्ति भी जिसने छेद दी है, वह तो आत्मा को वेदता है। वह तो पर के आत्मा को आत्मारूप से जानता है। भगवान है आत्मा। साधर्मी है। वस्तुरूप से साधर्मी है। रतनलालजी! पर्यायरूप से... आहाहा! किसी के प्रति (द्वेष नहीं)। तत्त्वेषु मैत्री। किसी प्राणी के प्रति विरोध नहीं होता, भाई! वैर नहीं होता। सभी आत्माएँ तत्त्वेषु मैत्री है। आत्मा मित्र है। इस द्रव्य स्वभाव से। पर्याय में भूल है। तो जिसने भूल निकाल डाली है, वह दूसरे की भूल किसलिए देखे? वह तो आत्मा भगवान है, ऐसा देखेगा। पन्नालालजी! ऐसी बातें हैं, भगवान! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि राग का, व्यवहार के विकल्प का अकर्ता हूँ, ऐसा भी जो विकल्प है, प्रभु! वह संसार है, वह उदयभाव है, वह विभावभाव है, वह संसाररूप है। आहाहा! भगवान संसाररूप से भिन्न है। ऐसी अकर्ताबुद्धि के विकल्प से छूटकर... आहाहा! तत्त्ववेदी चैतन्यतत्त्व जो भगवान, उसका वेदन करनेवाला धर्मी, वह तो चित्स्वरूप, वह तो चित्स्वरूप ही है। आहाहा! अधिकार बहुत अच्छा आ गया है, रतनलालजी! बराबर तुम आये हो। अधिकार मक्खन आया है। आहाहा! यह ७४ हुआ। ७५ (श्लोक)।

**जीव भोक्ता है...** एक मानता है कि राग को जीव भोक्ता है। जो विकल्प उठता है, उसका भोक्ता है। यह व्यवहारनय का पक्ष है। वर्तमाननय को देखनेवाले का यह पक्ष है। उसका हम निषेध करते ही आये हैं, कहते हैं। आहाहा! **ऐसा एक नय का पक्ष है...**

**जीव भोक्ता नहीं है...** आहाहा! भगवान आत्मा राग का भोक्ता नहीं, वह तो आनन्द

का भोक्ता है, प्रभु! आहाहा! वह राग का भोक्ता नहीं, ऐसा जो विकल्प-राग है, वह भी दुःखरूप है। अब ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़े न! बाहर तो आ गयी है। सत्य था वह (बाहर आया)। रतनलालजी! आहाहा! भाई! ऐसा है। तू भी प्रभु है, भगवान! तेरा विरोध नहीं किया जाता, भाई! आत्मा का विरोध नहीं होता। आहाहा! एक क्षण की भूल है। वह भगवान भूल टालकर भगवान होगा, ऐसी उसमें ताकत है। अज्ञान एक समय का है। वस्तु तो त्रिकाल आनन्दकन्द है। एक समय की भूल, हों! अनादि-अनन्त प्रभु स्वयं। आहाहा! उसमें एक समय, सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग। एक समय की भूल कि मैं राग का भोक्ता हूँ और राग का भोक्ता नहीं। यह विकल्प की एक समय की भूल है। त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ प्रभु नित्यानन्द सहजानन्द प्रभु, सहज स्वरूप, स्वाभाविक जो ध्रुवस्वरूप, स्वाभाविक जो ध्रुवस्वरूप, स्वाभाविक जो अखण्ड अभेद स्वरूप, उसमें तो मैं राग का भोक्ता नहीं, ऐसे विकल्प को भी अवकाश नहीं। आहाहा! समझ में आया? देवीलालजी! ऐसा है, भगवान! भाई!

मुझे तो एक बार ऐसा लगा था कि ऐसी सत्य बात कहते हुए किसी को दुःख होता हो तो प्रभु! क्षमा करना। दो दिन पहले मैंने कहा था, हों! चन्दुभाई को कहा था। प्रभु! यह बात ऐसी सत्य है। तुझे दुःख लगता हो तो क्षमा करना, बापू! तू भी भगवान है, भाई! रात्रि में एकदम विचार आने पर अन्दर ऐसा हो गया। अरे रे! ऐसी सत्य बात कहते हुए जिसे दूसरी बात बैठी है, उसे यह असत्य लगे और ऐसा कि अरे रे! हम साधु हैं और इनका सत्कार होता है और यह कहते हैं कि साधु ऐसे नहीं होते। ऐसा तुझे दुःख लगे, भगवान! वह दुःख लगाने का हमारा भाव नहीं है, प्रभु! पन्नलालजी! यहाँ तक हो गया, प्रभु! क्षमा करना। यह बात की सत्यता बाहर आयी है और इसमें तुझे असत्य लगे तो क्षमा करना, भाई! हम इसमें नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! कहो, सेठ! यह सेठ है। आहाहा!

प्रभु! तू राग का अकर्ता है, ऐसा विकल्प भी तुझे शोभा नहीं देता, कहते हैं। आहाहा! और जीव राग का भोक्ता है तथा भोक्ता नहीं, ऐसा विकल्प भी प्रभु! तुझे शोभा नहीं देता, नाथ! आहाहा! तू निर्लेप अखण्डानन्द का नाथ प्रभु है न! भगवान! उस राग का भोक्ता नहीं, ऐसा जो विकल्प भी तुझे प्रभु! शोभा नहीं देता। वह तेरा शृंगार नहीं, वह तेरी दशा नहीं। आहाहा!

**मुमुक्षु :** श्रीमद्जी कहते हैं—‘कर विचार तो पाम...’

**पूज्य गुरुदेवश्री :** विचार तो पाम, विकल्प नहीं। सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझे वे होय। कर विचार तो... विचार अर्थात् उसका ज्ञान कर तो प्राप्त हो। विकल्प कर तो प्राप्त हो,

ऐसा वहाँ नहीं कहा है। समझ में आया ? आहाहा ! उसके बहुत तत्त्व तो बहुत ऊँचे हैं। एक यह दो तत्त्वों भिन्नता न रही। श्वेताम्बर और दिगम्बर की, इतनी बात अटक गयी। अन्त में स्पष्ट हो गयी। अन्त में तो खुल्ली कर डाली थी, परन्तु उनके पक्षकार को यह बात बैठना कठिन लगती है। जिसे जो बात बैठी हो, उसमें से छूटना, सम्प्रदाय में से छूटना भारी कठिन बात। जिसमें पचास-पचास, साठ-साठ वर्ष पोषण किया हो, परिवार की परम्परा जिसमें अनादि से रसबोल हो गयी हो... आहाहा ! उसे छोड़ना, बापू ! आहाहा ! अरे रे ! जन्म-मरण के दुःख को सहन न करना हो तो उसे छोड़ना पड़ेगा, बापू ! जिस सम्प्रदाय में जन्मा, वही सम्प्रदाय सच्चा, ऐसा मानकर सत्य को न माने तो दुःखी होगा, भाई ! और कोई विपरीत श्रद्धा से दुःखी हो, वह प्राणी दुःखी होगा... इसकी प्रसन्नता कैसे हो ? बापू ! समझ में आया ? आहाहा ! अरे ! विपरीत मान्यता... प्रभु ! वर्तमान दुःखी और भविष्य में दुःखी होगा। अरे ! उसका अनादर कैसे किया जाए ? प्रभु ! तिरस्कार नहीं होता, उसकी दया होती है। पन्नालालजी ! ऐसी बातें हैं, बापू ! यहाँ तो। कोई भी विपरीत मान्यता से दुःखी हो, यह कहीं प्रसन्नता है ? वह प्रसन्न होनेयोग्य है ? आहाहा !

श्रीमद् तो कहते हैं, 'कोई क्रिया जड़ हो रहे'। राग की क्रिया में धर्म माननेवाले अज्ञानी हैं। 'कोई शुष्कज्ञान में'। ज्ञान की बातें करे परन्तु ज्ञान की श्रद्धा नहीं करता। 'शुष्कज्ञान में कोई। वर्ते मोहावेश में।' शुष्कज्ञान में, वह तो ज्ञान में कहा। 'करुणा उपजे जोई, माने मार्ग मोक्ष का, करुणा उपजे जोई।' आहाहा ! राग की क्रिया में धर्म माने, ऐसे व्यवहारी और मात्र ज्ञान का जानपना करके ज्ञान का परिणमन श्रद्धा-ज्ञान न करे, उसे कहते हैं कि 'करुणा उपजे जोई'। 'माने मार्ग मोक्ष का।' उसमें मोक्ष का मार्ग मानते हैं, भाई ! जैसे अपने को दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार दूसरे के दुःख को ठीक है, ऐसा वह कैसे माने ? समझ में आया ? विपरीत मान्यतावाला दुःखी होता है... अरे ! बापू ! वह कहीं खुशी है ? आहाहा ! दुःख के पर्वत में गोते खायेगा। बापू ! ऐसे जीव की तो करुणा चाहिए। तिरस्कार नहीं चाहिए। आहाहा ! ऐसा मार्ग, प्रभु ! यह भोक्ता की बात की। यह ७५ हुआ। ७६ (श्लोक)।

एक कहता है कि जीव जीव है... यह निश्चय से। है ? जीव है। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। यह निश्चय के विकल्प का पक्ष है। दूसरा कहता है, जीव जीव नहीं है... पर की अपेक्षा से जीव नहीं है। स्व की अपेक्षा से है, पर से नहीं—यह भी एक विकल्प है, कहते हैं। आहाहा ! कहाँ ले गये हैं ! आहाहा !

सूत का डोरा नहीं होता ? सूत का डोरा करते हैं न ? १६० नम्बर का। सूत का पतला

डोरा। १२० नम्बर, १६० नम्बर। आहाहा! बहुत पतला डोरा होता है। उस उज्जैन में मिल था न? मिल नहीं। विनोद मिल। लालचन्द सेठ है न? क्या कहलाता है? एक बार चरण करने ले गये थे। महाराज! यहाँ पधारो। परन्तु उस मिल में एक व्यक्ति खड़ा हो, बस! बाकी सब मिल अपने आप चलती है। वह सूत डाले, उसका डोरा हो, कपड़ा हो। यदि कहीं डोरा टूट जाए (तो) वह व्यक्ति खड़ा हो, वह ऐसे सांध दे। बस, इतना करे। टूट जाए तो मशीन बन्द हो जाए। अपने आप सब कपड़ा तैयार होकर बाहर निकले। आहाहा! यदि एक भी डोरा जरा टूटा तो अन्दर मशीन बन्द हो जाए। उसी प्रकार यहाँ यदि एक भी विकल्प की वृत्ति जो रहेगी... आहाहा! चैतन्यस्वरूप का तत्त्व-यन्त्र तुझे हाथ नहीं आयेगा। समझ में आया? उनके मिल में ले गये थे। सेठ गुजर गये। उन्हें भी बहुत भ्रमणा थी। ब्राह्मणों से जाप करवाते थे। हम उनके मकान में उतरे थे। जहाँ उतरे थे, वहाँ साथ में ब्राह्मण (था)। क्या करते हैं यह लोग? जाप जपाते हैं। किसके जाप? इस ओर उतरे थे न। उसके साथ बराबर ब्राह्मण जाप जपता था। उसकी भ्रमणा बहुत थी। वैसे करोड़पति कहलाये, परन्तु अन्दर भ्रमणा का पार नहीं होता। अरे रे! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह भगवान है। जीव शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। वह है तो ऐसा, परन्तु जीव है - ऐसा जो विकल्प उठाना, वृत्ति उठाना, वह निश्चयनय का पक्ष है। एक नय का पक्ष है कि जीव नहीं, पर की अपेक्षा से नहीं। वह भी एक व्यवहार का विकल्प है-पक्ष है। आहाहा! इसे कहाँ जाना है, कहाँ यह अटका है? ऐसी बात है।

इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्वेत्ता... तत्त्व अर्थात् चित्स्वरूप ज्ञानमूर्ति का वेदन करनेवाला, आहाहा! ऐसा मैं जीव हूँ और जीव नहीं है, इस विकल्प को वह छोड़ देता है। ऐसा मार्ग है। भगवानजीभाई! पैसेवाले को तो भारी कठिन पड़े। कल नहीं आया था? परमात्मप्रकाश में ६०वीं गाथा। पूर्व के पुण्य के कारण वैभव मिलता है, वैभव से मद होता है। हम ऐसे हैं, हम ऐसे हैं, हम ऐसे हैं। मद से मति भ्रष्ट होती है, मति भ्रष्ट होकर पाप से नरक-निगोद में चला जाता है। परमात्मप्रकाश की दूसरे अधिकार की ६०वीं गाथा। दो अधिकार है न? पहले में १२३ हैं और दूसरे में २१४ गाथाएँ हैं। परमात्मप्रकाश, सवेरे वाँचन होता है न? सवेरे थे? परमात्मप्रकाश पढ़ा। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, पुण्य के वैभव से मद चढ़ता है और मद से मति भ्रष्ट होकर भटकेगा, कहते हैं। यह कहते हैं, पुण्य करने से पुण्य के बल से कर्म का क्षय होगा। ऐसे अखबार, जैन के नाम से... बहुत गजब है, बापू! समझ में आया?

तत्त्ववेदी तो जीव है और जीव नहीं, दोनों के विकल्प से छूटकर, आहाहा! चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। आहाहा! कर्ता-कर्म है न, इसलिए मैं जीव हूँ, जीव हूँ, जीव हूँ। आत्मा हूँ, सिद्धस्वरूपी हूँ, पूर्णानन्द हूँ - ऐसा भी विकल्प जो है, राग की वृत्ति उठती है, वह भी दुःखदायक है। आहाहा! उसे भी छोड़कर तत्त्ववेदी—तत्त्व चैतन्य है, उसका वेदन करनेवाला। राग का वेदन छोड़कर, भगवान अरागी आनन्द के नाथ का वेदन करता हुआ, वह दोनों पक्षपात से रहित है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े, इसलिए लोगों को... रतनलालजी! आलोचना करते हैं। बेचारे को क्या हो? जँचे नहीं। धक्का लगे न अपनी मान्यता को, इसलिए होता है, होता है। भाई!

प्रभु! यह दया की बात है, नाथ! अपनी दया की यह बात है। अपनी अर्थात् आत्मा। आत्मा की दया की यह बात है। जैसा है, वैसा उसे जानना और अनुभव करना, यह जीव की दया की कहलाती है। इसने अपनी दया की। जितना और जैसा है, वैसा उसे मानना, विकल्प से रहित, उसने जीवन्त जीव को ऐसा माना, वह जीव की दया की कि इतना ही मैं हूँ; परन्तु जिसने ऐसे जीव को रागवाला और पुण्यवाला माना, उसने जीवन्त ज्योति चैतन्य राग से भिन्न है, उसका अनादर करके जीव की हिंसा की। स्वयं की (हिंसा की)। आहाहा! जितना और जैसा उसका स्वरूप विकल्परहित निर्विकल्प चैतन्यघन ध्रुव है, ऐसा टिकता तत्त्व है, अकेले तत्त्व को उस रीति से न मानकर उसे राग से लाभ होता है और रागवाला है, ऐसा मानना, वह पूरे जीवन का इसने संहार किया है। ऐसा मैं नहीं, मैं तो रागवाला—ऐसा इसने माना है। चैतन्य के तत्त्व का अनादर किया अर्थात् हिंसा की है। आहाहा! समझ में आया?

करोड़पति-अरबपति हो, उसे कोई गरीब कहे तो उसने करोड़पति का स्वरूप है, उतना जाना नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह सेठिया थे न? सेठिया। दीपचन्दजी सेठिया, सरदारशहर। उनके मामा के पास पैसे बहुत थे। दस करोड़ रुपये। फिर किसी ने बाहर उनके मकान पर ऐसा लिखा कि इस सेठ के पास पैसा नहीं है और दिवाला निकाला है, ऐसा कुछ मकान के ऊपर लिखा। इसलिए सेठ कहता है कि भाई! यहाँ मेरी दीवार पर क्या, अन्दर लिख जा न, इससे कहीं मैं हूँ, वह चला जाएगा? मेरे पास... उस दिन दस करोड़, हों! उस दिन। अभी तो पैसे बढ़ गये। भाव बढ़ गये न? पैसे तो हैं उतनी संख्या परन्तु... बहुत पैसे। उनके मामा के पास दस करोड़। अभी तो बहुत बढ़ गये। सोना भी बहुत संग्रह किया हुआ। फिर उन्होंने कहा, तू यहाँ लिख परन्तु मैं जो हूँ, मेरे पास पूँजी है, उस पूँजी का अभाव तू लिखे, इसलिए कहीं हो जाए ऐसा है?

इसी प्रकार चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द की पूँजीवाला प्रभु... आहाहा! उसे तू ऐसा माने कि मैं रागवाला हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य नहीं हूँ। इससे शुद्ध चैतन्य का नाश हो जाता है? तेरी दृष्टि में उसका नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश... बापू! मार्ग तो यह है, भाई! जन्म-मरण का फेरा चौरासी का, एक-एक योनि में अनन्त बार जन्मा, भाई! मरते हुए तेरे दुःख को मरते हुए तेरी माँ रोई, उस रोने के आँसू इकट्ठे करे तो समुद्र भर जाए, इतनी बार तू मरा है, दुःखी हुआ है, भाई! यह अष्टपाहुड़ में है। तेरे मरण के दुःख से तेरी माँ दुःखी हुई है। तू पच्चीस वर्ष का मर गया और वह माँ पचास वर्ष की। वह दुःखी होकर रोती है। उस रोने के आँसू में इतने भव तूने किये हैं कि उन आँसुओं के स्वयंभूरमण समुद्र भर जाए। बापू! तेरे दुःख को देख सके नहीं। ऐसे दुःख तूने भोगे हैं। अब तुझे किसके सामने देखना है? बापू! आहाहा! कौन कैसे मानता है और कौन कैसे कहता है, इससे तुझे क्या काम है? भाई!

यहाँ तो आचार्य ऐसा कहते हैं, कि जीव हूँ, ऐसा जो विकल्प उठे, वह भी दुःखरूप है। आहाहा! क्योंकि ज्ञानस्वरूप वह विकल्प है कहाँ? समझ में आया? आहाहा! यह रणजीत सिंह जामनगर में गुजर गये न? भाई! दरबार रणजीत सिंह। करोड़ का तालुका, उन्हें कोई लड़का नहीं था। भाई का लड़का (था)। भाई का लड़का यहाँ नहीं था और रणजीत सिंह यहाँ गुजर गये। तार किया, तार। बापूजी गुजर गये हैं, आओ। उसे खबर पड़ी कि अब राज मुझे मिलेगा। भाई का लड़का था, स्वयं को लड़का नहीं था। जामनगर, करोड़ का तालुका। इसलिए रस्ते में एकदम विमान में आया। मुम्बई से अहमदाबाद। ऐसा ही हो गया कि अब मैं राजा, मैं राजा। यह विकल्प उठा, परन्तु राज मिला, तब विकल्प छूट गया।

इसी प्रकार विकल्प में पहले मैं पूर्ण शुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ, जीव हूँ, ऐसा विकल्प हो। परन्तु विकल्प छूटे, तब राज मिले, ऐसा है। धन्नालालजी! ऐसी बातें हैं, बापू! यहाँ तो। लो, चार हो गये। यह ७६ हुआ। ७७ आयेगा।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२०

श्री नियमसार, गाथा-१६७, प्रवचन - १९८

दिनांक - ३१-०७-१९८०

नियमसार, २८२ कलश। अधिकार ऐसा लेंगे कि केवलज्ञान अपने को जानता है। बाद की गाथा में लेंगे कि केवलज्ञान सर्व को जानता है। दोनों बातें ली हैं। आहाहा! उसमें मर्म क्या है? कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप हर पल, हर क्षण जो रागादि चीज होती है, उसका तो वह जाननेवाला है। आहाहा! क्योंकि नवतत्त्व में राग-द्वेषादि भिन्न तत्त्व है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञान का पिण्ड प्रभु, वह अपने को जानता है और राग को जानता है, यह व्यवहार कहेंगे। बाकी यहाँ तो अपने को ही जानता है। आहाहा!

( निश्चय से ) आत्मा सहज परमात्मा को... सहज परमात्मा अर्थात् अपना स्वरूप। सहज परमात्मा अर्थात् अपना पूर्ण स्वरूप। आत्मा सहज परमात्मा को देखता है— आहाहा! ऐसी ताकत है। आत्मा मानना, वह कहीं साधारण बात नहीं है। अन्तर में उसकी शक्ति, आत्मा अपने परमात्मा के पूर्ण स्वरूप को देखता है, जानता है। आहाहा! वह प्रतीति में आना। विकल्परहित प्रतीति होती है। आहाहा! कि जो परमात्मा एक है,... स्वयं आत्मा स्वरूप से तो एक है। भले गुण अनन्त हों, तो भी वस्तु एक है। आहाहा! विशुद्ध है,... निर्मल है। विशुद्ध का अर्थ, शुभभाव के अर्थ में भी विशुद्ध आता है और शुद्धता के अर्थ में भी विशुद्ध आता है। विशुद्ध शब्द से यहाँ ( आशय ) निर्मल है। आहाहा!

भगवान आत्मा विद्यमान जीव है। अपने अस्तित्व में विराजमान है। यह विशुद्ध है। एक है। गुणभेद आदि नहीं। द्रव्य एक है। आहाहा! और विशुद्ध है। निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से... निज-अपनी शुद्धि का स्थान होने से। अपनी शुद्धि को रहने का वह स्थान है। आहाहा! ( केवलज्ञानदर्शनादि ) महिमा का धारण करनेवाला है,... आहाहा! यह बात बैठना... भाई! यह तो छद्मस्थ है, छद्मस्थ। राग होता है, उसे भी कहते हैं कि तेरा आत्मा तो प्रभु पूर्ण है न। आहाहा! और वास्तव में तो तू पूर्ण आत्मा को देखता है न, प्रभु! आहाहा! अपने को छोड़कर पर को देखना, वह तो व्यवहार है। वह व्यवहार कहेंगे। व्यवहार है, परन्तु निश्चय



में तो अपने स्वरूप को स्वयं देखता है। आहाहा! छद्मस्थ को भी ऐसा है। यह कहा न? आहाहा!

( केवलज्ञानदर्शनादि ) महिमा का धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है... शाश्वत् धीर प्रभु है। ध्रुव धीर। आहाहा! उसकी अन्तर में दृष्टि करना, वही परमात्मा है। तू अन्दर परमात्मा है। यह कहा न? आत्मा सहज परमात्मा को देखता है—कि जो परमात्मा एक है,... तेरा स्वरूप पूर्ण है। आहाहा! वह निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से... अन्तर निर्मल शक्तियों का आवास, घर, निवास है। आहाहा! अनन्त महिमा का धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से... निज आत्मा में... पर की बात यहाँ जरा भी नहीं है। पर को तो स्पर्श नहीं करता। पर का तो अपने में अत्यन्त अभाव-स्वभावस्वरूप है। आहाहा! ऐसा स्वरूप आत्मा का है। शुद्धोपयोग अधिकार है न? शुद्धोपयोग।

परमात्मा अन्दर पूर्ण तुझमें है। अनन्त-अनन्त गुण का आवास। आहाहा! अनन्त गुण को रहने का स्थान तू है। राग और पुण्य और पर्याय, वह रहने का स्थान नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा को अन्तर (में) देखना और अनुभव करना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! कठिन बात है। एक-एक कठिन बात वीतराग की तो है। आहाहा!

सवेरे कहा था न कि शुभभाव करे कोई भी... आहाहा! अब अभी तो ऐसा कहते हैं कि शुभभाव से शुद्ध होता है। प्रभु कहते हैं कि शुभभाव करे और शुद्ध को भूले, वह नपुंसक है। आहाहा! प्रभु को कहाँ दुनिया की पड़ी है? सन्तों को कहाँ पड़ी है? दिगम्बर सन्तों को दुनिया की कुछ पड़ी नहीं। दुनिया कैसे माने, न माने। सुगठित रहे, (न रहे) विषम तर्क। विषम तर्क उठावे, वह स्वतन्त्र है। दिगम्बर सन्तों को जगत की कुछ पड़ी नहीं है। नागा बादशाह से आघा। आहाहा! जिन्हें बादशाह की भी गिनती नहीं। सत्य को प्रसिद्ध करने में संकोचहीनता नहीं है। वह तो स्वरूप ऐसा है, ऐसा तुम मानो, जानो। छद्मस्थ में भले रागादि हैं, परन्तु वे तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! तू तो उनका जाननेवाला है। उन्हें जाननेवाला कहना, यह भी व्यवहार है। अपने में स्व और पर को जानने की शक्ति है तो अपने को जानता है। उसी क्षण में राग को भी अपनी सत्ता से पर की अपेक्षा बिना, राग की अपेक्षा बिना राग को अपने में जानता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप!

अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। प्रभु सर्वदा—तीनों काल द्रव्यस्वभाव से अन्तर्मग्न ही है। यह वस्तु जो आत्मा है—द्रव्य, वह कभी राग में, पुण्य में आया ही नहीं। आहाहा! सर्वदा अन्तर्मग्न है। अन्तर आनन्दादि गुण में मग्न है। ऐसी सूक्ष्म बात है। मार्ग दूसरा

नहीं, भाई! तुझे तेरी कीमत करना न आवे, तब तक सब शून्य है। आहाहा! तेरी कीमत और तेरी क्या चीज़ है? तू परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा! वह सर्व गुण को रहने का स्थान है। वह विकार को रहने का स्थान नहीं है। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव रहने का स्थान नहीं है। आहाहा! कठिन पड़े। पुण्य से धर्म होता है... पुण्य से धर्म होता है... पुण्य से पवित्रता होती है। बस, यह लेख। लेख आते हैं। जैन में आते हैं न? उसमें यही पूरा लिखा है। पुण्य के कारण धर्म होता है, पुण्य के कारण पवित्रता होती है। आहाहा!

एक जगह दृष्टान्त आता है। पुण्य से पवित्रता। परन्तु वह पुण्य अर्थात् पवित्रता की बात है। वह पुण्य शुभराग की बात नहीं है। आहाहा! पुण्य को पवित्रता कही है। परन्तु वह अपना पवित्र स्वभाव, उसे यहाँ पुण्य को पवित्र कहा है। शुभभाव को पुण्य कहकर पवित्र कहा है, ऐसा नहीं है। एक ओर कहते हैं कि शुभभाव अपनी चीज़ से दूर है। अपना स्वरूप पुरुषार्थमय है; राग, वह नपुंसकता है। आहाहा! बैठना कठिन पड़े। जैनधर्म वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी ने कहा हुआ यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। किसी ने बनाया नहीं। भगवान ने कोई चीज़ बनायी नहीं। तथा भगवान उस चीज़ को स्पर्श भी नहीं करते। परन्तु चीज़ कैसी है, ऐसा जानना, वह भी व्यवहार जानने में मग्न है। अपने को परसम्बन्धी जो ज्ञान होता है, उसमें मग्न है। आहाहा!

वह सर्वदा अन्तर्मग्न है। तीनों काल भगवान आत्मा अन्तर अनन्त गुण में निमग्न है। आहाहा! कर्म में तो वह आया नहीं परन्तु पुण्य के शुभभाव में भी आया नहीं। ऐसा उसका स्वभाव त्रिकाल सर्वदा अन्तर्मग्न है। स्वभाव से महान... अपने स्वभाव से महान। आहाहा! मानना तो यह है। करके करने का तो यह है। दूसरा जाने, न जाने परन्तु आत्मा को जाने बिना सम्यक्त्व नहीं होता। आहाहा! आत्मा ऐसा है। दूसरे जो आत्मा कहते हैं, वह नहीं। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा, उसका जितना अस्तित्व है और अस्तित्व की जो पद्धति है। अपने में मग्न, वह अपनी पद्धति है। आहाहा! बाहर में कभी आता नहीं। राग में द्रव्यस्वभाव कभी आता नहीं। आहाहा! और राग को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। यह कहेंगे। बाद की गाथा में (कहेंगे)। जानता है। निश्चय से तो अन्तर्मग्न है। राग का ज्ञान होने पर भी अन्तर्मग्न है। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं हो और बाहर में धर्म हो जाए। देव-गुरु की भक्ति या दया, दान (करो)। आहाहा!

प्रभु! तेरी कीमत अलौकिक है। तू पर की भक्ति करता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! भगवान की भक्ति करता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं। वह भी विकल्प है। उस विकल्प

का अपने में अपने से ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में आत्मा मग्न है। विकल्प में मग्न नहीं। ओहोहो! यहाँ पहुँचना! दुनिया में से निवृत्ति नहीं न! इसके बिना भव का अन्त नहीं आयेगा, प्रभु! चौरासी के अवतार अनन्त-अनन्त अवतार किये। अपने में निमग्न आत्मा को जाना नहीं। किसी भी प्रकार से पराधीन और पर से अपना अस्तित्व जानकर... आहाहा! पर से कभी दृष्टि हटायी नहीं और हटाने का प्रयत्न किया नहीं। आहाहा! करना तो यह है। भगवान सर्वस्व अपने गुण में रहनेवाला अन्तर्मग्न है। है न?

अत्यन्त धीर है... आहाहा! और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल... स्वरूप में, निज आत्मा में अविचल। कभी अपने स्वरूप में से हटता नहीं। आहाहा! अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में... आहाहा! स्वभाव से महान। किसी ने बनाया है या उसे महान कहते हैं, इसलिए महान है, ऐसा नहीं है। वह सब महिमावन्त महान पदार्थ ही है। आहाहा! सहज। है न? स्वभाव से महान... स्वभाव से महान है। अपने स्वभाव से ज्ञान और आनन्द, शान्ति और स्वच्छता, वीतरागता आदि अपने स्वभाव की महिमा में मग्न है। आहाहा! उसके कारण महान है। स्वभाव से महान है। किसी का करे और किसी को बनावे तो उसकी महिमा है और महान है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म।

स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच ( विस्तार ) है ही नहीं। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा में व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। है न? नीचे स्पष्टीकरण किया था। कल हो गया है। पर को जाने, इतना व्यवहार। यह प्रपंच भी उसमें नहीं है, कहते हैं। आहाहा! पर का तो करे नहीं परन्तु पर को जानना, ऐसा व्यवहार प्रपंच भी उसमें नहीं है। आहाहा! व्यवहार से कितने हटकर अन्दर में जाना, जहाँ भगवान का आवास है। आवास—रहने का स्थान, बँगला है, बँगला। अपना स्वरूप अपने में रहने का स्थान है। असंख्यप्रदेशी। आहाहा! वहाँ जाकर ( रहने का है )। उसमें व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। आहाहा! वह कल नीचे का ( फुटनोट ) पढ़ा था। निश्चय से है, व्यवहार से जानते हैं परन्तु उसकी कुछ महिमा नहीं है। अपने को छोड़कर क्षेत्र से, भाव से, गुण अर्थात् भाव, पर्याय से, द्रव्य से अपने में से एक अंश भी दूर होकर पर के प्रपंच में पड़े, वह वस्तुस्वरूप है नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा अब। व्यवहार के रसवाले को एकान्त लगता है। आज व्यवहार का लेख बहुत आया है। पुण्य से होता है, पुण्य से ही भगवान मिलते हैं, पुण्य से ही पवित्रता होती है, पुण्य ही... पुण्य ही... ऐसा... नौ प्रकार के पुण्य करो, तुम्हारा कल्याण होगा। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, पुण्य को जानना, वह व्यवहारप्रपंच है। आहाहा! यह तो अपना ज्ञान, स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपना स्वरूप है। उसमें मग्न है। आहाहा! कठिन पड़े।

( अर्थात् ( स्वभाव से मानने से ) निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं )। एकरूप चैतन्य प्रभु... आहाहा! उसमें कोई गुण भेदादि व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। तो पर को जाने, ऐसा व्यवहार (प्रपंच) है ही नहीं। एकरूप चैतन्यमूर्ति भगवान अनादि सत्ता, जिसकी सत्ता में पर का प्रवेश नहीं है और पर में अपना प्रवेश नहीं है और पर के प्रवेश में अपना प्रवेश नहीं, ऐसा व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। व्यवहारप्रपंच का विस्तार है ही नहीं। आहाहा! अन्दर है या नहीं? आहाहा! उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानी पर को नहीं जानते। तो छद्मस्थ भी यह जाने वह पर को नहीं जाने, ऐसा नहीं है। पर को जानते हैं परन्तु पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! नीचे का कल चला था। ऐसा कि केवली पर को नहीं जाने तो नीचे वाला तो पर को जाने नहीं। वह पर को जाने तो जानने की अपनी शक्ति है। स्व-पर प्रकाशक अपनी शक्ति अपने से है। पर को जानने की शक्ति से आत्मा में पर को जानने की शक्ति है, ऐसा है नहीं। स्व और पर को जानने की शक्ति स्वतः सहज अपनी महिमा में, अपनी महानता में वह तो है। आहाहा! और वह महानता यह है। अपने में रहना, यह महानता है। आहाहा!

निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं। आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं तथा दूसरी ओर जानने का कहते हैं। निश्चय से... आहाहा! यह सब बात सिद्ध करने में आत्मा ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है, (ऐसा कहना है)। ज्ञान वह अपने को और पर को व्यवहार से जाने-देखे। परन्तु दूसरा कुछ पर का करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बहुत तो पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहो, परन्तु व्यवहार से पर को हिलावे-चलावे, क्रिया करे - यह वस्तु में तो है नहीं, प्रभु! आहाहा! कठिन काम है। यह कार्यकर्ता सब काम करे, उन्हें भारी कठिन लगता है। बहुत वर्षों पहले डेबरभाई के साथ चर्चा हुई थी। नीम के नीचे। वे कहें निमित्त तो हम होते हैं न? निमित्त होवें तो होवे न। आहाहा! निमित्त होवें तो होवे न। निमित्त होवे तो होता है तो जो सामने चीज है, वह पर्यायरहित है? अपने कार्यरहित है? जो चीज - द्रव्य निकम्मा पड़ा है? उसके कार्य बिना निकम्मी पड़ी है? कार्य तो पर्याय है। कोई भी द्रव्य कार्य बिना का पड़ा है? कार्य कहो या पर्याय कहो। आहाहा! निमित्त क्या करे? निमित्त कुछ नहीं करता। आहाहा! कहो, इस पुस्तक को रखा, इसलिए तो... आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यह तो वीतराग है। परमात्मा कहते हैं कि जैसे हम हैं, वैसे तुम हो। अनादि काल से तू ऐसा है। तुझे भ्रम है (कि) अल्प हूँ, रागी हूँ, पर को जानने में रुकना, वह तुझे भ्रम है।

आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अनन्त दर्शन, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, उसका वह घर और आवास है। आहाहा! बसने के लिये वह बास है। आवास अर्थात् वह रहने का स्थान है। पर को रहने का स्थान नहीं। राग भी आत्मा में रहे, ऐसा आवास नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! और वापस टीका करे कि तुम ऐसा कहते हो फिर यह जहाँ-तहाँ शिविर लगाना, दूसरे को समझाना और यह सब उपाधि किसलिए करते हो? ऐई! बाबूभाई! अरे! प्रभु! वह तो बनने के काल में बनता है। कोई करता नहीं। वास्तव में तो ज्ञाता है। उस काल में वह जड़ की पर्याय उस प्रकार से भाषा की पर्याय का काल है तो भाषा होती है। आहाहा! एक ओर कहे, किसी का कुछ कर नहीं सकता और अब दूसरी ओर तुम्हारे लोग जहाँ-तहाँ उपदेश देने घूमते हैं। तो उसमें कुछ कर सकते हैं या नहीं? आहाहा!

**श्रोता :** लोगों को मायाचारी जैसा लगता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मायाचारी जैसा... आहाहा!

भगवन्त! तेरा स्वरूप ही ऐसा है, नाथ! तू तुझे जाने; पर को जाने, वह परसम्बन्धी जाने नहीं। वह अपनी शक्ति स्व-परप्रकाशक है, उसे जाने। और वह स्व-परप्रकाशक शक्ति अपने में निवास करती है। अकेले पर को जानना, उसकी यहाँ बात नहीं है। आहाहा! पुण्य और पाप, दया और दान का तो आत्मा आवास है नहीं, परन्तु पर को जानने का भाव त्रिकाल में—स्व-परप्रकाशक शक्ति के पिण्ड में वह भी नहीं है। आहाहा!

निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं। आहाहा! और वह तो कहे पुण्य करो, करते-करते कल्याण हो जाएगा। पुण्य करो, दया करो, दान करो। करते-करते केवल(ज्ञान) हो जाएगा। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। व्यवहार से निश्चय होगा। यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार को जाने-ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! व्यवहार जो, व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है, उसे जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहारप्रपंच है। अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति में ही द्रव्य लीन है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है, इसलिए अलग लगती है। आहाहा! लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं। आहाहा! अब इससे उल्टा आया।

गाथा १६७

मुत्त-ममुत्तं दव्वं चेयण-मियरं सगं च सव्वं च।

पेच्छंतस्स दु गाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ॥१६७॥

जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्व-पर सब द्रव्य हैं।  
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है प्रत्यक्ष है ॥१६७॥

टीका : यह, केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है। छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना है,... भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। उनमें पुद्गल जो है... आहाहा! उसे मूर्तपना है ( शेष ) पाँच को अमूर्तपना है; जीव को ही चेतनपना है, ( शेष ) पाँच को अचेतनपना है। आहाहा! एक चैतन्य। मूर्त के सामने एक चैतन्य। धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त तो हैं परन्तु यहाँ तो मूर्त के सामने एक चैतन्य है। आहाहा! और जीव को ही चेतनपना है, ( शेष ) पाँच को अचेतनपना है। त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को ( स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को ) निरन्तर देखनेवाले भगवान... लो! पहले वहाँ निषेध किया तो फिर यहाँ हाँ ( किया )। व्यवहार से। आहाहा! व्यवहार है, वह आदरणीय नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि निरन्तर त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को... जितने हैं, उन्हें। ( स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को ) निरन्तर देखनेवाले भगवान... देखो! आहाहा! निरन्तर देखनेवाले, ऐसा कहा न? आहाहा! उसमें कहा कि निरन्तर तो अन्दर रहनेवाले हैं। अत्यन्त अविचल सदा अन्तर्मग्न हैं। आहाहा! यह तो व्यवहार सिद्ध करते हैं। परवस्तु है, वह अपने ज्ञान की ताकत में स्व को जानते हैं, वैसे पर को जानते हैं। ऐसा व्यवहार है। व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

समस्त द्रव्यों को निरन्तर देखनेवाले... भाषा देखी! उसमें व्यवहारप्रपञ्च बिल्कुल नहीं, ऐसा कहा। यहाँ कहते हैं कि निरन्तर देखनेवाले। आहाहा! व्यवहार लिया न, व्यवहार? ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। है तो अपने कारण से, परन्तु परप्रकाशक ( कहा उसमें ) पर की अपेक्षा ली है, इसलिए पर को निरन्तर देखते हैं—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! एक धोरण क्या इसमें तब? यह सच्चा या वह सच्चा? उनके स्थान में दोनों सच्चे। निश्चय निश्चय के स्थान में सत्य है, व्यवहार जाननेयोग्य है, इतना व्यवहार है, उतना भी सत्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

श्रोता : अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों सच्चे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अपेक्षा से। जाने। जाने, वह बिल्कुल न जाने तो केवलज्ञानी लोकालोक को जानते हैं, यह भी मिथ्या पड़ जाए। है तो लोकालोक को जाने, वह असद्भूतव्यवहार है। क्या कहा? केवलज्ञान लोकालोक को जानता है भगवान, वह

असद्भूतव्यवहार है, झूठा व्यवहार है। सद्भूतव्यवहार नहीं। सद्भूतव्यवहार तो आत्मा की पर्याय और पर्याय, वह आत्मा, यह सद्भूतव्यवहार है। पर को जानना, वह तो असद्भूतव्यवहार है। आहाहा! वह भी एक है। बिल्कुल निकाल डाले और बिल्कुल व्यवहार से भी पर को न जाने, (ऐसा) एकान्त में ले जाए तो उसके लिये बात की है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

**श्रोता :** व्यासकर जाने तो असद्भूतव्यवहार, व्यापे बिना जाने तो सद्भूतव्यवहार ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर के साथ सद्भूत है ही नहीं। पर के साथ सद्भूत है ही नहीं। पर के साथ असद्भूतव्यवहार है। अपनी पर्याय को अपने में जाने, वह सद्भूतव्यवहार है। आहाहा! यह ११वीं गाथा में कहा है। ११वीं गाथा। व्यवहार, वह सब अभूतार्थ है। है ? व्यवहार सब अभूतार्थ है। व्यवहार सब अर्थात् अध्यात्म के हिसाब से चार व्यवहार हैं। एक असद्भूत उपचार और अनुपचार। एक सद्भूत उपचार और अनुपचार। अर्थात् क्या ? कि आत्मा में जब राग होता है, वह ख्याल में आता है, उसका नाम असद्भूत उपचार कहने में आता है। ऐसी लम्बी बातें! पाठ में व्यवहार अभूतार्थ कहा। समयसार की ११वीं गाथा में। व्यवहार सब अभूतार्थ है। आहाहा! व्यवहार सब, तब एक व्यवहार नहीं होता।

व्यवहार परन्तु सब तेरे अधिक व्यवहार, अध्यात्म के व्यवहार भी चार हैं। आगम के व्यवहार तो बहुत हैं। नैगमनय और संग्रहनय वह सब आगम के हैं। यह तो अध्यात्मनय में भगवान आत्मा सब व्यवहार से भिन्न है।

व्यवहार चार प्रकार के हैं। उनमें राग आता है तो ज्ञात होता है कि यह राग उपयोग स्थूल है। ख्याल में आता है तो वह उपचार व्यवहार है। असद्भूत उपचार। असद्भूत (अर्थात्) आत्मा में है नहीं। असद्भूत उपचार। और उस समय में उपयोग सूक्ष्म नहीं है, इसलिए राग ज्ञात नहीं होता, तथापि है, वह असद्भूत अनुपचार व्यवहार है। आहाहा! और सद्भूतव्यवहार के दो भेद। ज्ञान राग को जाने, वह सद्भूतव्यवहार उपचार। आत्मज्ञान राग को जाने, वह सद्भूत ज्ञान अपना, पर को जाने वह सद्भूतव्यवहार। यह उपचार है। पर को जाने वह भी सद्भूत उपचार है और ज्ञान वह आत्मा, यह सद्भूत अनुपचार व्यवहार है। आहाहा! यह अर्थ ११वीं गाथा में चला था। व्यवहार सब अभूतार्थ है, (ऐसा) मूल पाठ टीका है। पश्चात् सब इसका अर्थ इसमें नहीं है। सबका अर्थ यह है। व्यवहार पर को जाने, अरे! ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा भेद (करना), वह भी अभूतार्थ है। ज्ञायक, वह ज्ञायक है। आहाहा! वह निश्चय है।

वहाँ कहा, कि व्यवहार का प्रपंच उसमें नहीं है। आहाहा! यहाँ कहा कि त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि... अपने स्वद्रव्यसहित, अकेला पर नहीं। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसहित अशेष को... दूसरे को भी स्वद्रव्यादि और अशेष... अर्थात् दूसरे। ( स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को )... अशेष का अर्थ पर लिया। आहाहा! यह कहने का आशय इतना है, प्रभु! कि तेरा स्वरूप तो जानन-देखन है। बस! कुछ करना, किसी का करना, फंसाना, पर का करना तो है ही नहीं। आहाहा! परन्तु राग को करना, वह भी तेरी चीज़ में नहीं है। ज्ञान करे या ज्ञान जाने? आहाहा! जानन के पास करना, बताना, इसे रचना, वह तो मिथ्या भ्रान्ति है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

सद्भूतव्यवहार—ज्ञान, वह आत्मा, यह सद्भूतव्यवहार अनुपचार। वह ज्ञान राग को जानता है, यह सद्भूत उपचार व्यवहार। राग को जानने-देखने में आवे, वह असद्भूत उपचार व्यवहार और जानने में न आवे, ( तो भी ) है। क्योंकि स्थूल उपयोग है तो ज्ञात नहीं होता। स्थूल राग ज्ञात होता है। जो ज्ञात नहीं होता, वह असद्भूत अनुपचार व्यवहार। यह दो के आत्मा में है ही नहीं। असद्भूतव्यवहार, उपचार और अनुपचार यह आत्मा में नहीं है। इसीलिए असद्भूत कहा। और यह सद्भूत कहा, भले राग को जाने परन्तु ज्ञान अपने में है न, और ज्ञान वह आत्मा, यह तो अनुपचार सद्भूत है। आहाहा! ऐसी सब बातें। वे तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय की दया पालना, हिंसा न करना और मूर्तिवाले को मूर्ति बनाना और भक्ति करना... ओहो! एक व्यक्ति बिरधीचन्द अभी लिखता है कि मूर्ति की प्रतिष्ठा थी। यह सब लाखों लप ( आडम्बर ) बाद में घुस गयी है। ऐसा लिखा है। वर्ष भी दिया है। अमुक वर्ष के बाद ऐसा होगा? नहीं होता। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... उसमें यह कहाँ कर सकता है ?

निश्चय से तो परमात्मा की प्रतिमा भी पधरा नहीं सकता। परद्रव्य को क्या करे? आहाहा! यह तो प्रतिष्ठा होने की पर्याय वहाँ होनेवाली हो तो होती है, तो आत्मा को निमित्त कहने में आता है। निमित्त है, इसलिए उससे यह हुआ, ऐसा है नहीं। बहुत कठिन काम। एक ओर मूर्ति पूजा... स्वाहा... ( करके ) चावल चढ़ावे, वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! वह तो नहीं कर सकता परन्तु यह राग आया उसका भी जाननेवाला रहता है; करनेवाला नहीं होता। आहाहा! यहाँ पहुँचना।

यहाँ कहते हैं, यह व्यवहार है। स्व और परद्रव्य को निरन्तर देखनेवाले भगवान... आहाहा! पहले कहते हैं कि व्यवहार का प्रपंच नहीं देखते। यह व्यवहार का प्रपंच है, व्यवहार



का विस्तार है। यह कहते हैं निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो क्रम,... परमेश्वर का जो क्रम इन्द्रिय और व्यवधान रहित,... उन्हें जानने में क्रम नहीं है। भगवान भले पर को जाने परन्तु क्रम नहीं है। एक के बाद एक जाने, ऐसा नहीं है। एक समय में सब लोकालोक जाने। आहाहा! पहले लोक जाने और फिर अलोक जाने, पहले स्व जाने और फिर पर जाने, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

त्रिलोक के नाथ परमात्मा तब हुए कि क्रमरहित, इन्द्रियरहित, व्यवधानरहित... आहाहा! यह स्पष्टीकरण अन्दर २८ पृष्ठ पर किया है। व्यवधान-दखल नहीं, दखल। केवलज्ञान में पर का व्यवधान अर्थात् दखल नहीं है। २८वें पृष्ठ पर नीचे है। है? व्यवधान = आड़; पर्दा, अन्तर, विघ्न, फासला। ऐसा है नहीं। आहाहा! है न? ऐसा... ऐसा... सुनना मुश्किल पड़े। एक तो मिले नहीं और मिले तब सूक्ष्म पड़े। इसे किये बिना छुटकारा नहीं है, प्रभु! चौरासी के अवतार में इसने दुःख भोगे हैं। उस दुःख को देखनेवाले की आँखों में से धारा चली है। आहाहा! देख सके नहीं। प्रभु! अनन्त काल हुआ। मूल वस्तु अभेद चैतन्य... आहाहा! पर को जाने, ऐसा व्यवहार हो, परन्तु अपना स्थान छोड़कर पर में जाए, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार को पर में जानने जाए, ऐसा है नहीं। आहाहा!

व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल... सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय-इन्द्रियरहित सकल-विमल ( सर्वथा निर्मल ) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है। सकल प्रत्यक्ष हैं। सब प्रत्यक्ष है। मूर्त-अमूर्त, स्वद्रव्य-परद्रव्य, सब प्रत्यक्ष हैं। आहाहा! परवस्तु भी प्रत्यक्ष है। प्रवचनसार में बहुत लिया है। प्रवचनसार में सब आता है। भविष्य में पर्याय होगी, वर्तमान है नहीं, वह केवलज्ञान को प्रत्यक्ष है। तब किसी ने प्रश्न किया कि है नहीं और प्रत्यक्ष जानते हैं, यह तो खोटी बात हुई। अरे! खोटी बात हुई नहीं, सुन तो सही। यह तो माहात्म्य हुआ। भविष्य की पर्याय है नहीं, अनन्त काल के पश्चात् पर्याय होगी। उसमें अभी है नहीं, उसमें, उसे केवलज्ञान भगवान... यह यहाँ कहा न सकल-विमल ( सर्वथा निर्मल ) केवलज्ञान, वह सकलप्रत्यक्ष है। उन्हें सकलप्रत्यक्ष है। आहाहा! एक ओर भगवान को व्यवहार प्रपंच कहा, वह तो पर की अपेक्षा से। यह जहाँ जानने का है व्यवहार, इतना स्व-परप्रकाशक।

स्व-परप्रकाशक दो प्रकार से है। एक स्व-परप्रकाशक स्व-रूप से है और एक स्व-परप्रकाशक पर की अपेक्षा लेने से परप्रकाशक है। आहाहा! क्या कहा? स्व-परप्रकाशक दो प्रकार के हैं। एक अपना स्वरूप स्व-परप्रकाशक निश्चय से है। स्व-परप्रकाशक स्वरूप ही

है। और स्व-पर स्व को को जाने और पर को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह कहा।

अतीन्द्रिय सकल-विमल ( सर्वथा निर्मल ) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है। क्या सकलप्रत्यक्ष है? पहली चीज़ जैसी कही वह। छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना है, ( शेष ) पाँच को मूर्तपना है;... प्रत्यक्ष। जीव को ही चेतनपना है;... प्रत्यक्ष ( शेष ) पाँच को अचेतनपना है। प्रत्यक्ष। त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को ( स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को ) निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल ( सर्वथा निर्मल ) केवलज्ञान, वह सकलप्रत्यक्ष है। आहाहा! भाई! इसका अञ्जयास न हो, उसे कठिन लगे, परन्तु वस्तु तो यह है। आहाहा!

अन्तर चैतन्य भगवान इस परमाणु को छुआ नहीं है। यह परमाणु, अनन्त परमाणु प्रत्येक समय में, उसकी-परमाणु की पर्याय होती है। उस पर्याय में अपने आत्मा का अधिकार बिल्कुल नहीं है। आहाहा! यह बोलने में, वाणी निकलने में, लिखने में आत्मा का बिल्कुल अधिकार नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

प्रभु! तू तो ज्ञान है न? ज्ञान क्या करे? ज्ञान तो ज्ञान करे। तो यह कहा कि पर का ज्ञान करे, इतना व्यवहार भले रखो। बाकी तो ज्ञान स्वयं अपने में समाता है। पर का ज्ञान करते समय ज्ञान ने कहीं अपना स्थान छोड़ा है, ( ऐसा तो नहीं है )। आहाहा! इस प्रकार का धर्म! मार्ग तो ऐसा है, भाई! अरे! अनन्त काल से... आहाहा! चकनाचूर बालक को ऐसे। रास्ते में बालक बैठा था, उसमें एक ट्रक निकला, वह उसके ऊपर चल जाता है, चकनाचूर। आहाहा! भगवान! उसे भी तू जाननेवाला है। वह व्यवहार परन्तु उसे जाननेवाला व्यवहार है। बाकी जानना तो अपने में रहा है। जानने का स्थान, आवास, निवास, क्षेत्र, पर नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! ऐसा धर्म! यहाँ तक आया। सकलप्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार ( श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत ) श्री प्रवचनसार में ( ५४वीं गाथा द्वारा ) कहा है कि: — यह अब कहेंगे। ( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )

२१

श्री समयसार परिशिष्ट, श्लोक २४८-२५०, प्रवचन - ४७१  
दिनांक - २३-०९-१९८०

समयसार चौदह बोल हो गये। कोष्ठक में आया न? तत्-अतत् ये दो भंग आ गये, एक अनेक दो भंग आ गये; सत्-असत् के (दो भंग आये)। स्व रूप से है और पर रूप से नहीं। ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आठ भंग और नित्य-अनित्य के दो भंग, ऐसे मिलकर चौदह भंग हुए। यह तत्त्व की बात एकदम माल है। इन चौदह भंगों में यह बताया है कि - एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है... एकान्त माननेवाले को ऐसा लगता है कि ज्ञान में परचीज ज्ञात होती है, वह पर के कारण ज्ञात होती है। ऐसा मानने से ज्ञानमात्र का नाश होता है। समझ में आया? आहाहा!

एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है;... जीवित अर्थात् अनुभव में प्रगट होता है। अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है, उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता,... एकान्त से। एकान्त किसे कहना और अनेकान्त किसे कहना, यह चौदह भंग में सब आ गया। अब इसके कलश आयेंगे। और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।

यहाँ निम्न प्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं-(उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य इस प्रकार है-) २४८।

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्  
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।  
यत्तत्तत्तविह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-  
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥२४८॥

आहाहा! अकेला मक्खन है। जैनदर्शन का रहस्य है। आहाहा!

श्लोकार्थ - 'बाह्य-अर्थैः परिपीतम्' बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया

गया... क्या कहा? है? सेठ! श्लोक आया? बाह्य पदार्थों के द्वारा... अपना स्वरूप चैतन्यस्वरूप अनन्तगुण स्वरूपी है, ऐसा नहीं मानकर बाह्य पदार्थों से ही मैं हूँ, बाह्य पदार्थों का (मुझे) ज्ञान होता है, तो उनसे मैं हूँ, वह द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया...

‘उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्’ अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से... आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप भगवान परज्ञेय से है, पर का ज्ञान करने से मानो कि पररूप से आत्मा है, ऐसा मानकर अपने आत्मा को छोड़ दिया। आहाहा! ऐसी बात। यह श्लोक है। आचार्य अमृतचन्द्राचार्य महाराज महामुनि भावलिंगी सन्त जिन्होंने टीका बनायी। कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र—समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय। आहाहा! इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धिउपाय (शास्त्रों की रचना की)। एक-एक में गम्भीर तत्त्व, एक-एक शब्द में गम्भीरता के भाव भरे हैं।

यह कहते हैं, समस्त बाह्य पदार्थों के द्वारा... अपना स्वरूप पर को जानता है तो बाह्य पदार्थ द्वारा पी गया (अर्थात्) उन बाह्य पदार्थ से ही मैं हूँ, (ऐसा माना)। आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप पर को जानता है तो परवस्तु पूरे आत्मा को पी गयी। परवस्तु पी गयी। आहाहा! है? बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से... मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, पर को जानने पर भी मैं मेरी शक्ति से भिन्न नहीं हूँ। पर को जानना और स्व को जानना, वह अपना स्वभाव है। पर के कारण पर को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात!

अमृतचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पश्चात् एक हजार वर्ष में टीका की है। टीका करनेवाला कोई हुआ नहीं, ऐसी चीज़ है। ये दोनों भावलिंगी सन्त हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी भावलिंगी छठवें-सातवें में आनन्द में झूलनेवाले सन्त हैं, उन्हें सन्त कहते हैं। उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्यदेव भी छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले (सन्त हैं)। सम्यग्दर्शन तो है ही, परन्तु तदुपरान्त छठी-सातवीं भूमिका हजारों बार एक दिन में आती है, इसका नाम भावलिंगी सन्त कहा जाता है।

वे भावलिंगी सन्त कहते हैं, प्रभु! पर को जानते हुए मानो तेरा ज्ञान पूरा पर में चला गया, (ऐसा माना)। तेरे ज्ञानस्वभाव से तू रिक्त-खाली हो गया। आहाहा! है? सम्पूर्णतया पररूप में ही विश्रान्त (अर्थात् पररूप के ऊपर ही आधार रखता हुआ)... आहाहा! शास्त्र, वाणी, मन, कुटुम्ब, कबीला इन सब चीज़ों के ऊपर तू आधार रखता है कि उनका ज्ञान

हुआ, वह उनके आधार से हुआ। ऐसा मानकर पशु... आहाहा! पशु कहा। जैसे पशु को घास और चूरमे के भेद की खबर नहीं; उसी प्रकार अज्ञानी को पर को जानना वह मेरा स्वभाव है, पर को जानने से मैं पर में चला गया, ऐसी नहीं है। आहाहा! मूल बात समझे बिना अनन्त काल भटकने में गया। भटका.. भटका। आहाहा!

यह कहते हैं (पररूप के ऊपर आधार रखता हुआ)... अज्ञानी तो ज्ञान होने में पर के ऊपर आधार रखता है। परचीज हो—पुस्तक हो, शास्त्र हो, वाणी हो, भगवान हो तो मुझे ज्ञान होता है, परवस्तु होवे तो मुझे ज्ञान होता है... आहाहा! ऐसा अज्ञानी मानता है। भाषा तो सादी है न! सेठ! तुमने कहा था कि दो पुस्तक पढ़नेवाला भी समझ सकता है। बात तो ऐसी है। सादी भाषा है। आहाहा!

**श्रोता :** एक हजार वर्ष में टीका करनेवाला कोई नहीं मिला ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अलौकिक शास्त्र है। शास्त्र अलौकिक है, इसलिए उसकी टीका करने का साधारण प्राणी का काम नहीं है। आहाहा!

**श्रोता :** एक हजार वर्ष के बाद आपने इसका उद्घाटन किया है। आपका स्पष्टीकरण आया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** रात्रि में कहा था न? भाई! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता, स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है। नयी पर्याय उत्पन्न हो, पुरानी व्यय हो और ध्रुव रहे, उसमें एक-एक पर्याय को दूसरी (पर्याय का) आधार नहीं है। उत्पाद को ध्रुव द्रव्य का आधार नहीं है। आहाहा! और वह उत्पाद भी प्रत्येक द्रव्य में क्रमसर होता है। एक के बाद एक, एक के बाद एक क्रमसर, आगे-पीछे नहीं। आहाहा! गजब बात है।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय समय-समय में स्वयं से षट्कारक के परिणमन से होती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय पर से नहीं होती। अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण से (होती है)। कर्ता पर्याय करनेवाला, पर्याय कार्य, कर्म अर्थात् कार्य पर्याय करण अर्थात् साधन, पर्याय का पर्याय साधन, पर्याय का साधन द्रव्य नहीं। अरर! आहाहा! पर्याय का कर्म तो साधन नहीं, पर्याय जो आत्मा की है, उसका परद्रव्य तो साधन नहीं परन्तु पर्याय का द्रव्य साधन नहीं। अरे! यह बात कैसे पचे? कर्ता, कर्म, करण, तीन हुए। सम्प्रदान—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय को करके अपने में रखता है। दाता भी आत्मा और पात्र भी आत्मा।

वह पर्याय जो उत्पन्न हुई, वह पात्र और वह पर्याय रखी, वह दाता ने दी। देनेवाला और लेनेवाला एक ही समय की पर्याय है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान!

अपादान—प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उसी समय में क्रमसर में पर्याय के आधार से पर्याय हुई है। पर्याय अपादान-पर्याय से पर्याय हुई है, यह अपादान। पर्याय से पर्याय है, यह अपादान। द्रव्य से नहीं, निमित्त से नहीं, संयोग से नहीं। आहाहा! और उस पर्याय का आधार पर्याय है। पर्याय का आधार स्वद्रव्य नहीं तो परद्रव्य, भगवान आदि का आधार तो कहाँ से आया? आहाहा! गजब बात है।

यहाँ यह कहते हैं, अज्ञानी सम्पूर्णरूप से अपने को पररूप ही मानता है। भगवान के वचन मिलें तो मुझे ज्ञान हो, भगवान के दर्शन हों तो मुझे आत्मा का भान हो—ऐसे पर के ऊपर ही अपना सब अर्पण कर दिया है। अपनी स्वतन्त्र चीज़ है, उसे छोड़ दिया है। पशु (कहा), सेठ! पशु है न?

‘पशोः ज्ञानं’ पशु का ज्ञान (—पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान)... आहाहा! उसे पशु कहा। मुझे पर से ज्ञान होता है, इस शास्त्र के पृष्ठ से मुझे ज्ञान होता है, ऐसा माननेवाले को पशु कहा। मुनि को कुछ दरकार नहीं। नागा बादशाह से आघा। उन्हें बादशाह की भी दरकार नहीं। समाज में दो भाग पड़ जाँएँ या नहीं, उसकी भी उन्हें दरकार नहीं। आहाहा! पशुतुल्य। पशु तो है नहीं। पशुतुल्य—पशुवत्। एकान्तवादियों का ज्ञान, पर से ही मुझे ज्ञान होता है - ऐसा माननेवाले पशुवत्—पशु हैं। नाश को प्राप्त होता है;... आहाहा! मुझे पर से ज्ञान होता है, ऐसा मानकर नाश पाते हैं।

‘स्याद्वादिनः’ स्याद्वादी अर्थात् धर्मी अनेकान्तवादी, वीतरागमार्ग के रहस्य को जाननेवाला स्यात् अर्थात् अपेक्षा से कथन जाननेवाला। स्याद्वादी का ज्ञान तो, जो तत् है, वह स्वरूप से तत् है... आहाहा! अपने स्वरूप से है। पर को जानता है तो वह ज्ञान पर से नहीं। पर को जानने पर भी वह ज्ञान पर से नहीं, अपना ज्ञान अपने से है और ज्ञेय-ज्ञेय है। ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हुआ तो ज्ञेय से ज्ञान हुआ, ऐसा कभी नहीं है। आहाहा! अन्त में तो यह अमृतचन्द्राचार्यदेव जैसों ने दो-दो बार, तीन-तीन बार कहकर श्लोक बनाये, इसमें माल है। आहाहा!

स्याद्वादी धर्मी जीव, जो तत् है वह स्वरूप से तत् है... मैं पर को जानता हूँ तो वह ज्ञान पर से नहीं है। पर को जानता हूँ, वह ज्ञान मेरे स्व से है। ऐसे स्व के तत्त्व से तत्त्व मानकर

(प्रत्येक तत्व को-वस्तु को स्वरूप से तत्पना है) ऐसी मान्यता के कारण... 'दूर-उन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः' आहाहा! 'दूर-उन्मग्न' अत्यन्त प्रगट हुए... आहाहा! 'दूर' का अर्थ अत्यन्त किया, 'उन्मग्न' का अर्थ प्रगट हुआ किया। 'घन' ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से,... ज्ञान का घन प्रभु, मैं तो ज्ञान का घन हूँ। पर को जानता हूँ, वह पर से नहीं, पर का ज्ञान नहीं, मेरे ज्ञान में पर और स्व को जानने का स्वभाव है, ऐसे ज्ञानघनरूप मैं हूँ। इसका नाम ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि-धर्मी कहा जाता है। आहाहा! बहुत शर्ते, शर्ते बहुत। आहाहा!

अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है। मैं तो मेरे ज्ञान से ही स्व और पर को जानता हूँ। पर के कारण से पर को जाना और पर के कारण से ज्ञान हुआ, वह (ज्ञान) मैंने छोड़ दिया, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा है। सुनने को मिलना मुश्किल, बापू!

भावार्थ - कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि-घटज्ञान घट के आधार से ही होता है... है? क्या कहा?—कि यह घड़ी है न, घड़ी? घड़ी से घड़ी का ज्ञान होता है। यहाँ घड़ी का ज्ञान होता है न! वह घड़ी से घड़ी का ज्ञान होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! पर का ज्ञान मुझमें होता है, वह पर से होता है, ऐसा अज्ञानी मूढ़ मानता है। गजब बात है। आहाहा! एकान्तवादी ऐसा मानता है कि घटज्ञान घट के आधार से ही होता है... घड़ा है न, घड़ा? घड़े के पास बैठा तो यहाँ घड़े का ज्ञान हुआ तो अज्ञानी मानता है कि घड़ा है तो घड़े का ज्ञान हुआ। दूसरे का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? दूसरे का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? पट का, वस्त्र का, आहार का, पानी का, स्त्री का (ज्ञान क्यों नहीं हुआ)? घड़े का ज्ञान ही मुझमें हुआ तो यह घड़ा है तो घड़े से मुझमें ज्ञान हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। है? भाषा बहुत सादी है। इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान इसलिए ज्ञान... चारों ओर से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। आहाहा! मुझे अनुकूल ज्ञेय मिलें, तो मुझे ज्ञान होता है। अनुकूल बाह्य साधन मुझे मिल जाएँ तो मुझे ज्ञान होता है, ऐसा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि पर से अपने ज्ञान को मानकर अपने ज्ञान का नाश करता है। आहाहा! ऐसी बात कब निकले? किसी समय निकले।

ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं,... ज्ञेय ज्ञात हुए तो

उनके कारण मुझे ज्ञान हुआ तो इस ज्ञान को तो ज्ञेय पी गया। आहाहा! अपना ज्ञान भिन्न रहा नहीं। ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। अज्ञानी अनादि से ऐसा मानता है। परन्तु यह विचार भी कभी किया नहीं। आहाहा!

स्याद्वादी... धर्मी-धर्मी—समकिति तो ऐसा मानता है कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है,... पर को जानने पर भी मैं मुझे जानता हूँ। इस पर को जानना हुआ, वह पर के कारण से नहीं हुआ। आहाहा! पर का ज्ञान करने में भी मेरा तत्स्वरूप है, उस तत्स्वरूप ही मैं हूँ; जिस स्वरूप से मैं हूँ, उस स्वरूप से ही मैं हूँ। पर को जानने पर भी मैं तो मेरे स्वरूप में ही हूँ। परस्वरूप से मेरा स्वरूप है, ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें! अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! हजार वर्ष पहले टीका करते हैं। भावलिंगी सन्त। ओहोहो!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और पर्याय क्रमबद्ध होती है और प्रत्येक द्रव्य में जिस समय में जो पर्याय हुई, उस पर्याय का आधार अपना द्रव्य भी नहीं है, ऐसी बात, प्रभु! वीतराग के सिवाय कहीं नहीं है। आहाहा! दुनिया को कहाँ पड़ी है कि मेरा क्या होगा? आहाहा! यह कहते हैं।

स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि—ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है,... मैं पर को जानता हूँ, तथापि मैं तत्स्वरूप हूँ। पर के कारण से मुझे पर का ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। पर का ज्ञान पर से हुआ, ऐसा नहीं है। मेरे ज्ञान का स्वभाव पर को और स्व को जानने का है तो अपने से जाना है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? बैठना कठिन पड़े। यह रुपये का रस, धूल का रस, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र-पुत्री, आहाहा! ऐसे लड़के हों तो सिर पर हाथ फिरावे, ऐसे सिर पर हाथ फिरावे, चुम्बन करे। आहाहा! यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू क्या करता है, इसकी तुझे खबर है? तेरा ज्ञान पर को स्पर्शा ही नहीं है। तेरा आत्मा पर को स्पर्शा ही नहीं है। ऐसी चीज़ तुझमें है। आहाहा!

ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है। धर्मी को तो ज्ञान, ज्ञान से हुआ है; उस ज्ञेय से ज्ञान हुआ नहीं, ऐसा ज्ञान प्रगट-प्रसिद्ध होता है। ओहोहो! ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ज्ञान का पिण्ड, यह सुनने से भी ज्ञान प्रगट नहीं होता। अरे रे! गजब बात है। शास्त्र से भी ज्ञान प्रगट नहीं होता। क्योंकि परपदार्थ है। आहाहा! ज्ञानतत्त्व को नहीं छोड़ता। धर्मी तो जानता है कि मेरा ज्ञान अपने को भी जानता है और पर को भी अपने में रहकर जानता है। पर के कारण से मुझे पर का ज्ञान होता है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! एक-एक बात को पहुँचना...



प्रकाश प्रकाशित होता है। धर्मी को तो ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, मेरे कारण से ही मेरा ज्ञान प्रगट हुआ है। पर को जानने का ज्ञान हुआ, वह मेरे कारण से प्रगट हुआ है, पर के कारण से प्रगट हुआ है - ऐसा नहीं है। थोड़ा कठिन पड़ता है, प्रभु! परन्तु यह वस्तु ऐसी है। पर्यूषण के दिनों में ऐसी मक्खन जैसी बात कभी सुनी नहीं, तो उस मार्ग में तो जाए कहाँ से? जो बात सुनी नहीं तो उस रास्ते जाए कहाँ से। आहाहा! एक बोल हुआ।

इस प्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग कहा है। अपने स्वरूप से तत् है। पर को जानने पर भी, वह अपने स्वरूप से ही है। पर को जाना, इसलिए पर के कारण से यहाँ अपना ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य तो अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि हे जीवो! यह टीका मैंने बनायी है, ऐसा न मानो। ऐसा नहीं मानना। आहाहा! और यह टीका सुनने से तुम्हें जो ज्ञान होता है, वह सुनने से होता है, ऐसा न मानो। आहाहा! गजब बात है। पूरी दुनिया डाँवाडोल हो गयी है। आहाहा!

अन्तिम श्लोक में ऐसा कहते हैं, आहाहा! यह टीका मैंने बनायी, ऐसा नहीं मानना। क्योंकि यह तो शब्द की-जड़ की पर्याय है। शास्त्र है, वह जड़ की पर्याय है। आहाहा! पर से मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा न मानो। मुझे वाणी निकली और टीका हुई, ऐसा नहीं मानो और उस वाणी से तुम्हें ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसा न मानो। इस प्रकार मोह से न नाचो, ऐसा है। मोह से-मिथ्यात्व से न नाचो, नाथ! आहाहा! ऐसी बात तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी है। आहाहा! दूसरा भंग—२४९ (श्लोक)।

विश्वं ज्ञानमिति प्रतक्यं सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया  
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।  
यत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-  
र्विश्वादिभन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥२४९॥

श्लोकार्थ - पशु... पशु कहकर बुलाया है। अरे! जैसे पशु को कुछ विवेक नहीं कि घास क्या है और चूरमा क्या है? चूरमा कहते हैं न? चूरमा। घास होती है न? क्या कहलाते हैं घास के लम्बे? पड़छा उसमें चूरमा इकट्ठा करके खाता है। चूरमा और घास भिन्न है, ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार परद्रव्य और मेरी चीज अत्यन्त भिन्न है, ऐसा नहीं मानता। परद्रव्य से मुझमें कुछ तो होता है, मैं मेरे गाँव में था तब यह ज्ञान कहाँ था? यहाँ सुनने से यह ज्ञान होता है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है और तुम इनकार करते हो? तू भगवान को कह कि प्रभु! तुम क्यों

इनकार करते हो ? आहाहा ! शास्त्र के करोड़ों श्लोक के ढेर पड़े हों, उन्हें वन्दन करने से यहाँ ज्ञान होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। वन्दन करने से तो शुभराग होता है। अपने स्वभाव को छोड़कर परद्रव्य को नमना, वह शुभराग है। आहाहा ! कठिन बात है।

एक ओर कहते हैं कि सत्श्रवण करो। गुरुगम से सत् समझो। क्योंकि यह निमित्ता से कथन तो आता है, परन्तु ऐसा बनता है – ऐसा नहीं। बनता है तो अपनी ज्ञान की पर्याय की योग्यता है, तो वहाँ उत्पन्न होता है। निमित्त से, वाणी से और गुरुगम से (ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है।) आहाहा ! तथापि ऐसा भी आता है कि अपने ज्ञान में जो भगवान, वाणी, आदि निमित्त है, उनका उपकार भी भूलना नहीं। आया न ? नियमसार। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, पशु ! पशु शब्द से बुलाया है। है ? पहला शब्द, पशु है ? पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, ... 'विश्वं ज्ञानम् इति प्रतर्क्य' विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं) ऐसा विचार करके... आहाहा ! यह मेरे ज्ञान में जो ज्ञात होता है, वह सब चीज़ ज्ञान है और उससे ही मुझे ज्ञान होता है। ऐसा विचार करके सबको (समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर... समस्त विश्व। आहाहा ! देव, गुरु और शास्त्र भी आ गये, सर्वज्ञ भगवान भी आ गये। आहाहा ! नटुलालजी ! ऐसी बात है, भगवान ! वहाँ कभी सुनी नहीं। आहाहा !

**श्रोता :** अभी हम सुनने के लिये आये हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बात तो सत्य है। आहाहा ! यह बात, इसे एकान्त करके उड़ा देते हैं। प्रभु ! आहाहा ! कैलाशचन्द्रजी ने तो कहा है कि सोनगढ़ का तत्त्व निश्चयतम है। निश्चयतर भी नहीं, अकेला निश्चय नहीं, निश्चयतर नहीं; निश्चयतम है। ऐसा मासिक में आया है। उसमें क्या कहना है, वह तो ठीक परन्तु अपने तो यह बराबर समझ लेना कि बात तो निश्चयतम है। आहाहा !

पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ... सर्व जाननेयोग्य हैं, उनसे मुझे ज्ञान होता है। ऐसा विचार करके सबको (समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर... विश्वमय होकर वह तो पररूप ही हो गया। मुझे पर से ज्ञान हुआ, वह पररूप हो गया, स्वयं तो खो गया। आहाहा ! 'पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते' दो बार (पशु) लिया। पहले पशु एकान्तवादी कहा, पश्चात् पशु की तरह (कहा)। 'पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते' पशु की भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा

करता है—प्रवृत्त होता है;... पर से ही मुझे (ज्ञान) होता है, ऐसा स्वच्छन्दी। पशु की भाँति प्रवर्तन करता है। आहाहा! ऐसी बात। सन्त पंच महाव्रतधारी भावलिंगी अज्ञानी को पशुरूप से कहते हैं। पशु कहकर ऐसा कहते हैं कि उसे छोड़ दे, प्रभु! वह तेरी चीज़ नहीं है, तू पर से नहीं है। तेरे तत्त्व से तेरा तत्त्व है, परज्ञेय तत्त्व से तेरा ज्ञान नहीं है। हम तो ज्ञेय हैं। भगवान और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि हम तो तेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। तेरा ज्ञान मुझमें नहीं और मुझसे तुझे ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। आहाहा!

अब तो लोग सुनने आते हैं। मुम्बई में, सेठ के गाँव में भी पन्द्रह हजार लोग आये थे। सेठ की इज्जत बहुत है और सेठ को प्रेम है। पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग, परन्तु बात यह। भिण्ड के थे न? क्या नाम? नन्दलालजी, भिण्ड के। वे (संवत्) १९९९ के वर्ष में यहाँ आये थे। यहाँ समयसार पढ़ते थे। तब इतने लोग नहीं थे। १५० व्यक्ति थे। ओहोहो! इस समयसार के वाँचन में १५० लोग! हम तो समयसार लेकर बैठें तो दो-तीन व्यक्ति बैठें, ऐसा कहते थे। अभी तो हजारों लोग (सुनते हैं)। वे इतने भाग्यशाली हैं कि जिनके कान में यह बात पड़ती है। आहाहा!

सोगानी लिख गये हैं, सोगानी—निहालचन्द्र सोगानी द्रव्यदृष्टिप्रकाश में (लिखते हैं), यहाँ के समझनेवाले, सुननेवाले बहुत भाग लोग मोक्ष में जाएँगे, ऐसा लिखा है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश। आहाहा! यह चीज़... यह चीज़... आहाहा! अमृतस्वरूप भगवान तीन लोक के नाथ यह बात जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। उन्होंने ऐसा लिखा है कि सोनगढ़ की यह बात सुननेवाले बहुभाग तो मोक्ष जाएँगे। बहुभाग लिखा है। उन्हें प्रेम है, रस है और अन्दर रस से सुनते हैं तो आगे रस बढ़ जाएगा तो सर्वज्ञपना पाकर (केवली होकर) मोक्ष पायेंगे। आहाहा!

निज तत्त्व की आशा से देखकर विश्वमय होकर, पशु की भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है—प्रवृत्त होता है... आहाहा! मुझे पर से ज्ञान हुआ, मुझे पर से हुआ (ऐसा मानते हैं)। आहाहा! और स्याद्वाद का देखनेवाला (धर्मी जीव) तो यह मानता है कि — ‘जो तत् है, वह पररूप से तत् नहीं है...’ मुझमें जो ज्ञान होता है, वह पर से नहीं होता। आहाहा! शब्द को सुनने से भी ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार धर्मी अतत् मानता है। आहाहा! अतत्—जो ज्ञेय मुझमें नहीं और ज्ञेय के कारण से मुझमें ज्ञान नहीं होता। आहाहा! है? पररूप से तत् नहीं है... मैं तत् रूप से हूँ, पररूप से नहीं।

(अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को स्वरूप से तत्पना होने पर भी पररूप से अतत्पना

है)... स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें। ऐसा मानता है... आहाहा! 'विश्वात् भिन्नम् अविश्वविश्वघटितं' विश्व से भिन्न ऐसे... सब चीज़ से भगवान तो भिन्न है। राग, दया, दान, व्रत के परिणाम से लगाकर भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकर से भी मैं भिन्न हूँ। विश्व से भिन्न हूँ, ऐसा कहा न? विश्व में सब आ गया। आहाहा! विश्व से (विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे... क्या कहते हैं? (विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी...) ऐसा। ज्ञान में ज्ञेय के आकार ज्ञात होते हैं। आहाहा! विश्व के निमित्त से अर्थात् दूसरे चीज़ है। अपने में ज्ञान होता है, वह निमित्त से नहीं। अपने में ज्ञान अपने से होता है।

(विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले... पर को जानता है तथापि, पररूप नहीं होनेवाला। आहाहा! आत्मा भगवान पर को जानता है, तथापि पररूप नहीं होता। समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी... देखो! समस्त ज्ञेय—स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, लक्ष्मी, देव, गुरु, शास्त्र... आहाहा! ये सब ज्ञेयरूप हैं। इन समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी... यह ज्ञेय को जाननेवाली पर्याय अपने में होने पर भी। आहाहा! विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा)... जानने की चीज़ से मैं भिन्न हूँ, ऐसे अपने निजतत्त्व का स्पर्श-अनुभव करता है। आहाहा! पर को जानने पर भी मैं पररूप होकर जानता हूँ, ऐसा नहीं। मैं मुझमें मेरे कारण से स्व-परप्रकाशक (शक्ति के) कारण से स्व को और पर को मेरे कारण से मुझमें जानता हूँ। आहाहा! अकेला मक्खन भरा है। 'कथा सुनी अरु फूटे कान' ऐसा आता है न? 'तो भी आया नहीं हरि का भान।' आहाहा! यह अन्यमति में आता है। 'कथा सुनी अरु फूटे कान तो भी नहीं आया ब्रह्मज्ञान।' (अन्य में आता है।) ब्रह्म अर्थात् आत्मा। 'कथा सुनी अरु फूटे कान तो भी नहीं आया ब्रह्मज्ञान।' कहीं पर में से कुछ आता है? आहाहा!

अपने निजतत्त्व का स्पर्श-अनुभव करता है। धर्मी पर को जानने पर भी मैं मेरे ज्ञान से जानता हूँ, मैं पर के कारण से पर को जानता हूँ, ऐसा नहीं है; इस प्रकार अपने ज्ञान को स्पर्श करके अपने ज्ञान को अनुभव करता है। पर को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

भावार्थ - एकान्तवादी यह मानता है कि... एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि, जिसे पहले

पशु कहा था न? वह। कि विश्व (समस्त वस्तुएँ) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है। पूरी दुनिया मेरे ज्ञानरूप है। मेरे ज्ञान में सब ज्ञात होता है तो मैं वह ज्ञानरूप ही हूँ। इस प्रकार निज को और विश्व को अभिन्न मानकर,.... निज अर्थात् अपने को और विश्व अर्थात् पर। विकल्प से लेकर देव-गुरु-शास्त्र। पूरे विश्व को अभिन्न मानकर,.... आत्मा में उसे एकरूप मानता है। उससे मुझमें किंचित् लाभ हुआ है। आहाहा!

अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भाँति हेय-उपादेय के विवेक के बिना... पर का जानना होने पर भी परवस्तु हेय है और परसम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में हुआ है, वही उपादेय है। आहाहा! मधुभाई! ऐसा वहाँ कहाँ है? वहाँ धूल है। लाखों रुपये पैदा करते हैं। धूल में।

श्रोता : वास्तविक इकट्टा करने का यहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है, दुकान ही यह है। आहाहा!

वीतराग त्रिलोकनाथ कहते हैं कि हेय-उपादेय के विवेक के बिना... कौन सी चीज़ छोड़नेयोग्य है और कौन सी चीज़ आदनेयोग्य है, इसके विवेक बिना। सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। बस! मुझे पर से ही लाभ होता है। मुझे मेरे से भी लाभ होता और मुझे पर से भी लाभ होता है, ऐसी स्वच्छन्दपूर्वक प्रवृत्ति करता है। आहाहा! और उस पर को लक्ष्य में रखकर अपनी जिन्दगी निकालता है, परन्तु अपना स्वरूप उससे भिन्न है और पर को जानना, वह भी मेरा स्वभाव है, पर के कारण से नहीं, ऐसा नहीं मानकर विश्व में अपनी जिन्दगी निकाल डालता है। आहाहा! ऐसी बात है।

मैंने तो कहा था, मेरे भागीदार बुआ के पुत्र (हमारे भाई थे) उन्हें भी (संवत्) १९६४ के वर्ष में कहा था। कितने वर्ष हुए? ७२ वर्ष। ७२ वर्ष पहले, १८ वर्ष की उम्र थी, तब भी कहा था। हम तो शास्त्र पढ़ते थे। पूर्व के संस्कार थे, भगवान के पास से आये हैं। आहाहा! शास्त्र पढ़ते थे। हमारी बुआ का पुत्र भागीदार था। ऐसा का ऐसा पूरे दिन लड़ते-लड़ते (रहे)। अरे! प्रभु! तू क्या करता है? तुझे कहाँ जाना है? पूरे दिन यह गाँव में साधु आवे तो सुनने का समय नहीं मिलता, दर्शन करने का समय नहीं मिलता। तब तो वह मानते थे न? उन्हें भी साधु मानते थे न! तब तो वस्त्रसहित को साधु मानते थे। उसमें थे न! आहाहा! उन्हें सुने नहीं और रात्रि में आठ बजे जाए। सवेरे आठ-नौ बजे साधु आये हों तो भी पूरे दिन सामने देखे नहीं। आहार-पानी देने में भी स्वयं न आवे। मैं दुकान छोड़कर सबको आहार-पानी (देता था)।

वह सब तो मिथ्यात्व था, परन्तु उस समय तो उन्हें मानते थे न! आहाहा! पिताजी का वह धर्म था न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है;... स्याद्वादी तो मानता है कि - जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, ... आत्मा, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है;... पर से नहीं है। आहाहा! वाणी से ज्ञान होता ही नहीं। आहाहा! वाणी से आत्मा अतत् है। अपने ज्ञान से तत् है। आहाहा!

**श्रोता :** ज्ञान स्वयं से होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यहाँ ज्ञान ज्ञान से होता है। आहाहा! दुनिया गहल-पागल कहे कि यह क्या कहते हैं? प्रभु! सुन तो सही। वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में यह आया है। त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में यह आया है। सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे और वहाँ से लाये हैं। आहाहा!

कहते हैं, परज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है। ऐसा ज्ञानी मानते हैं। आहाहा! ज्ञानी, पर का जानना होने पर भी मैं पर से भिन्न हूँ, वह पर का जानपना होने पर भी वह पर के कारण से नहीं होता। पर का जानपना होना, वह भी मेरे स्वभाव से मुझसे मुझमें होता है। क्योंकि मेरा ज्ञान ही स्व-परप्रकाशक है। इस प्रकार पररूप से अतत्पने का भंग कहा है। दो भंग हुए। चौदह में से दो हुए। एकदम ले लेते हैं, क्योंकि पहले बहुत बार आ गया है। तीसरे भंग का कलश—२५०

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-  
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।  
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-  
त्रेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित्॥२५०॥

यह एक का अधिकार है। पहले तत्-अतत् का था। पहला श्लोक तत् का था। मैं तत् हूँ, पर से नहीं। दूसरा अतत् हूँ। पर से मैं नहीं। अब इसमें कहते हैं, मैं तो एकरूप हूँ। आहाहा! वस्तुरूप से एकरूप हूँ। भले... आहाहा! फिर पर्यायरूप से अनेकरूप हूँ, ऐसा ज्ञान भी करता तो है। पर्याय से अनेकरूप हूँ, गुण से अनेकरूप हूँ परन्तु गुणपर्याय के पिण्ड से मैं एकरूप हूँ। पहले एक मानता है। नियमसार में तो यहाँ तक कहा है कि जो कोई प्राणी अपने द्रव्य, गुण

और पर्याय तीन को विचारता है, वह विकल्प और राग है तथा पराधीन है। अर र! ऐसी बात। यह बात यहाँ ऐसा कहते हैं, पर्याय अपनी है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान कराते हैं। वहाँ तो दृष्टि का विषय बताना है तो (ऐसा कहा कि) द्रव्य—आत्मा, गुण—ज्ञान और पर्याय तीन का विचार करने से तो राग उत्पन्न होता है। उसे छोड़कर एकरूप चिदानन्द प्रभु त्रिकाली भगवान एकरूप हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात करते हैं।

पशु... आहाहा! अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'बाह्य-अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरतः' बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण,... यह तो स्वभाव की विशेषता है। अपने ज्ञानस्वभाव की खास विशेषता है कि पर को जानने पर भी अनेकरूप हो जाता है, ऐसा है नहीं। पर को जानने पर भी अपना एकपना छूट जाता है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

'विष्वग्-विचित्र-उल्लसत्-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः' चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से... आहाहा! त्रिलोकनाथ तीर्थकर भगवान भी ज्ञेय हैं, वे अपना आत्मा नहीं। आहाहा! ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण हो गयी है... अपने ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होती है, तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि पर के कारण से मेरा ज्ञान अनेकरूप हो गया, पर के कारण से मेरा ज्ञान अनेकरूप हो गया। (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्नभिन्न-खण्ड-खण्डरूप-हो गयी मानकर)... अरे! मैं पर को बहुत जानता हूँ तो मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है।

'अभितः त्रुट्यन्' सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खण्ड-खण्डरूप-अनेकरूप-होता हुआ) नाश हो जाता है;... आहाहा! एकरूप वस्तु है, उसमें अनेकपने का ख्याल आता है तो मेरे एकपने का नाश हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। इसकी भी कहाँ खबर है। आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वभावी अनन्तरूप एकरूप, गुण-पर्याय से अभेद एकरूप है। पर को जानने पर भी अनेकरूप नहीं हो जाता।

यह कहते हैं, चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो गयी है, ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न-खण्डखण्डरूप-हो गयी मानकर) सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ... आहाहा! मेरी वस्तु खण्ड-

खण्डरूप हो गयी। पर को जानने से (अनेकरूप होता हुआ) नष्ट हो जाता है;... अपनी वस्तु का नाश कर डालता है। आहाहा! ऐसी बात कान में पड़ना मुश्किल। आहाहा! नष्ट हो जाता है;... ऐसा अज्ञानी मानता है।

‘अनेकान्तवित्’ और अनेकान्त का जानकार... धर्मी जीव। आहाहा! ‘सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया’ सदा उदित (प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण... मैं पर को और स्व को जानता हूँ, तथापि मैं तो एकरूप ही हूँ। एकरूपपना छोड़कर अनेकरूप हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! अनेकान्त को जानकर... धर्मी जीव। अनेकान्त अर्थात् अनेक अन्त अर्थात् धर्म। आहाहा! एकरूप से भी हूँ और अनेकरूप से भी हूँ परन्तु एकपना अपने कारण से है, किसी पर के कारण से एकपना है, ऐसा नहीं है। एकपना रखने के लिये अनेक ज्ञेयाकार जो अपने में होते हैं, उनका नाश करता है। क्या कहा? अपने में एकपना मानने के लिये अज्ञानी को ज्ञान में जो अनेक ज्ञेय ज्ञात होते हैं तो ऐसा (मानता है) कि अरे रे! मैं तो खण्ड-खण्ड अनेक हो गया, ऐसा मानकर पर को जानने के अपने ज्ञान को छोड़ देता है और मैं एकरूप हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता हुआ अपने स्वरूप का नाश करता है। आहाहा! किस प्रकार की व्याख्या? दूसरी सब बातें बहुत बार सुनी, यह बात (सुनी नहीं)। आहाहा!

यह एक का भंग है, वह ऐसा मानता है कि पर को जानने से मैं अनेक हो गया, परन्तु पर को जानना और स्व को जानना, वह तो अपनी एकरूप शक्ति में है, एकरूप रहकर जानता है। पर को जानता है, इसलिए अनेक हो जाता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी सब बातें। नष्ट हो जाता है;... (खण्डखण्डरूप-अनेकरूप-होता हुआ) नष्ट हो जाता है; अनेकान्त का जानकार... धर्मी जीव। आहाहा! अनेक अन्त का जाननेवाला धर्मी। ‘सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया’ सदा उदित (-प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण... मेरा द्रव्य तो एकरूप है। मैं भले अनेक को जानता हूँ, परन्तु वह तो मेरी पर्याय में मेरी जानने की ताकत है। मैं तो एकरूप ही हूँ। आहाहा! इस प्रकार धर्मी जीव अपने को एकरूप जानकर अपने को जीवन्त रखता है और अज्ञानी अपने में एकरूपपना रखने के लिये, ज्ञेय का आकार होना, वह मेरा स्वभाव है, ऐसा नहीं मानकर ज्ञेय के आकारों को छोड़ता हुआ तुच्छ होता है। आहाहा! कैसी भाषा? वे तो व्रत पालो, भक्ति करो, शास्त्र बनाओ, मन्दिर बनाओ, भक्ति करो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, दशलक्षणी में दस-दस अपवास करो। प्रभु! यह होता है परन्तु यह सब शुभभाव है, पुण्यभाव है; धर्म नहीं। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, अनेकान्तवादी जीव, आहाहा! एक द्रव्यत्व के कारण भेद के



भ्रम को नष्ट करता हुआ... पर को जानने से भले भेद होता है, परन्तु मैं तो एकरूप ज्ञानरूप हूँ। (अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ), जो एक है (-सर्वथा अनेक नहीं है)... स्वरूप से एक हूँ। और जिसका अनुभवन निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को देखता है-अनुभव करता है। यह तीसरा भंग हुआ।

भावार्थ - ज्ञान है, वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणामित होने से अनेक दिखाई देता है, इसलिए सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक-खण्डखण्डरूप-देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निज का नाश करता है; और स्याद्वादी (धर्मी) तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा एक देखता है। अनेक पर को जानने पर भी मैं तो एकरूप हूँ। विशेष आयेगा...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२२

श्री योगसार, गाथा-३२-३४, प्रवचन - १३

दिनांक - २०-०६-१९६६

पुण्य-पाप संसार है - ऐसा बतलाते हैं। इसमें पहले ३१ (गाथा में) आया था न? व्यवहारचारित्र निरर्थक है, इतना कहा था। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना अकेला यह व्यवहार तप, यह सब अकृतार्थ है; वह कुछ कार्य (काम का) नहीं, निरर्थक है - ऐसा ३१ (गाथा में) कहा था। इसमें आगे है, उसके पहले ३० (गाथा में) भी निश्चय -व्यवहार साथ में कहा था। जहाँ निर्मल आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति हो, वहाँ व्रतादि निमित्तरूप होते हैं, साथ में होते हैं - ऐसा वहाँ ३० में सिद्ध किया है। २९ में ऐसा कहा था कि व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा कहा था। मोक्षमार्ग नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तपादि के परिणाम, वह मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा कहा था। समझ में आया? २८ में क्या कहा था? २८ में त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है। यह आत्मा ही तीन लोक में आत्मा को आदरणीय और मोक्ष का कारण है। फिर यह कहा कि इसके अतिरिक्त सब व्रतादि निरर्थक है। निरर्थक अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है - इतना २९ में कहा था। ३० में दो साथ में थे - शुद्ध चैतन्य की दृष्टि, अनुभव और व्रतादि के परिणाम साथ में थे। (गाथा) ३१ में कहा कि यह व्यवहारचारित्र अकृतार्थ है। अकृतार्थ अर्थात् अकार्य है, उसमें कुछ कार्य नहीं। इतना कहकर अब यहाँ ३२ में उसका फल बतलाते हैं।

**पुणिणं पावइ सगग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।**

**बे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिववासु ॥३२ ॥**

यह जीव, पुण्य से तो स्वर्ग पाता है। व्यवहार व्रतादि से स्वर्ग पाता है - ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? दया, दान, व्रतादि के परिणाम, शील, संयम - यह सब भाव, स्वर्ग का कारण है, अर्थात् संसार का कारण है - ऐसा कहा और पावइ णरयणिवासु पाप से नरक में निवास होता है, नरक में जाता है - यह संसार है; दोनों संसार है। पाप से नरक में और पुण्य से स्वर्ग में (जाए) - दोनों संसार है, उनमें कहीं आत्मा नहीं आया; उनमें कहीं मोक्ष नहीं

आया। समझ में आया? यह सब संसार दुःखरूप ही है। संसार, फिर सुखरूप कैसा? लोगों को व्यवहार से ऐसा लगता है कि यह पुण्य किया (तो) स्वर्ग मिला, यह सेठपना मिला, पैसा मिला। ये दोनों हैं तो संसार; दोनों भावों से मुक्ति नहीं है। ऐसी स्पष्ट बात कर दी है। क्रम-क्रम से लेते हुए (कह दिया है)। संसार मीठा है? है? संसार अर्थात् जहर। भगवान आत्मा और मुक्ति अर्थात् अमृत। इसके लिये यहाँ स्पष्टीकरण किया है।

**छंडिवि अप्पा मुण्ड देखो!** शुभ-अशुभभाव छोड़कर, रुचि छोड़कर, आश्रय छोड़कर **अप्पा मुण्ड** आत्मा का अनुभव करे। आत्मा आनन्द ज्ञानस्वरूप का अनुभव करे, उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय लेकर उसका अनुभव करो तो **लब्धइ सिववासु** लो! नरक वासु था, निवास। इसमें शिववास (कहा)। मोक्ष-पर्याय को पाता है, निर्मल अवस्था को पाता है। कहो, **लब्धइ सिववासु** शिवमहल में वास आता है - ऐसा कहा है। शिवरूपी महल (अर्थात्) आत्मा की मुक्तदशा, परमानन्दरूपी दशा। इन पुण्य-पाप को छोड़कर आत्मा का अनुभव करे तो मुक्ति पाता है। पुण्य के क्रियाकाण्ड से कहीं मुक्ति नहीं है, तथापि उसे बताया अवश्य कि निश्चय हो, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है, साथ में बतलाने के लिये, परन्तु पहले व्यवहार होता है और फिर निश्चय होता है - ऐसा कुछ नहीं कहा है। समझ में आया? अकेला व्यवहार तो निरर्थक कहा है, अकृतार्थ कहा है। उसमें कुछ गलत करते हैं? संसार का कारण है। यहाँ सीधा (व्यवहार को) संसार बतलाया। अकेला व्यवहार - दया, दान, व्रतादि के परिणाम (वह संसार है)। (पहले) निमित्तरूप कहा था। निश्चय होवे तो। आत्मा का श्रद्धा स्वभाव आदि निर्मल पर्यायें प्रगट हुई तो उस व्यवहार को निमित्तरूप कहते हैं परन्तु अकेला व्यवहार तो संसार का ही कारण है। वह है तो अकेला बन्ध का कारण; निश्चय के साथ रहा हुआ व्यवहार, परन्तु उसे निमित्तरूप कहकर, आगे शुद्धि की वृद्धि हुई, छठवीं भूमिका में थी, इससे कहा कि यह दो होवे तो मुक्ति को पाता है - ऐसा कहा था। दो से होती है - ऐसा कहा जाता है न? होती तो एक से है, परन्तु इससे होती है - ऐसा कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया? इसमें बड़ा विवाद! लो! वे कहते हैं, नहीं; चौथे से सातवें तक तो व्यवहाररत्नत्रय ही होता है। यहाँ कहते हैं - व्यवहाररत्नत्रय बन्ध का कारण है; अकेला होवे तो उसे निरर्थक कहा जाता है; निमित्त भी नहीं, निमित्त भी नहीं। निमित्त तो, यहाँ उपादान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति स्व-आश्रय चैतन्य का अनुभव होवे तो वैसे भाव को निमित्तरूप कहा जाता है। नैमित्तिक होवे तो निमित्त कहलाये न? वस्तु न होवे तो निमित्त किसे कहना?

यहाँ निमित्त का फल कहा। अकेला निमित्त हो - दया, दान, व्रतादि; पूजा, भक्ति के

परिणाम (होवें) तो स्वर्ग में जाए और यह पाप के परिणाम – हिंसा, झूठ, चोरी (होवे तो) नरक में जाए; इन दोनों को छोड़े तो शिवमहल में जाए। कहो, समझ में आया? दोनों कर्म, संसार और भ्रमण का कारण है। लो! इस बात में ठीक लिखते हैं। पुण्य कर्म.... है न? अपने पुण्य अधिकार में आता है न? साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र है, उनका बन्ध प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव.... दयाभाव से करता है। सातावेदनीय का बन्ध, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र – यह अपने पुण्य अधिकार में आता है। यह दयाभाव-आहार, औषध, अभय और विद्यादान – यह चार प्रकार का दान दे तो सातावेदनीय आदि बाँधता है। सातावेदनीय, शुभ आयु यह....।

श्रावक और मुनि का व्यवहारचारित्र.... यह श्रावक और मुनि का व्यवहारचारित्र भी पुण्य बन्ध का कारण है। इस बात में ठीक-ठीक स्पष्टीकरण किया है। निमित्त आवे, वहाँ फिर ज़रा गड़बड़ करते हैं। निमित्त मिलाना – ऐसा आता है। समझ में आया? देखो! यहाँ तो कहते हैं कि क्षमाभाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक का आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभाव से कष्ट सहन, मन-वचन-काया का सरल कपटरहित वर्तन, पर गुण प्रशंसा, आत्मदोषों की निन्दा, निराभिमानता आदि शुभभावों से होता है। इन सब शुभभावों से होता है और शुभभाव, स्वर्ग का कारण है। देखो! इसमें तो क्षमा को रखा। क्षमा करता हूँ – ऐसा विकल्प है न? सब शुभभाव लिया है। समझ में आया? सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ अथवा अल्प आरम्भ, मन्दराग – यह सब शुभभाव हैं। इनसे सातावेदनीय आदि बाँधते हैं। ऊपर शुभ आयु कहा न?

असातावेदनीय, वह अशुभभाव से बाँधता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, ज्ञानावरणीय (आदि) चार कर्म – यह पापकर्म (हैं)। उनका बन्ध ज्ञान के साधन में विघ्न करने से.... ज्ञान में विघ्न करने से, दुःखित और शोकाकुल होने से.... शोक करने से रूदन करने से, दूसरों को कष्ट पहुँचाने से, पर का घात करने से सच्चे देव-गुरु-धर्म की निन्दा करने से, तीव्र कषाय करने से, अन्यायपूर्वक आरम्भ करने से, अत्यधिक मूर्च्छा (ममत्व) रखने से, कपटपूर्वक आचरण करने से.... कपट से आचरण और वर्तन करने से.... कहो, समझ में आया? मन-वचन-काया को वक्र रखने से, झगड़ा करने से.... यह सब बात रखी है। शास्त्र में होती है न? परनिन्दा और आत्मप्रशंसा से, अभिमान करने से, दानादिक में विघ्न डालने से, दूसरे का बुरा चिन्तवन करने से, कठोर और असत्य वचन से और पाँच पापों में प्रवर्तन करने से होता है। लो! इनसे क्या होता है? असातावेदनीय

बँधती है; अशुभ आयु बँधती है, अशुभ नाम बँधता है, और नीच गोत्र बँधता है। बँधता है; अबन्ध नहीं होता। समझ में आया ?

व्रत, तप, शील, संयम के पालन में शुभराग होता है.... लो! है न? मोक्ष का कारण एक शुद्धोपयोग है; दूसरा कोई कारण नहीं है। एक सीढ़ी डाली है परन्तु कोई मेल नहीं है। इस और सीढ़ी डाली है। व्यवहार को सीढ़ी (रूप) रखा है। जैसे कमरे पर पहुँचने के बाद सीढ़ियों को कौन याद करता है? सीढ़ियाँ तो ऊपर आने के लिये निमित्त थे। वह यहाँ सीढ़ी-फीढ़ी है ही नहीं, वह तो एक है अवश्य – इतनी बात है। यहाँ निमित्त आ गया, वहाँ गड़बड़ की है। सीढ़ी-फीढ़ी है नहीं; वह तो एक है – इतनी बात। उसे छोड़कर, और वह भी यहाँ निश्चय होता है, तब ऐसा व्यवहार होता है और वह भी उसके बिना का होता है। समझ में आया? व्यवहार बिना का निश्चय होता है। आत्मा के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति (प्रगट हुए, वे) व्यवहार बिना के होते हैं। व्यवहार है, इसलिए यहाँ (निश्चय में) आते हैं – ऐसा नहीं है, सीढ़ी-फीढ़ी नहीं है। समझ में आया? समयसार का थोड़ा आधार दिया है। शुभकर्म को शुशील कैसे कहें? ऐसा। यह पाठ की बात है। दोनों जीव को बाँधते हैं – अशुभ और शुभ दोनों बाँधते हैं। यह तो समयसार की गाथा दी है।

३३। निश्चय चारित्र ही मोक्ष का कारण है। लो! आत्मा के आश्रय से वीतरागता प्रगट हो, वह एक ही मोक्ष का कारण है। व्यवहारचारित्र बन्ध का कारण है। अभी यह बड़ा विवाद, झगड़ा (चलता है)। दूसरे कहते हैं, वह व्यवहारचारित्र पहला मोक्ष का मार्ग है। पञ्च महाव्रत.... कुन्दकुन्दाचार्य ने किसलिए पालन किये थे? ऐसा कहते हैं। पालन कहाँ किये थे? थे, निमित्तरूप थे, उन्हें बन्ध का कारण जानकर उन्हें हेय जानते थे। वास्तव में तो आत्मा 'वउतउ संजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु' लो! यह सब व्यवहार है। 'सव्वइ ववहारु मोक्खह कारण एक्क मुणि जो तइलोयहु सारु' देखो, यह व्यवहार, मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा सिद्ध करते हैं। इसमें है न? शब्द है?

हे जीव! व्रत.... पञ्च महाव्रत, बारह व्रत.... तप... प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, सज्जाय इत्यादि। सज्जाय आदि सब, हाँ! संयम... छह काय जीव को नहीं मारना आदि। शील... कषाय मन्द अथवा शरीर का ब्रह्मचर्य, यह सब व्यवहारचारित्र है। ऐसा कहकर इसे मोक्ष का कारण नहीं कहा। एक व्यवहार है, ऐसा कहा। यह व्यवहारचारित्र है – ऐसा कहा।

'मोक्खह कारण एक्क' लो! मोक्ष का कारण एक निश्चयचारित्र को जानो।

व्यवहार को मोक्ष का कारण नहीं कहा। क्या पढ़ते होंगे ? इसमें बड़ा झगड़ा ( चलता है )। सोनगढ़ एकान्त करता है, सोनगढ़ एकान्त करता है। व्यवहार से कुछ लाभ नहीं होता – ऐसा मानता है, ऐसा वे कहते हैं। यह आचार्य क्या कहते हैं ? ‘वउतउ संजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु’ ऐसा कहा कि यह व्यवहार है। है, ऐसा कहा परन्तु मोक्ष का कारण तो निश्चय आत्मा का आश्रय करना ही है। समझ में आया ? तीन लोक में सार वस्तु होवे तो मोक्ष का कारण एक निश्चयचारित्र जानो। भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन, उसका सम्यग्ज्ञान तो है ही; यहाँ तो उत्कृष्ट बात लेनी है न ? उन सहित स्वरूप में आश्रय करके स्थिरता, वीतरागता, निर्विकल्प शान्ति की उग्रता ( प्रगट होवे), वह निश्चयचारित्र है। वह तीन लोक में सार है। सार ही वीतरागता है, सार चारित्र है। कहो, समझ में आया ?

मोक्ष का कारण तो यह एक निश्चय आत्मा का चारित्र है। व्यवहारचारित्र है – ऐसा सिद्ध किया परन्तु मोक्ष का कारण नहीं। एक कहा – ‘मोक्खह कारण एक्क’ दो नहीं। यह टोडरमलजी भी ऐसा कहते हैं, मोक्ष कारण दो नहीं हैं। दो का कथन है। दो माने कि मोक्षमार्ग दो है और दोनों को उपादेय माने तो भ्रम है, भ्रमणा है – ऐसा कहा है। तब वे कहते हैं – दोनों को समान न माने, उन्हें भ्रमणा है। लो, इसमें कहाँ मुठभेड़ हुई ? टोडरमल के साथ विरोध और जो बात काललब्धि की उन्हें ठीक लगे, वह फिर टोडरमल में से लेते हैं। देखो! काललब्धि कोई वस्तु नहीं है (ऐसा कहा है)। अरे...! किस अपेक्षा से कहना चाहते हैं ? काललब्धि तो ठीक, जिस समय में जिस पर्याय काल का है, वह तो तब ही है। समझ में आया ? परन्तु वह कहीं नयी चीज नहीं है। यह तो स्वभाव का पुरुषार्थ किया, उस समय काललब्धि पकी है, यह काल पका – ऐसा जाना है, बस! यह बात ली और वह बात छोड़ दी।

टोडरमलजी कहते हैं – व्यवहार और निश्चय दो मार्ग हैं ? कथन है, दो मार्ग नहीं। इसी तरह दोनों उपादेय नहीं... दोनों आदरणीय नहीं; आदरणीय तो एक ही हैं, वास्तव में मार्ग तो एक ही है। वही यहाँ कहते हैं, देखो! इस शास्त्र में क्या आधार है ? योगीन्द्रदेव का ‘मोक्खह कारण एक्क’ आत्मा की पवित्र वीतरागदशा और केवलज्ञान पाने को एक ही कारण – आत्मा के आश्रय से ही चारित्र प्रगट होता है। व्यवहार, व्रत, नियम के, विनय, भक्ति आदि के भाव तो पराश्रितभाव हैं। पराश्रितभाव व्यवहार है – ऐसा कहा, सिद्ध किया, होता है। पूर्ण वीतराग न हो (वहाँ) ऐसा व्यवहार होता है परन्तु वह व्यवहार (हेय है)। दूसरी भाषा में कहा है कि तीन लोक में सार यह है, वह व्यवहार सार नहीं है – ऐसा कहा है। हैं ?

**श्रोता :** अनादि काल से व्यवहार में खड़ा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** खड़ा है, खड़ा रखेंगे नहीं, है उसे बतलाया। पडखे खड़ा रखा – ऐसा कहते हैं। दो, तीन बोल से तो चला आता है। २८ (गाथार्थ) चला नहीं आया? कहा न? यह क्रम लिया न? ३० में एकसाथ कहा, ३१ में निरर्थक कहा, ३२ में फल कहा, उसमें निरर्थक कहा था, इसमें फल कहा; है उसका फल संसार है। समझ में आया? देखो, क्रमशः सब लिया है। ठीक लिया है। २८ में ऐसा लिया, त्रिलोक पूज्य आत्मा लिया था, तत्पश्चात् २९ में वहाँ से ऐसा लिया कि यह व्यवहार, मोक्षमार्ग नहीं; मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं – ऐसा कहा था। नहीं, इतने से रोका नहीं क्योंकि जहाँ तक आत्मा का अनुभव न करे, तब तक यह सब मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा कहकर ३० में ऐसा कहा कि दोनों साथ होते हैं, बात सिद्ध की। आत्मा स्वयं का स्वरूप श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति से साधता है, तब ऐसा संयोग व्यवहार साथ में होता है – ऐसा कहकर ज्ञान कराया। पश्चात् यहाँ उड़ा दिया, अकेला व्यवहार (निरर्थक है)। यह निश्चय होवे तो उसे निमित्तपना लागू पड़ता है, नहीं तो अकेला व्यवहार अकृतार्थ है, कुछ कार्य नहीं करता.... आत्मा का कुछ कार्य नहीं करता, ऐसा। तब करता क्या है? कि संसार। ३२ में स्पष्टीकरण किया है।

**श्रोता :** होता है – ऐसे खड़ा रखा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** खड़ा रखा है (अर्थात्) ज्ञान कराया है, ऐसा। खड़ा रखा अर्थात्? है ऐसा ज्ञान कराया, खड़ा रखा अर्थात् है, ऐसा। (उसकी) कीमत नहीं। वह है, उसका ज्ञान कराया है। व्यवहार से अनुकूलता, व्यवहार से अनुकूलता, हाँ! निश्चय से प्रतिकूल है। व्यवहार से अनुकूल (ऐसे) कषाय की मन्दता, शुभराग के ऐसे भाव होते हैं, बराबर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय भी व्यवहार है। वह विनय नहीं होता? निश्चय होवे वहाँ ऐसा विनय, सज्जाय, शास्त्र का स्वाध्याय – ऐसा भाव होता है परन्तु उनका फल पुण्य-बन्ध है, स्वर्ग फल है। समकित्ती को उसका फल स्वर्ग है – ऐसा कहते हैं।

**श्रोता :** मोक्ष का कारण नहीं है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं। कहा न? 'मोक्षवह कारण एवक्' यह सार है, तीन लोक में सार है। (व्यवहार) तीन लोक में सार है ही नहीं। आहा...हा...!

यह तो योगसार है। योगसार अर्थात् स्वरूप की एकाग्रता के जुड़ान का सार, मोक्षमार्ग का सार। मोक्षमार्ग यह एक ही है – ऐसा कहा है। यह योगसार.... समझ में आया? योगसार अर्थात् आत्मा शुद्ध परमानन्द की मूर्ति की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता – यह एक ही योगसार

है। योगसार एक ही मोक्ष का मार्ग है, इस योगसार में यह कहा गया है, समझ में आया ? ठीक, थोड़ा-थोड़ा अर्थ इन्होंने किया है।

तीन लोक में सार वस्तु मोक्ष है, जहाँ आत्मा अपना स्वभाव पूर्णरूप से प्रगट कर लेता है, कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है, परमानन्द का नित्य भोग करता है। क्या मोक्ष का उपाय ही तीन लोक में सार है ? ऐसा। मोक्षसार कहा न ? तो उसका उपाय भी तीन लोक में सार है। उपाय कौन ? कि चारित्र। चारित्र अर्थात् दर्शन-ज्ञानसहित स्वरूप में रमणता वह। दूसरे कहते हैं, चारित्र अर्थात् यह व्रतादि चारित्र.... वह नहीं, समझ में आया ? वह उपाय भी अपने ही शुद्धात्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और उसमें ही आचरण है। निश्चयरत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूपसंवेदन अथवा आत्मानुभव है। तीन की एक व्याख्या.... आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, इसे निश्चय रत्नत्रय कहो, स्व-स्वरूप संवेदन कहो या आत्मा का अनुभव कहो।

यह एक ही ऐसा नियमरूप उपाय है। देखो ! एक में से निकाला है। यही एक ऐसा नियमरूप उपाय है, जैसा कार्य या साध्य होता है, वैसा ही उसका कारण अथवा साधन होता है। कार्य निर्मल तो उसका साधन भी निर्मल, अन्य व्रतादि हैं वे तो मलिनभाव हैं। समझ में आया ? साधन मलिन और साध्य निर्मल यह कोई यथार्थ उपाय नहीं है। समझ में आया ? एक ऐसा नियमरूप उपाय... परम पवित्र मोक्षदशा, उसका कारण भी पवित्रता के परिणाम निश्चय स्वसंवेदन, निश्चयरत्नत्रय – यह एक ही उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया ?

व्यवहारचारित्र किया जाता है, वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। जो कोई व्यवहारचारित्र ही पाले तो भ्रम है, वह निर्वाण का साधन नहीं करता। अकेले पञ्च महाव्रतादि पाले, अट्टाईस मूलगुण पाले, बारह व्रत पाले तो उनसे मुक्ति नहीं होती। (मुक्ति माने तो) भ्रम है, टोडरमलजी ने ऐसा लिखा, निर्वाण का साधन है नहीं, लो ! मन-वचन-काया की क्रिया को मोक्ष का उपाय मत जान। अभी थोड़ी चर्चा आयी है, ऐ...ई... ! देवानुप्रिया.... इस मन-वचन-काया की क्रिया से मोक्ष नहीं है – ऐसा यहाँ सोनगढ़वालों ने लिखा है न ? उन इक्कीस उत्तर में। तो कहते नहीं; झूठ बात है। मन -वचन-काया की क्रिया मोक्षमार्ग है। क्रिया अभी, हाँ ! वे परिणाम और योग नहीं, आहा...हा... ! मन-वचन-काया योग; उनकी क्रिया वह योग कहा है परन्तु योग अर्थात् कम्पन होता है वह। अन्दर कम्पन होता है, वह योग है, वह बाहर की क्रिया को निमित्त है। मन-वचन और काया के पुद्गल तो जड़ हैं, उनमें प्रदेश कँपते हैं



वह योग है और वह योग बन्ध का कारण है। वह योग बन्ध का कारण है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। देखो, यहाँ स्पष्ट लिया, देखा? इन शीतलप्रसादजी को उड़ाते हैं, इन्होंने भी पढ़ा नहीं था? स्वयं को पूरा उड़ाया इसका इसे भान नहीं होता। आहा...हा...!

व्यवहारचारित्र को व्यवहारमात्र समझ। है न? निश्चयचारित्र के बिना उससे मोक्षमार्ग में कुछ लाभ नहीं है। मुनि का या श्रावक का व्यवहार संयम यथार्थ रीति से शास्त्रानुसार पालन करके भी ऐसा अहंकार मत कर कि मैं मुनि हूँ.... व्यवहार से पाँच महाव्रत पालन करके कहे मैं मुनि हूँ। व्यवहार से पालते हैं, मैं मुनि हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ, यह व्यवहार का अभिमान है – ऐसा कहते हैं। पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पाले, बारह व्रत पाले तो कहता है हम श्रावक हैं, हम मुनि हैं, हम ब्रह्मचारी हैं, धर्मात्मा गृहस्थ हैं।

ऐसा करने से उसके वेश और व्यवहार में ही मुनिपना अथवा गृहस्थपना मान लिया, वह ठीक नहीं है। व्यवहार का पालना वह तो अभिमान है, मिथ्यात्व है, राग है – ऐसा कहते हैं। राग पाले और ऐसा कहना कि हम मुनि हैं.... राग वह मुनिपना है? व्यवहार के व्रतादि मुनिपना है? बन्ध का कारण है। क्या कहना? इस धूल का कारण है। यह निश्चय वस्तु नहीं तो अकेला व्यवहार बन्ध का कारण है – ऐसा मानना चाहिए। बारह व्रत पाले, पञ्च महाव्रत पाले.... समझे न? आगम प्रमाण शुभक्रिया आदि करे और माने कि हम साधु हैं, श्रावक हैं तो मूढ़ है, कहते हैं। व्यवहार की क्रिया में मुनिपना – श्रावकपना कहाँ से आया? समझ में आया? वह तो पुण्य-बन्ध का कारण है।

शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है, वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है – ऐसा समझकर ज्ञानियों को शरीराश्रित क्रिया में अहंकार नहीं करना चाहिए। कितना ही अर्थ तो ठीक किया है।

श्रोता : चौथे गुणस्थान में अनुभव होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, होता है न; श्रावक को अनुभव होता है – यह तो पहले ही लिखते हैं।

आत्मा के सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरणरूप अनुभव, एक ही मोक्ष का मार्ग चौथे से शुरु होता है। जितने व्यवहार के विकल्प यह सब होते हैं, यह तो बात की, वे होते हैं। पूर्ण नहीं तो होते हैं परन्तु उनमें अहंकार करना कि यह मेरे, अभिमान किया कि हम करते हैं, विकार को हम करते हैं – ऐसा मानना तो निर्विकारी चीज तो पूरी रह गयी। समझ में आया? अहंकार नहीं करना। भावपाहुड़ का उद्धरण दिया है। हैं ?

श्रोता : निश्चय की अंगुली पकड़कर चलते हैं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल अंगुली पकड़कर नहीं चलता, निश्चय है तो व्यवहार है – ऐसा नहीं और व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं; दोनों स्वतन्त्र हैं । व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं । स्वाश्रयपना भिन्न है, पराश्रयपना भिन्न है; दोनों चीज स्वतन्त्र है । अंगुली पकड़कर लावे न ? अलग-अलग हैं । उनमें अंगुली कौन पकड़े ?

वास्तव में तो आत्मा शुद्ध चैतन्य की दृष्टि ज्ञान हुआ, इसलिए सम्यग्दृष्टि इस व्यवहार से मुक्त है । व्यवहार है अवश्य; जैसे परद्रव्य हैं, ऐसे वह है परन्तु उससे मुक्त है । वह मुझमें नहीं है । आहा...हा... ! अपने में नहीं है, उसे करके मानना कि यह हम मुनि और श्रावक हैं, (यह) मिथ्यादृष्टि है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं । समझ में आया या नहीं ? जो अपने स्वरूप में नहीं; स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान शान्ति भी निर्मल है । उसमें व्यवहार ब्रतादि का जो रत्नत्रय किया, वह उसमें तो नहीं है । समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि की दृष्टि तो आत्मा पर है । राग/व्यवहार पर है ? यह तो व्यवहार पर दृष्टि है, व्यवहार आचरण वह हमारी क्रिया, हम साधु, हमें साधु मानो.... हम मनवाते हैं । अट्टाईस मूलगुण पालते हैं, वह पाले तो.... अभी तो अट्टाईस मूलगुण भी नहीं है । यह तो अट्टाईस मूलगुण पालता हो – पंच महाव्रत हो, बारह व्रत हो तो कहे हम मुनि हैं, वह मूढ़ है । व्यवहार में मुनिपना कहाँ से आया ? समझ में आया ? वह तो राग की क्रिया है । राग की क्रिया में मुनिपना श्रावकपना-समकितपना, मोक्ष का मार्ग कहाँ से आया ?

‘जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ’ दृष्टान्त दिया, उस ओर अन्तिम गाथा है । जीवरहित ( शरीर ) मुर्दा है । भावपाहुड़ का मोक्ष अधिकार है । कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, जीवरहित तो सब मुर्दे हैं । शरीर.... इसी प्रकार सम्यग्दर्शन ( अर्थात् ) आत्मा के भान बिना जीव का जीवन ही नहीं है, वह मुर्दा है । आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द की प्रतीति, अनुभव के बिना यह तेरे शुभ आचरण की क्रियाएँ सब मुर्दा हैं । इसमें जीवन नहीं है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं । आहा...हा... ! समझ में आया ?

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।

सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥ १४३ ॥

क्या कहा ? जैसे जो जीवरहित शरीर अपूज्य है, मुर्दा है; वैसे ही भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना यह व्यवहार ब्रतादि सब मुर्दे हैं और वे पूज्य नहीं हैं । जैसे

जीवरहित मुर्दा पूज्य नहीं है, वैसे सम्यग्दर्शनरहित अकेले व्रतादि, तपादि क्रियाकाण्ड, वे सब मुर्दे हैं; वे लोक में अपूज्य हैं। आहा...हा...! अद्भुत कहा, भाई!

**मुर्दा लोक में माननीय नहीं गिना जाता....** क्या कहते हैं? भगवान् आत्मा का जीवन – कारणप्रभु, कारणजीव का आश्रय लिये बिना, उसकी दृष्टि-ज्ञान-चारित्र किये बिना अकेले व्रत, पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण आदि आगमानुसार पालन करे तो भी वह सब माननीय नहीं है। आहा...हा...! हैं?

**श्रोता :** इसका अर्थ तो स्पष्ट है ही न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह स्पष्टता से माने तब न? तुम्हारे पास पुस्तक नहीं है? यह शास्त्र का आधार है, यह भावपाहुड़ की १४३ वीं गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव का भावपाहुड़ है, देखो! गाथा दी है न? इसमें तो न्याय, भाव क्या रखा? भाई! कि जहाँ आत्मस्वभाव शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र शुद्धता नहीं, वहाँ अकेले व्रत-नियम आदि सब मृतक-अमान्य, अपूज्य है, मुर्दा है। समझ में आया? यह गाथा है। भावपाहुड़ - १४३।

**आगे सम्यग्दर्शन का निरूपण करते हैं। पहले कहते हैं कि सम्यग्दर्शनरहित प्राणी चलता हुआ मृतक है।** चलता मुर्दा है, चैतन्यप्राण, भावप्राण, आनन्दप्राण जिसके – आत्मा के हैं – ऐसे प्राण की प्रतीति-ज्ञान और रमणता प्रगट की है, वह जीवित जीव है। आहा...हा...! समझ में आया? इसीलिए सैंतालीस शक्ति में पहली जीवत्वशक्ति ली है न? जीवत्वशक्ति भगवान् आत्मा में है। चैतन्य, दर्शन, ज्ञान, सुख, सत्ता प्राण – ऐसे प्राण का स्वीकार होकर शुद्ध चैतन्य श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति प्रगट हुए हैं, उसे यहाँ जीवित जीव कहा जाता है। इसके बिना अकेले पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का पालन, बारह व्रत का विकल्प, शरीर का ब्रह्मचर्य पालन – ऐसे सब शुभभाव को तो (जैसे) जीवरहित शरीर, वैसे ही चैतन्य शुद्ध निश्चय रहित वह मुर्दा है। आहा...हा...! समझ में आया?

**‘जीवविमुक्को सबओ’ लोक में जीवरहित शरीर को शव कहते हैं, मृतक या मुर्दा कहते हैं।** वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष चलता मुर्दा है। चलता मुर्दा.... दूसरा मुर्दा तो (अर्थी पर) उठाकर चले – ऐसे। अर्थी, अर्थी कहते हैं न? यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है.... आहा...हा...! पृथ्वी में गाढ़ दिया जाता है और दर्शनरहित चलता हुआ मुर्दा लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उनको वन्दनादि नहीं करते हैं। अकेले व्यवहार-व्रतादि के पालनेवाले तो धर्मात्मा वन्दन करने योग्य नहीं मानते हैं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? क्या कहा यह?

मुनि वेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं.... जिसे सम्यग्दर्शन का भान नहीं, आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति का भान नहीं – ऐसे सम्यग्दर्शन के जीवनरहित के अकेले पाँच महाव्रत और बारह व्रतादि या उसके योग्य जो क्षुल्लकपने का भाव लो न, वह पालता हो तो वह सब मुर्दा है। जैनशासन के स्तम्भ में नहीं मिलते, जैनशासन के स्तम्भ में नहीं मिलते। वहाँ तो जीवताजीव मिलते हैं। आहा...हा...! ऐसे मुर्दे उसमें हाथ नहीं आते, साथ नहीं मिलते। समझ में आया? दो गाथायें रखी हैं, हाँ!

**जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।**

**अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ १४४ ॥**

देखो! श्रावक और मुनि में मुख्य धर्म तो सम्यग्दर्शन है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्डानन्दकन्द का अन्तर अनुभव का सम्यग्दर्शन, वह श्रावक और मुनि के धर्म में मुख्य तो वह है। समझ में आया? मुनि और श्रावक दोनों के धर्म में सम्यग्दर्शन शोभता है। लो! समझ में आया?

आत्मा परम पवित्र प्रभु, शुद्धभाव से भरपूर पदार्थ, शुद्धभाव से भरा भगवान उसकी शुद्धस्वभाव की दृष्टि का अनुभव, उसकी दृष्टि, उसका – आत्मा का ज्ञान और उसमें रमणता अथवा दर्शन और ज्ञान – दोनों की यहाँ मुख्यता ली है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान के बिना जीव अकेले पंच महाव्रत पालते हों, बारह व्रत पालते हों, ब्रह्मचर्य पालते हों, दया पालते हों, करोड़ों का दान करते हों, वे सब भाव मुर्दे हैं। आहा...हा...! समझ में आया? वह सब राग-भाग है, मर गया मुर्दा है। रतनलालजी! अद्भुत बात भाई! आहा...हा...!

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने पूर्णानन्द अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु देखा है। उसमें यह पुण्य-पाप के विकाररहित आत्मा हैं। शरीर की क्रियारहित आत्मा है, ऐसे आत्मा को, पूर्ण शुद्धस्वरूप के भाव को अन्तर दर्शन और ज्ञान द्वारा जो अनुभव और प्रतीति करे, उसे यहाँ श्रावक और मुनि कहा जाता है। इस सम्यग्दर्शन के बिना, आत्मा शुद्धभाव के भान बिना, शुद्ध श्रद्धा के ज्ञान बिना अकेले पंच महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण, बारह व्रत, दया, दान, भक्ति आदि का क्रियाकाण्ड, पूजा, श्रावक के छह आते हैं न? छह कर्तव्य, वे सब निरर्थक, निरर्थक मुर्दा हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

वीतराग परमेश्वर के मार्ग में आत्मा वीतरागस्वरूप परमानन्दमूर्ति की वीतरागीदृष्टि, अन्दर निर्विकल्प वीतरागी ज्ञान, उसके जीवन को जीवन कहा जाता है। उस जीव को जीवित

जीव कहा जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह पैसेवाले भी मुर्दा होंगे ? यह वकील-वकील भी ?

**श्रोता :** इनके बाप-दादा भी ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इनके बाप-दादा नहीं । बाप-दादा में कहाँ तुम्हारे जैसी चतुराई थी ? माणिकचन्दभाई की.... ऐ...ई... ! बाप-दादा नहीं । इस वकालात की पढ़ाई, यह सब मुर्दा है – ऐसा कहते हैं । माणिकचन्दभाई में कहाँ वकालात थी ? ऐ... हरिभाई ! तुम्हारे पिता के पास कितने पैसे थे ? और अभी पचास लाख या साठ लाख हो गये । हरिभाई ! केशूभाई के समय कहाँ धूल भी उसके कारण हुआ है ? मुर्दा हैं सब, मुर्दा । सत्य बात है ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने पवित्र आत्मा अनन्त शुद्धभाव से भरपूर भगवान आत्मा देखा है । ऐसे शुद्धभाव की अन्तर श्रद्धा-ज्ञान, वह जीव का जीवन है । ऐसे जीव के जीवन बिना लक्ष्मी से (अपने को) बड़ा मानकर जीवे, वे तो सब मर गये मुर्दे हैं । वे तो मुर्दे परन्तु पंच महाव्रत, दया, दान, व्रत, भक्ति, आजीवन शरीर का ब्रह्मचर्य.... समझ में आया ? ऐसे भाववाले भी शुद्धभाव की श्रद्धा ज्ञानरहित वे सब मुर्दे हैं । आहा...हा... ! समझ में आया ? हैं ?

**श्रोता :** कड़क दवा है ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कड़वी दवा है, कहते हैं । कठोर रोग हो तो इंजैक्शन ऐसा बड़ा, लम्बा देते हैं । देखा है ? गले न उतरे तो मोटा ऐसा चढ़ाते हैं ? क्या कहलाता है तुम्हारे यहाँ ? ग्लूकोज की ऐसी बोतल चढ़ाते हैं । इसी प्रकार भगवान यह बोतल चढ़ाते हैं । इंजैक्शन लगाते हैं, मूढ़ ! मर गया है तू ?

भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण की खान ऐसे आत्मा की तुझे अन्तर्मुख होकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान नहीं और तुझे पुण्य का दया, दान, व्रत का परिणाम से हमारा जीवन है और हम कुछ करते हैं..... मर गया मुर्दा है । तुझे जीव कौन कहे ? आहा...हा... ! अद्भुत बात भाई !

**श्रोता :** मुर्दे को जीवित करे ऐसी यह दवा है ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मुर्दा मरकर दूसरे भव में होवे तब जीवित होता है । इस भव में होता है ? इस शुभभाव मुर्दे में से जीव नहीं होता – ऐसा यहाँ कहते हैं । समझ में आया ? अद्भुत बात !

भाई! इसमें तो यह सिद्ध किया है। समझ में आया? कि एक आत्मा का शुद्ध स्वभाव.... वह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा के परिणाम यह शुभभाव है – इस रहित आत्मा की अन्तर निश्चयश्रद्धा, ज्ञान, आत्मा की शान्ति, यह एक ही धर्म और यही मोक्ष का कारण है। यह न हो और अकेले व्रतादि, बाल ब्रह्मचर्य आदि ऐसे भाव पाले तो कहते हैं कि अमाननीय है, अपूजनीय है, मुर्दा है, सन्तों से उसे निकाल देने योग्य है। मुर्दा घर में नहीं रखा जाता, निकाल दे। समझ में आया? इसमें समझ में आया?

यह वीतराग परमेश्वर की बात है, यह कहीं किसी के घर की बात नहीं है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक जाने, उनकी वाणी में आया – परमात्मा की वाणी में (आया)। कहो, समझ में आया? अनन्त तीर्थकर हुए, वर्तमान महा-विदेह में सीमन्धर भगवान तीर्थकर विराजमान हैं। उनकी वाणी में यह आता है, वह आया है। अरे! चैतन्य की जाति को तूने झिंझोड़ कर जगाया नहीं और अकेले विकल्प की – दया, दान, व्रत के परिणाम को तूने रखा, मुर्दा है, कहते हैं। आहा...हा...! कहो, प्रवीणभाई! क्या कहे? डण्डा मारते होंगे कोई? समझे?

तीन लोक में सार होवे तो यह है; वह (राग की मन्दता आदि) सार नहीं है। ओ...हो...! इसमें तो कितने ही न्याय दिये हैं। तीन लोक में पूज्य है न? भाई! इसकी अपेक्षा से निकाला, ३३वीं गाथा.... तीन लोक में सार, आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द प्रभु की दृष्टि, अन्दर अनुभव ज्ञान और उसमें रमणता – चारित्र, यह तीन लोक में सार और पूज्य है। इसके बिना – इस भानरहित अकेले व्रतादि, अकेले तपादि क्रियाकाण्ड का शुभभाव वह सब जैन शासन को मान्य नहीं है। वह अपूजनीय मुर्दा है, उसे निकाल देने योग्य है, वह जीव में मिलाने योग्य नहीं है परन्तु यह राग-मुर्दा चैतन्य में मिल ही नहीं सकता। आहा...हा...! समझ में आया? शशीभाई! बात अद्भुत, कठिन है। कहते हैं?

यह समझे, क्यों नहीं समझ सकता? समझ सकता है, इसकी अपने घर की चीज है, घर में है, वहाँ घर में सहज साधन द्वारा प्राप्त होते हैं। उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो विकल्प हो, राग – उसकी भी इसे आवश्यकता नहीं है। इतना तो स्वाधीन और स्वतन्त्र है। यह कहे कि मुझे समझ में नहीं आता। यह सब उल्टा अनादि का। समझ में आया? वह सार है न? उसमें दृष्टान्त दिया है। अब, ३४ वीं गाथा!

३४ वीं गाथा। आपसे आपको ध्याओ। देखो, यह व्यवहार व्रतादि के विकल्प, दया,

दान, यह सब शुभराग है। इससे आत्मा का जीवन नहीं जिया जाता। तब अपने द्वारा अपना ध्यान करो। भगवान चैतन्य, पुण्य-पाप के विकल्परहित ऐसा अन्दर आत्मा आनन्दमूर्ति, आत्मा का आत्मा से ध्यान करो; राग-वाग को लक्ष्य में से छोड़ दो। समझ में आया ? इस मुर्दे को छोड़ दो, कहते हैं। यह मुर्दा जीवित नहीं होगा। यह जीवता जीव होगा, वह जीवित होगा।

**अप्या अप्पइँ जो मुणइ, जो परभाउ चएइ।**

**सो पावइ सिवपुरि-गमणु, जिणवरु एम भणेइ ॥३४॥**

देखो! 'जिणवर एउ भणेइ' जिनवर वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव जिनवर ऐसा भणेइ अर्थात् कहते हैं। 'जो अप्पइँ अप्या मुणइ' आत्मा आत्मा को जाने। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दभाव से भरपूर, उसे शुद्धभाव से आत्मा को जाने... समझ में आया ? और 'परभाव चएइ' जो व्यवहार कहा था - मुर्दा। स्वभाव का आश्रय लेकर आत्मा निर्विकल्प शुद्ध है, परमानन्द है, उसका आश्रय लेकर शुद्धभाव से आत्मा को जाने, तब अन्तर्मुख होने पर ये विकल्प जो व्यवहार के हैं, वे छोड़े। वे मुर्दे हैं, आत्मा को अन्तर साधन में बिल्कुल सहायक नहीं है। समझ में आया ? यह तो योगसार है न! योगसार है। मोक्षमार्ग का सार। योग अर्थात् आत्मा में जुड़ान। आत्मा में जुड़ान, उसका सार। समझ में आया ?

'अप्या अप्पइँ जो मुणइ' जो परभाव को छोड़ देता है... शुभ-अशुभभाव, विकार, उन्हें दृष्टि में से छोड़ देता है और 'जो अप्पइँ अप्या मुणइ' और जो अपने में ही अपने आत्मा का अनुभव करता है... आहा...हा...! शुभभाव, पहले धर्म होता है और फिर यह धर्म होता है - ऐसा नहीं कहा है। यह शुभभाव छोड़कर आत्मा का अनुभव करे तो धर्म होता है। उसे रखकर होता है ? आहा...हा...! अद्भुत बात, जगत् को कठिन (लगती है)। वीतराग परमेश्वर की वीतराग बात.... राग के लोभियों को वीतराग की बात कठिन पड़ती है। आहा...हा...!

**श्रोता :** इसे रुचती नहीं, शुभभाव छाया लगती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** छाया ही है यह, धूप कहाँ थी ? पुण्य और पाप दोनों धूप है। भगवान आत्मा शान्त, शीतल रस से भरा हुआ, यह पुण्य-पाप के दोनों भाव पाप है, अग्नि है, जहर है, आहा...हा...! कहो, समझ में आया ? समाधिशतक का दृष्टान्त (दिया) है। धूप में खड़ा रहे, उसकी अपेक्षा छाया में खड़ा रह न! कहो समझ में आया ? खड़ा है परन्तु जो शुद्धभाव में रहा है, वही पन्थ है। यह वहाँ छाया में खड़ा और पुण्य में खड़ा, इसलिए पन्थ है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ?

ओ...हो...हो...! अनन्त काल का जन्म-मरण का भाव, उसे मिटाने का भाव तो कोई अपूर्व ही होगा न! अहो! अनादि काल के.... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... कहीं नजर डाली नजर पहुँचे नहीं; नजर को अन्त आवे नहीं इतना – अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... भटककर थोथा उड़ गया इसका, भव कर करके। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्त से गुणा करो तो भी अनन्त, इतने भव किये, भाई! आत्मा के भान बिना! एक सम्यग्दर्शन बिना ऐसे भव किये। उसमें व्रत, नियम, तप पालन करके नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, वह तो शुभभाव था। समझ में आया?

आचार्य फरमाते हैं 'अप्पा अप्पड़ जो मुण्ड जो परभाव चएड़।' देखा? व्यवहार को छोड़कर.... व्यवहार को छोड़कर आत्मा का अनुभव करे। 'सो पावड़ सिवपुरिगमणु' लो! वही मोक्षनगर में पहुँच जाता है। वह मोक्षनगरी.... परमात्मा सिद्ध भगवान, णमो सिद्धाणं। उस सिद्धपद को (प्राप्त करता है)। इस आत्मा के शुद्धभाव का अनुभव करे, परभाव – पुण्य-पाप के भाव को अन्तर से छोड़े, स्वरूप में स्थिर हो, वह मुक्तिपुरी को पाता है। ऐसा श्री जिनेन्द्र ने यह कहा है। देखो, आचार्य को डालना पड़ा, भाई! यह हम नहीं कहते, भगवान ऐसा कहते हैं।

तीन लोक के नाथ, इन्द्रों के पूज्य पुरुष समवसरण में – धर्मसभा में भगवान ऐसा दिव्यध्वनि में कहते थे। आहा...हा...! भाई, तू धीरजवान हो, धीरजवान हो। तेरे स्वरूप में अन्दर अनन्त आनन्द पड़ा है। तेरे स्वभाव में अनन्त आनन्द का सागर डोलता है, आहा...हा...! ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान से जीव को स्थिरता (होने पर) अल्प काल में उसे मुक्तिनगरी मिलेगी। यह व्यवहार छोड़ तो मिलेगी – ऐसा कहते हैं। इस व्यवहार के द्वारा, इसकी मदद से आगे मुक्ति में जाया जा सकेगा – ऐसा है नहीं। ऐसा जिनवर, जिनवर, जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा, परमेश्वर, तीर्थकरदेव – ऐसा भणेड़, ऐसा भणेड़... भणेड़ अर्थात् ऐसा प्ररूपित करते हैं – ऐसा कहते हैं। लो! आचार्य ने ऐसा दृष्टान्त दिया।

योगीन्द्रदेव भी सिद्ध भगवान को ऐसा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तरह.... भगवान ऐसा कहते हैं। तीन लोक के नाथ इन्द्रों के समक्ष, गणधरों की उपस्थिति में, भगवान की वाणी में ऐसा आया था कि यह आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, इसे पुण्य-पाप के भाव हों, उनमें से दृष्टि छोड़। छोड़ दे उन्हें; छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो तो अल्प काल में मुक्ति होगी, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह पुण्यभाव तुझे मदद करे – ऐसा नहीं है। अटकानेवाला बीच



में आता है — ऐसा कहते हैं, इसलिए छोड़। आहा...हा...! ऐसी बातें जगत को जमना कठिन है, भाई! समझ में आया ?

आत्मा को-आत्मा द्वारा.... ऐसा है न ? 'अप्पा अप्पड़' है न ? आत्मा, आत्मा द्वारा.... अर्थात् क्या ? भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और शुद्ध चैतन्य की मूर्ति, उसे आत्मा, आत्मा द्वारा.... आत्मा द्वारा अर्थात् अन्य व्यवहार द्वारा नहीं, दया-दान-व्रत, कषाय के मन्द (परिणाम) वह आत्मा नहीं है; वह तो अनात्मा, आस्रवतत्त्व है। आत्मा आत्मा के द्वारा... भगवान आत्मा अपने निर्विकल्प-रागरहित श्रद्धा-ज्ञान द्वारा परभाव छोड़कर.... यह दया, दान, व्रत के परिणाम बन्ध के कारण हैं, उन्हें छोड़कर — ऐसा जिनवर कहते हैं, तो वह शिवपुर को पाता है, वरना मोक्ष में नहीं जाता; चार गति में भटकेगा। पहले कहा था वह। (गाथा) ३३ में कहा था न ? कि पुण्य से स्वर्ग में, पाप से नरक में, और दोनों को छोड़े तो शिववास में (जाता है)। उस शिववास की यह विशेष व्याख्या की है। कहो, समझ में आया ?

'लाख बात की बात एक निश्चय उर आणो;' छहढाला में आता है या नहीं ? भगवान आत्मा.... उसका निधान चैतन्य रत्नाकर प्रभु आत्मा है, उसमें अनन्त रत्न, आनन्द और शान्ति के भरे हैं। भगवान जाने, उसकी धूल में भरा इसे दिखे और यह दिखे नहीं। कहो, हरिभाई! पाँच-दस लाख रुपये, पचास लाख हो वहाँ तो आहा...हा...! मैं चौड़ा गली सँकरी।

**श्रोता :** कभी देखा न हो तो फिर ऐसा ही होता है न ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** धूल में भी देखा नहीं... पूरी दुनिया दिखे इसमें तेरे बाप को क्या आया ? समझ में आया ? ऐ... मोहनभाई! अन्य पैसेवाले सब हैं न ? कहते हैं न — वाला है न सब ? कितनेवाला ? पैसेवाला, लड़केवाला, स्त्रीवाला, इज्जतवाला, मकानवाला, अमुकवाला कितने 'वाला' लगे हैं इसे ? एक वाला (विशेष प्रकार का रोग) होवे तो खा जाये, वह आता है न पैर में ? वाला, हैं ? कितने वाला ?

यहाँ तो कहते हैं भगवान रागरहित, देहरहित, मनरहित, वाणीरहित; वाला नहीं यह तो रहित है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा की — स्वभाव की आत्मा द्वारा श्रद्धा और स्वभाव की स्थिरता कर। अल्प काल में मुक्ति हो, वह पन्थ मोक्ष का है। बीच में व्यवहार आवे उसे छोड़ता जा, छोड़ता जा; आदर नहीं करता जा, उसकी मदद लेकर आगे बढ़े, ऐसा नहीं — ऐसा कहते हैं, देखा ? आहा...हा...! फिर बहुत बात (ली है)। लो, यह ३४ (गाथा पूरी) हुई।

अब, व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान होता है — ऐसा कहते हैं। इस एक की बात की

न आत्मा की.... आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, उसका भान, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, वह मोक्ष का मार्ग है। अब ऐसे स्थान में इसे भगवान ने छह द्रव्य कहे, छह द्रव्य भगवान ने कहे.... अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश ( एक-एक) इनके अन्तर भेद नौ। यह नौ तत्त्व व्यवहाररूप है, उनका इसे ज्ञान करना चाहिए; क्योंकि वीतरागमार्ग के अतिरिक्त ऐसे नौ तत्त्व अन्य में नहीं होते हैं। समझ में आया? देखो, इस गाथा में ऐसा कहते हैं, हाँ! **व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है...** अर्थात् होता है। प्रयत्न से, कहा है न? प्रयत्न से जानना। उसका कारण है कि आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय उन छह द्रव्य को जानने की सामर्थ्य रखती है। छह द्रव्य जो भगवान ने कहे – अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु... परमाणु, यह रजकण, पॉइन्ट, यह धूल... इससे असंख्य कालाणु इन सबको (जाने ऐसी) आत्मा के गुण की एक पर्याय सामर्थ्य रखती है। परसन्मुखवाली एक पर्याय सामर्थ्य रखती है। यह इसे पर्याय का ज्ञान यथार्थ होने को इसे नवतत्त्व का ज्ञान यथार्थ होना चाहिए, उनमें से छाँटकर अकेले आत्मा का ज्ञान करे, उसका नाम मोक्षमार्ग है। इसके लिए यह नवतत्त्व की व्याख्या करेंगे।

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )

२३

श्री समयसार, गाथा-७५, प्रवचन - १०३  
दिनांक - १३-१०-१९६१

यह समयसार का कर्ता-कर्म अधिकार चलता है। इसमें यह ७५वीं गाथा। शिष्य ने गुरु को आकाँक्षा से प्रश्न किया है, प्रभु! यह ज्ञानी हुआ अथवा ज्ञानस्वरूप हुआ, यह किस लक्षण से पहिचाना जाता है? यह ७५वीं गाथा का उपोद्धात है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप हुआ अथवा ज्ञानी हुआ। अनादि से राग / विकल्प आदि से एकता मानकर जो अज्ञानी होता था। भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द जिसका तादात्म्य स्वभाव है। ज्ञान और आनन्द। वह आत्मवस्तु... वस्तु आदि-अन्तरहित, उसमें ज्ञान और आनन्द आदि तादात्म्यस्वभाव है। ऐसे तादात्म्यस्वभाववान आत्मा को भूलकर जो अनित्य तादात्म्य पुण्य-पाप, दया-दान, काम-क्रोध, विकार और एक समय भी तादात्म्य नहीं, ऐसे शरीर, वाणी, कर्म आदि का कार्य मेरा और मैं उसमें प्रवर्तनेवाला, ऐसी भ्रान्ति हैं, भ्रमणा है, वह दुःखदायक दृष्टि और चौरासी के अवतार का मूल कारण वह है। समझ में आया?

भगवान आत्मा सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... और सत् के साथ जो ज्ञान सत्, आनन्द सत्। ऐसे त्रिकाल चिदानन्द प्रभु आत्मा को अनादिकाल से भूलकर पुण्य-पाप के विकल्प अर्थात् वृत्ति उठती है, वही मेरा कर्तव्य और मैं प्रवर्तनेवाला और उसमें मैं जुड़नेवाला और वही मेरा कार्य तथा काम है, (ऐसी बुद्धि है), तब तक ज्ञानानन्द आनन्द तादात्म्यस्वभाव का अनादर करता है और क्षणिक विकार उपाधिभाव का आदर करता है, तब तक वह दुःखदृष्टिवन्त मिथ्यादृष्टिवन्त चौरासी में परिभ्रमण करनेवाला है।

अब ज्ञानी किस प्रकार से पहिचाना जाता है और ज्ञानी कैसे होते हैं? दोनों बात यहाँ आयी है। देखो! परमार्थ से कर्ता नहीं, किसका? कुम्हार व्यापक अर्थात् पसरनेवाला और घड़े की पर्याय व्याप्त अथवा उस व्यापक का कार्य, जैसे घड़े और कुम्हार के बीच में नहीं है। कुम्हार विस्तरित होकर—पसरकर घट की पर्याय बनावे और घट की पर्याय उसका व्याप्य—कार्य और कुम्हारे उसका प्रवर्तनेवाला कर्ता, ऐसा कभी नहीं होता। इसी प्रकार पुद्गल परिणाम—दया, दान, काम, क्रोध, पुण्य-पाप के भाव, व्याप्य—कार्य और आत्मस्वभाव

उसका कर्ता, ऐसा व्याप्य व्यापक भाव का स्वरूप में अभाव है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा विकार का कार्य मेरा और मैं विकार में पसरनेवाला मैं हूँ, ऐसा कर्ता-कर्म का सम्बन्ध परमार्थ से नहीं है, परमार्थ से कर्ता नहीं है। यहाँ तक आया है। समझ में आया ? भारी सूक्ष्म बात, भाई ! जगत को...

प्रभु ! परन्तु तू कैसा है ? एक पदार्थ है न ! वस्तु है न, वस्तु, तो वस्तु है तो है, उसकी आदि-अन्त नहीं। ऐसी वह चीज़ है और उसका स्वभाव भी आदि-अन्त नहीं, ऐसा त्रिकाल तादात्म्य शक्ति और स्वभाव और स्वरूप है। ऐसी दृष्टि हुई, तब विकारी पुण्य-पाप की पर्याय मेरा कर्तव्य—मेरा कार्य और मैं कर्ता हूँ, ऐसी दृष्टि नहीं रहती। क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता। वस्तुस्वभाव की दृष्टि में स्वभाव—कर्ता द्रव्य और विकार पर्याय कार्य—ऐसा नहीं हो सकता। उसमें तो निर्विकारी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह अपना व्याप्य अर्थात् अवस्था अर्थात् कार्य अर्थात् कर्म और भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव उसका करनेवाला है। समझ में आया ? ऐसी बात है। यह रजकण और शरीर और इनकी तो बात कहाँ करना ! वे पदार्थ तो कहीं बाहर उनके कारण से परिणमते हैं।

यहाँ तो शुभराग—दया, दान, व्रत, तप, जप, भक्ति, पूजा—ऐसे जो विकल्प अर्थात् राग का अंश उत्पन्न होता है, वह आत्मा, कुम्हार और घड़े की भाँति कर्ता-कर्म नहीं है, वैसे विकार का कार्य अपना और आत्मा का कर्ता, ऐसा कभी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? परन्तु... अब क्या है ? है क्या ? ऐसा नहीं तो है क्या ?

(मात्र) पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को... क्या कहते हैं ? जो राग—दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, (-शुभ) अशुभभाव आदि हुए, वे पुद्गल परिणाम हैं। उनके ज्ञान को, उसे जानने का कार्य आत्मा करता है। राग—दया, दान की वृत्ति उत्पन्न हुई, उसके ज्ञान को... उसके ज्ञान को अर्थात् क्या ? वह तो निमित्त से कथन है। उस सम्बन्धी अपना स्व-परप्रकाशक कार्यरूप कार्य, कार्यरूप कर्तव्य के ज्ञान को उसका वह निमित्त हुए राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध (आदि)। अपना स्वभाव ज्ञातादृष्टा का भान हुआ, अपना स्व का ज्ञान हुआ, ऐसे राग का भी स्व-परप्रकाशक ज्ञान में अपने में उस निमित्त सम्बन्धी ज्ञान हुआ, अपने में अपने कारण से हुआ, तब व्यवहाररत्नत्रय के राग को अपने ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। समझ में आया ? अरे ! तेरा परिणमन कैसा है, देख तो सही !

भगवान वस्तुस्वरूप चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... शाश्वत् रहनेवाली चीज़, उसमें ज्ञान और आनन्दस्वभाव को करनेवाला द्रव्य और

विकारी परिणाम कार्य, ऐसा तीन काल में नहीं होता। हाँ, वह विकारी भाव होते हैं, उन सम्बन्धी अपना ज्ञान अपना कार्य करता है। उस ज्ञान का कार्य अपना और करनेवाला द्रव्य। समझ में आया ?

पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ... क्या कहते हैं ? जो रागादि व्यवहार विकल्प शुभरागादि हुए, उन्हें निज ज्ञान में, उस ज्ञान को आत्मा में कर्मरूप से करता हुआ, अपने कार्यरूप करता हुआ... पुद्गल रागादि व्यवहाररत्नत्रय को कार्यरूप नहीं करता हुआ, परन्तु उस सम्बन्धी अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान, उसके कार्यरूप आत्मा करता हुआ, समझ में आया ? पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, ... यहाँ तक आया है। चाहे तो वह राग अपने ज्ञान में ज्ञात होता है, वह वास्तव में तो अपना ज्ञान ही है। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख का भान हुआ तो जैसे ज्ञायक के ज्ञानरूपी कार्य हुआ, उसी समय उसमें रागसम्बन्धी अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का कर्ता होता हुआ कार्यरूप करता है, परन्तु राग को और व्यवहाररत्नत्रय को कर्ता होकर कार्य करे, ऐसी वस्तु में—स्वभाव में शक्ति नहीं है। समझ में आया ? वह अज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न करे तो अज्ञान में ताकत है, स्वभाव में ताकत नहीं है। समझ में आया ?

अपने आत्मा को जानता है, ... पश्चात् भाषा क्या ली है ? पुद्गल परिणाम—व्यवहाररत्नत्रय, देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का, प्रेम का, श्रद्धा का विकल्प आदि उस राग का अपने सम्बन्धी ज्ञान में निमित्त होता हुआ, उस ज्ञान की पर्याय को आत्मा का कार्य करता हुआ। आत्मा अपने को जानता है। राग को जानता है, ऐसा कहना वह भी एक व्यवहार—असद्भूतव्यवहार है। समझ में आया ? ... भाई ! यह चीज़... बाकी लेना या देना कुछ किसी के साथ। धूल में भी सम्बन्ध नहीं है। व्यर्थ में मान करके बैठा है। कुछ लेना और देना (नहीं)। इसे राग होता है, उसका भी परमार्थ से स्वभाव में सम्बन्ध नहीं है, है ही नहीं भगवान आत्मा में। क्या राग की खान आत्मा है या शान्ति और आनन्द का निधान है ? समझ में आया ? जिसे शान्ति चाहिए, सुख चाहिए तो वह सुख कहाँ है ? पर में सुख है ? कि पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, उनमें सुख है ? अपने स्वभाव में सुख, सुखरूप, सुख, सुखस्वरूप तादात्म्यसम्बन्ध है। सुख नाम की शक्ति से शक्तिवान तादात्म्य स्वभावसम्बन्ध है। ऐसी दृष्टि करने से, वह राग आया, उसके ज्ञान का कार्य करता हुआ आत्मा अपने को जानता है। समझ में आया ? इसका नाम सम्यग्ज्ञान, इसका नाम सम्यग्दर्शन, इसका नाम धर्म। गजब धर्म की व्याख्या, भाई ! समझ में आया ?

धर्म कोई बाहर से नहीं आता और धर्म कोई बाहर में नहीं है। भगवान आत्मा धर्म अर्थात् आनन्द और ज्ञान का धारक धर्मी, ज्ञान और आनन्द को धरनेवाला चैतन्य धातु का धारक, चैतन्यस्वभावरूप धातु का धारक आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् राग आया, उसके ज्ञानसम्बन्धी अपना कार्य करता हुआ आत्मा अपने को जानता है, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। समझ में आया ? ज्ञान शब्द से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों। यहाँ तो राग का अभाव बतलाना है, परन्तु ज्ञान पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को अर्थात् पुद्गल परिणाम ज्ञात हुए, वह स्वभाव सन्मुख से ज्ञात होते हैं। उसमें रुचि हुई, स्वसंवेदन ज्ञान हुआ, रमणता हुई। ऐसे अपने निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान परिणाम अपने में कार्य करते हुए, उसका आत्मा करनेवाला है और उन्हें जाननेवाला आत्मा है। अपनी निर्विकल्प पर्याय हुई, उसका जाननेवाला आत्मा है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसी चीज़ की खबर नहीं, समझ करे नहीं, सम्हाल करे नहीं और माने कि हमें धर्म हो गया। ऐसा ही अनादि काल से चला आता है। चौरासी के अवतार में दिगम्बर जैन साधु होकर बाह्य नग्न लिंग धारण करके भी, यह राग की क्रिया मेरा कर्तव्य है और मुझे राग से लाभ होता है, यह राग व्याप्य और आत्मा व्यापक माननेवाला अज्ञानी मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? देह की क्रिया तो कहीं रह गयी। वह तो मिट्टी-जड़ है, अजीव माँस, हड्डियाँ, चमड़ी है। उसकी पर्याय—उसका कार्य तो परमाणु से होता है।

कहते हैं, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न... यह आत्मा। कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम, कर्म अर्थात् जड़कर्म की अवस्था, नोकर्म—शरीर, वाणी आदि की पर्याय। उनसे अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। कहो, समझ में आया ? लो, यह ज्ञान। यह ज्ञान और यह ज्ञानी। यह धर्म और यह धर्मी। धर्मी आत्मा अपना धर्म ज्ञान और आनन्द, शान्ति का परिणाम करनेवाला। उस समय में विकार व्यवहाररत्नत्रय हो, उसका ज्ञान भी अपने सम्बन्धी ज्ञान करने से हुआ। ऐसे ज्ञान, श्रद्धा चारित्र के परिणाम करनेवाला आत्मा ज्ञानी है। यह लक्षण बताया। बताव्युं को क्या कहते हैं ? बताया। बताया कहते हैं ? हिन्दी नहीं आता। गुजराती है ? समझ में आया ?

अब बात को जरा झकझोरते हैं। अमृतचन्द्राचार्य बहुत स्पष्ट करते हैं। ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। अर्थात् शरीर, वाणी, मन की पर्याय और पुण्य-पाप की विकारी पर्याय जो पुद्गल का व्याप्यरूप कार्य है और पुद्गल उसका व्यापक है। उस सम्बन्धी अपना ज्ञान करता हुआ और ज्ञान का करनेवाला प्रवर्तनेवाला होता हुआ, उस ज्ञान को अपना कार्य करता

हुआ वह आत्मा ज्ञानी है। समझ में आया ? यहाँ तो अभी भेद से समझाते हैं न कि यह कर्ता और यह कार्य। ऐसा होता है न ? होता है। कर्ता यह है और कार्य यह है, ऐसा भेद नहीं, परन्तु यहाँ होता है। क्या होता है ? रागादि दया, दान का विकल्प—विकार—विकृत वृत्ति उठे, उस विकार का ज्ञान मेरा है, उसका ज्ञान मेरा है, विकार मेरा नहीं और वह ज्ञान मुझसे होता है, राग से नहीं। ऐसी श्रद्धा और ज्ञान का कार्य करता हुआ आत्मा ज्ञानी है। ज्ञानस्वरूप हुआ, उस ज्ञानी का लक्षण और चिह्न है। क्या कोई किसी के पास से ले सकता है ? कोई ले सकता है ? अपनी चीज़ अपने में लक्ष्य करके समझे नहीं और धमाल-धमाल करे कि हमें धर्म हो गया। जाओ ! स्वतन्त्र है। प्रभु ! अनादि से तेरी चीज़ पराधीन हो गयी है। वह पराधीनता तूने बनायी है और वह पराधीनता तेरे कारण से छोड़नी है। दूसरा कोई कारण नहीं है।

कहते हैं, ऐसा होता हुआ ज्ञानी है। (पुद्गलपरिणाम का ज्ञान...) स्पष्ट करते हैं। (आत्मा का कर्म किस प्रकार है?... ) उसके कार्य का निषेध कर दिया। राग का, पुण्य का, दया, दान के रागादि का कार्य मेरा नहीं है, मैं तो उसका ज्ञान करनेवाला हूँ। ज्ञाता होकर अपने ज्ञान में उसका ज्ञान स्व-परप्रकाशक साथ में हो जाता है। वास्तव में तो समय-समय में ज्ञान की दशा ही ऐसी होती है कि जैसा ज्ञायक है और जिस प्रकार का राग है, उस सम्बन्धी स्व-परप्रकाशक का सामर्थ्य व्यक्त करता हुआ, आत्मा कर्ता होकर परिणमन करता है। समझ में आया ? राग का ज्ञान दूसरा और आत्मा का ज्ञान दूसरा, ऐसे ज्ञान में दो भाग नहीं है। समझ में आया ? और राग को जानने में दूसरा उपयोग करना पड़े और आत्मा को जानने में दूसरा (उपयोग करना पड़े, ऐसा नहीं है)। वह तो आत्मा वस्तु स्वभाव सच्चिदानन्द प्रभु है, ऐसे राग अर्थात् विकल्प से पृथक् अर्थात् रूपी से पृथक् होकर अपना ज्ञातादृष्टा सहजानन्द प्रभु आत्मा की दृष्टि की तो अपना ज्ञान भी हुआ और ऐसा ही सामर्थ्य ज्ञान में प्रगट होकर एक समय में (पर्याय) होती है कि अपने में जिस प्रकार का राग, जिस प्रकार का द्वेष, जिस प्रकार का क्रोध आता है, उस प्रकार का ज्ञान परिणमन करके कार्यरूप आत्मा होता है। समझ में आया ? परन्तु बहुत सूक्ष्म, भाई !

प्रभु ! तू कितना सूक्ष्म है, देख न ! इन्द्रिय से पकड़ सकता है ? यह तो मिट्टी है, धूल है। दया, दान का शुभराग उत्पन्न होता है, वह भी स्थूल है और स्थूल का व्याप्य और व्यापक तो जड़ के साथ है। ऐसी तेरी चीज़ पड़ी है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का भान हुआ तो ज्ञानी हुआ, तो अपने द्रव्य, गुण, पर्याय का ज्ञान वर्तमान कार्यरूप हुआ, उसमें रागादि व्यवहार आदि निमित्त है, उसका भी ज्ञान साथ ही होता है। आगे-पीछे (नहीं)। स्व का ज्ञान पहले हो और पर का

ज्ञान बाद में हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? और पर है तो ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य व्यक्त होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति प्रभु प्रकाश का पुंज, प्रभु प्रकाश का पुंज चैतन्य है। चैतन्यप्रकाश का पुंज है, ऐसी दृष्टि हुई तो चैतन्य स्वयं... पोते कहते हैं ? स्वयं। चैतन्य स्वयं ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का कार्य करता हुआ, पर को जानता हुआ, पर को व्याप्य किये बिना, पर का ज्ञान करे, ऐसी ही पर्याय प्रगट होती है। समझ में आया ? यह ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी कहा। अब अमृतचन्द्राचार्य जरा विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

भगवान ! तेरी चीज का कार्य क्या, यह बताया। ऐसा कैसे कहा कि अपनी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र पर्याय—अवस्था—हालत का कार्य करनेवाला यह हुआ किस प्रकार ? (पुद्गलपरिणाम का ज्ञान...) अथवा व्यवहारत्नत्रय दया, दान का राग उत्पन्न होता है, उसका ज्ञान (आत्मा का कर्म किस प्रकार है ?) वह पुद्गल जिस-जिस क्षण में जिस प्रकार का राग हुआ, उस प्रकार का अपना ज्ञान अपने से हुआ। वह पुद्गलकर्म का ज्ञान आत्मा का कार्य किस प्रकार है (सो समझाते हैं:-) समझ में आया ? पहले प्रश्न क्या है, यह समझ में आया ? पहले प्रश्न क्या है ?

पुद्गलपरिणाम का ज्ञान अर्थात् शुभ विकल्प उठता है। जड़ वाणी तो ज्ञान में ख्याल में आ जाती है। उसका यहाँ विशेष स्पष्टीकरण नहीं है। विशेष (स्पष्टीकरण तो यह है कि) शुभराग हुआ, भूमिका प्रमाण चौथे, पाँचवें, छठी भूमिका—गुणस्थान प्रमाण जिस प्रकार का राग, जिस प्रकार के शुभभाव की व्यक्तता हुई, उस राग का ज्ञान करता हुआ, वह राग पुद्गलपरिणाम है, उसका ज्ञान करता हुआ अपने ज्ञान का कार्य किस प्रकार है ? आत्मा अपने ज्ञान का कार्य किस प्रकार करता है ? उसका उत्तर देते हैं, यह समझाते हैं।

परमार्थ से,... देखो ! पहले में आया था, भाई ! उसमें आया था। परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से... शुरुआत में। अब यहाँ परमार्थ से आत्मा लेते हैं। चौथी लाईन है। परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना हैं... ऐसा यहाँ लिया।

परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को... अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (कहकर) समझाया हैं। ज्ञान तो अपना है। जैसा राग हुआ, व्यवहार हुआ, विकल्प हुआ, उसका वैसा ही बराबर ज्ञान करता हुआ, ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से... क्या कहते हैं ? यह तो शान्ति से समझने



की चीज़ है। परमार्थ से पुद्गलपरिणाम जो व्यवहाररत्नत्रय, दया, दान के विकल्प उठे, उनके ज्ञान को, उनका अपने आत्मा में ज्ञान हुआ, राग का ज्ञान अपने में अपने कारण से हुआ, ऐसे ज्ञान को। समझ में आया ? और पुद्गल को अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय जड़ जो अचेतन राग, उसे। दया, दान, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, वह पुद्गल है। पहले पुद्गल के परिणाम कहे थे, यहाँ उन्हें पुद्गल कह दिया। पहले तो पुद्गलपरिणाम कहा था, अब यहाँ अभेद से पुद्गल कह दिया। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप से जागृत हुआ तो पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (अर्थात्) दया, दान, राग आदि व्यवहार के ज्ञान को; वह ज्ञानरूपी कार्य और पुद्गल को, वह व्यवहार रागादि परिणाम, घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से... घट व्याप्य और कुम्हार व्यापक अर्थात् घट अवस्था और (कुम्हार) विस्तार पानेवाला व्यापक, उसका अभाव है। समझे ? घड़ा और कुम्हार। कुम्हार व्यापक—विस्तार पानेवाला और घट उसका व्याप्य, उसका अभाव है। इसी प्रकार भगवान आत्मा, राग और विकार सम्बन्धी ज्ञान अपना है। उस ज्ञानरूपी कार्य को और पुद्गल को—राग को, घट और कुम्हार की भाँति। यह राग है, वह घट है और आत्मा के ज्ञानपरिणाम, वह कुम्हार, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? घट और कुम्हार की भाँति अवस्था और अवस्थायीपना नहीं है। घट अवस्था और कुम्हार अवस्थायी, घट पर्याय और कुम्हार पर्यायवान (जैसे) नहीं है, वैसे रागादि परिणाम और आत्मा का राग सम्बन्धी का ज्ञान, उस ज्ञान को और पुद्गल को, घट-कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है। वे विकारी परिणाम व्याप्य और ज्ञान उसका व्यापक, ऐसा नहीं है। आहाहा !

किन्ती सन्धि है ! राग और राग को करनेवाले ज्ञान की सन्धि है। उस सन्धि में बुद्धि का प्रवेश होकर जहाँ राग और आत्मा भिन्न पड़ गये, तो कहते हैं कि वे पुद्गलपरिणाम और ज्ञान, पुद्गलपरिणाम का ज्ञान और पुद्गल को। पहले जो पुद्गलपरिणाम कहे थे, उसे अब पुद्गल कह दिया। समझ में आया यहाँ ? पुद्गल—राग, द्वेष, दया, दान जो पुद्गलपरिणाम, उनका अपने में अपने कारण से ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को और पुद्गलपरिणाम शब्द से पुद्गल को, घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकपना नहीं है। वह विकार अपनी व्याप्य अवस्था और ज्ञान उसमें व्यापनेवाला, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। भारी सूक्ष्म बात है। ७५-७६-७७-७८-७९ गाथाएँ कर्ता-कर्म का निचोड़ है। समझ में आया इसमें ? क्या कहा ?

वास्तव में अपने ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हुए, वे व्यापक और राग-द्वेष व्याप्य, ऐसा नहीं

है। किस प्रकार?—घट और कुम्हार की भाँति। कुम्हार विस्तार पानेवाला और घट उसका विस्तार अर्थात् व्याप्य नहीं है; उसी प्रकार भगवान आत्मा का ज्ञान विस्तार पानेवाला, व्याप्य व्यवहाररत्नत्रय, ऐसा नहीं है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म, भाई!

(ज्ञान को और) पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव... है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय आत्मा की पर्याय में व्याप्य हो जाए और आत्मा उनका व्यापक हो अथवा आत्मा की जो ज्ञानपर्याय हुई, वह कर्ता हो और राग-द्वेष के परिणाम कर्म हों, ऐसा नहीं है।

**श्रोता :** परिणाम दोनों में व्याप्त है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दोनों में परिणाम की व्याप्ति नहीं है। बस, राग की व्याप्ति जड़ के साथ। ज्ञान के साथ राग की नहीं और राग के साथ ज्ञान की नहीं। परिणाम की, हों! अपने ज्ञान के जो परिणाम हुए, उनके साथ राग की व्याप्ति अर्थात् कार्य नहीं अथवा वह ज्ञान की अवस्था नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठा, वह ज्ञान की अवस्था नहीं, वह जड़ की अवस्था है। उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है, वह आत्मा की अवस्था है।

जो तादात्म्य है, वह तो त्रिकाल की बात है और उसके परिणाम हुए, वे आत्मा के तादात्म्य परिणाम पर्याय में हुए। तादात्म्य ज्ञानपरिणाम हुए, उसमें पुद्गलपरिणाम का अपने कार्य में निमित्त हो, तथापि वे व्याप्य और आत्मा के ज्ञान के परिणाम व्यापक हैं अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र के परिणाम कर्ता हैं और व्यवहाररत्नत्रय उनका कर्तव्य है—कार्य है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अभी सुनने को मिले नहीं, कब निर्णय करे? और कहाँ देखे? ऐसे का ऐसा अनन्त काल से चला आ रहा है। ग्यारह अंग पढ़ा, नव पूर्व पढ़ा, वे जानपने की ज्ञान की बात करी। नौवें ग्रैवेयक जाए ऐसे शुभ परिणाम की क्रिया अनन्त बार की है। उसमें क्या है? वह तेरी चीज़ ही नहीं है न! वह तो पुद्गल है। समझ में आया?

कहते हैं कि, पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को अर्थात् विकार परिणाम को, यहाँ निर्विकारी परिणाम को और इस विकार परिणाम में दोनों में व्याप्यव्यापकपना नहीं है, दोनों में कर्ता-कर्मपना नहीं है, दोनों में पर्याय-पर्यायवानपना नहीं है। समझ में आया? व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है... अपनी ज्ञानपर्याय जो ज्ञातापना का भान होकर हुई, उसमें भले व्यवहाररत्नत्रय निमित्त हो परन्तु अपने ज्ञानपर्याय कर्ता हुई और राग की पर्याय कार्य हुई, ऐसा नहीं है। कोई कहे कि द्रव्य उसका कर्ता नहीं। भाई! गुण कर्ता नहीं, परन्तु निर्मल पर्याय तो कर्ता होती है या नहीं? पर्याय। क्यों?—कि

आत्मा कर्ता होकर ज्ञानपर्याय का कार्य करता है। तो ज्ञान की निर्मल पर्याय कर्ता और राग उसका कर्म, ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

**कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टी के...** पहले घट और कुम्हार के साथ का दृष्टान्त देकर निषेध किया। अब घट और मिट्टी में **व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव...** (अर्थात्) मिट्टी व्यापक अर्थात् रचनेवाली है और घड़ा रचा जाता है। मिट्टी से घड़ा रचा जाता है, कुम्हार से नहीं। मिट्टी में परिणमने की—घटरूप होने की ताकत है, कुम्हार में ऐसी कोई ताकत नहीं है। भारी दृष्टान्त, भाई! अभी तो दृष्टान्त कठिन पड़ता है। समझ में आया ?

लेखन लिखते हैं न, अक्षर। तो कहते हैं, वह अक्षररूपी पर्याय, वह कार्य और उसका कर्ता वे पुद्गल परमाणु हैं, कलम भी नहीं। जो अक्षर लिखे जाते हैं, उनकी पर्याय व्याप्य और व्यापक उसके परमाणु हैं, कलम नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई! पागल कहे, ऐसा लगता है, हों! पागल तो पागल ही कहे न। गांडा समझते हो? पागल। गांडा हमारी काठियावाड़ी भाषा है। गहल, पागल। पागल लोग ज्ञानी को भी पागल कहे, ऐसी चीज़ है।

कहते हैं, उस अक्षर में जो-जो पर्याय—अवस्था होती है, वह व्याप्य—अवस्था हुई, स्वयं व्याप्य हुई। किसकी?—व्यापक परमाणु की; और स्वयं परमाणु उस व्याप्य अवस्था में व्यापक हुए। इसी प्रकार भगवान आत्मा स्वयं व्यापक होकर राग की पर्याय करे, ऐसा तीन काल में नहीं है और राग व्यवहाररत्नत्रय की पर्याय आत्मा में स्वयं व्याप्य हो जाए, ऐसा नहीं है। निश्चय और व्यवहार की इतनी सन्धि लेना है। झगड़ा। दूसरे शास्त्र में बहुत आता है न कि व्यवहार साधन है और व्यवहार कारण है, व्यवहार हेतु है। यह तो निमित्त ज्ञान में हुआ। यह तो ज्ञान हुआ, उसमें निमित्त पड़ा। ज्ञान हुआ, उसमें निमित्त हुआ, इसका अर्थ अपना ज्ञान अपने से स्व-परप्रकाशक कार्य में कार्यरूप परिणमा, तब उसे निमित्त कहा गया। समझ में आया ?

निश्चयमोक्षमार्ग, अपना निर्विकल्प प्रभु आत्मा, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता की दशा हुई तो व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प, उस ज्ञान में निमित्त हुए, स्व-परप्रकाशक कार्य में निमित्त हुआ, कर्ता हुआ नहीं; उसी प्रकार ज्ञान का कार्य अपने से हुआ तो वह ज्ञानपर्याय करनेवाली—रचनेवाली और उसने राग को रचा, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया ? भारी बात, भाई! यह जैन सर्वज्ञ का विज्ञान का विज्ञान। विज्ञान में से कौन सा विज्ञान यथार्थ है, यह कहते हैं। तुझे यह बात अनन्त काल में कभी रुचि नहीं, सुहाई नहीं।

कहते हैं कि जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव... घट व्याप्य अर्थात् दशा है और मिट्टी दशावान है—व्यापक है। इसका सद्भाव होने से कर्ता—कर्मपना है। घट को और मिट्टी को। उसी प्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा, अपने ज्ञानपरिणाम—श्रद्धा-चारित्र परिणामरूप ज्ञान हुआ, वह परिणाम अर्थात् पर्याय, वह अपना कार्य—अपनी पर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा सम्बन्ध है। घट को और मिट्टी को सम्बन्ध है, वैसा आत्मा को निर्विकारी पर्याय के साथ सम्बन्ध है। निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय अपना व्याप्य, आत्मा उसका व्यापक। आत्मा विस्तार होनेवाला और विस्तार होकर पर्याय उसका व्याप्य—कार्य हुआ। समझ में आया?

**आत्मपरिणाम...** जैसे उन घटपरिणाम और मिट्टी में व्याप्यव्यापक का सद्भाव है, उसी प्रकार भगवान आत्मा के परिणाम। परिणाम शब्द से मोक्ष के मार्ग की निर्विकल्प दशा। यहाँ उसे आत्मपरिणाम कहते हैं। विकारी परिणाम, वह आत्मपरिणाम नहीं; वे जड़ के परिणाम हैं। आत्मपरिणाम और आत्मा। निर्विकारी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रपर्याय हुई, वह आत्मपरिणाम और आत्मा। आत्मा व्यापक विस्तार पानेवाला है और पर्याय व्याप्य है, इसे व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है। आत्मा रचनेवाला और अपनी निर्मल ज्ञानपर्याय—कार्य का रचनेवाला है, वह उसका कार्य है। क्या करे? लोगों ने ऐसा मान रखा है... सुने तो कहे, ऐ... निश्चय, ऐ... निश्चय। व्यवहार का लोप हो जाता है। अतः सुनने की उकताहट आती है। जैनधर्म क्या है, उसका नाश कर डाला। रामस्वरूपजी! अरे..! प्रभु! जैनधर्म अर्थात् क्या कोई सम्प्रदाय है?

वस्तु स्वरूप वीतराग विज्ञानघन आत्मा है, वस्तु वीतराग विज्ञानघन। निर्दोषता और आनन्द प्रगट करने की अभिलाषा है, तो इसमें तीन सिद्धान्त निर्णित हुए। निर्दोष और आनन्द की पर्याय प्रगट करने की अभिलाषा। उसकी वर्तमान पर्याय में दुःख... समझे? सदोषता है। अब जिसे आनन्द और ज्ञान की निर्दोष पर्याय प्रगट करनी है तो वर्तमान पर्याय में सदोषता है। निर्दोषता कहाँ से आयेगी? निर्दोषता का घर तो द्रव्यस्वभाव है। वस्तु स्वभाव निर्दोष और वीतराग आनन्द का घर है, ऐसी दृष्टि होने पर वीतरागी निर्दोष आनन्द की पर्याय व्याप्य हुई, आत्मा उसका व्यापक हुआ। सदोष पर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है। आत्मा तो नहीं परन्तु ज्ञानपरिणाम व्यापक और (सदोष) पर्याय उसकी व्याप्य, ऐसा भी है नहीं। समझ में आया?

**श्रोता :** परन्तु हमें करना क्या?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह क्या कहा जाता है ? यह किसकी लगायी है ? यह सिंधूडो किसका गाया जाता है ? एक व्यक्ति कहता था, सिंधूडो गा रहा और फिर दूसरा कहे, सिंधूडो का राग गा। परन्तु यह गाया गया सिंधूडो का राग। अपने को खबर नहीं होती कि यह सिंधूडो क्या होगा ? सिंधूडो का गा। देशी राग है न ? सिंधूडो राग आता है न। वह राग बोले तो वर्षा बरसे। सिंधूडो, सिंधूडो। यह सिंधूडो गाया गया और वर्षा आ गयी, तुझे भान कहाँ है ! यह सिंधूडो देशी होता है। आता है न ? नरसिंहमेहता के समय में आता है। मल्हार राग। एक सिंधूडो आता है। यह कर्ता-कार्य की किसकी बात चलती है ? क्या करना ? कि आत्मा कर्ता होकर अपनी दृष्टि स्वभाव पर रखी, वह निर्मल पर्याय का कार्य करना, यह करना और यह कर्तव्य है। समझ में आया ?

ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु प्रकाश का पुंज आत्मा, उसकी दृष्टि करके अन्तर में दृष्टि की। आत्मा प्रवर्तनेवाला व्यापक और निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र उसका व्याप्य-निश्चय से करनेयोग्य यह है। समझ में आया ? नियमसार में आता है न ? 'जं कज्जं तं णियमं' करनेयोग्य कर्तव्य यह है। दूसरा क्या कर सकता है ? राग करे, वह तो अज्ञानभाव से है। वह तो अनादि से परिभ्रमण चौरासी के अवतार में कर रहा है। बड़ा राजा हो, सेठिया हो, भिखारी हो। अज्ञानी सब भिखारी पामर हैं। समझ में आया ? राग के कण को अपनेरूप स्वीकार करनेवाला भिखारी पामर है। जिसे भिखारीपना नाश करना हो, उसे (ऐसा निश्चय करना कि) राग की पर्याय मेरी चीज में है ही नहीं। मैं तो राग का जाननेवाला, राग है तो (राग को) जाननेवाला—ऐसा नहीं और राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसा भी नहीं है। ऐसी अन्तर्दृष्टि करना, वही कार्य करनेयोग्य है। यह किसकी बात चलती है ?

किसी का कुछ करना, दया पालना, किसी को सहायता करना, किसी को पैसा देना हो तो उसमें सूझ पड़े। इसमें कहाँ सूझ पड़े ? कहीं नजर डालने से सूझ नहीं पड़ती। समझ में आया ? एक कहता था कि ऐसे बाहर देखे तो बाहर का दिखता है और आँख बन्द करें तो अन्धकार दिखता है, परन्तु प्रभु ! अन्धकार किस भूमि में दिखता है ? क्या अन्धकार अन्धेरे में दिखता है ? ज्ञान की सत्ता भूमि में यह अन्धकार है, ऐसा दिखता है। प्रकाश की सत्ता में अन्धकार दिखता है। अन्धकार की सत्ता में अन्धेरा नहीं दिखता। खबर नहीं, कभी विचार किया नहीं, इस पन्थ में चला नहीं। फिर कहे, हमें करना क्या ? तब यह क्या कहते हैं ?

तब शुद्धि का रास्ता पकड़ना हो, शुद्धि कहो, मोक्ष कहो, निर्दोष होने का (मार्ग कहो), द्रव्यस्वभाव अखण्डानन्द प्रभु प्रकाश का पुंज है, उसकी दृष्टि कर, तेरी पर्याय में निर्मलता

होगी। यह कार्य तेरा और उसका करनेवाला तू। बस, बाकी सब तो ज्ञान में निमित्तमात्र चीज है, कुछ सम्बन्धमात्र नहीं है; और यह राग आया तो राग कर्ता हुआ और ज्ञान का कार्य आत्मा में हुआ, ऐसा भी तीन काल में नहीं है। समझ में आया? जैसा राग होता है, वैसा उस प्रकार का ज्ञान हुआ न? तो राग का कुछ सामर्थ्य है? उसने कुछ तो किया न ज्ञान के सामर्थ्य की क्रिया (की या नहीं)?—बिल्कुल नहीं। अतः जिस प्रकार का राग, जिस प्रकार का क्रोध, जिस प्रकार का मान हो, उसी प्रकार का यहाँ ज्ञान होता है, परन्तु उस प्रकार का ज्ञान सम्यक् होता है या मिथ्याज्ञान है? उसी प्रकार का ज्ञान स्व-परप्रकाश की पर्याय प्रगट होना, वह अपना कार्य है, परन्तु वह राग का कार्य है या राग व्यापक है या व्याप्य है, ऐसा नहीं है।

और जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। उसी प्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य... देखो, अब। उसमें आया था। पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक... है, ऐसा आया था। इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है। यह सिद्धान्त यहाँ गुलौट खाकर लेते हैं।

आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... क्या कहते हैं? आत्मद्रव्य—वस्तु। वस्तु के ऊपर दृष्टि पड़ी कि ज्ञायकमूर्ति है। आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होकर—कर्ता होकर आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है... स्वतन्त्र क्यों लिया? उस समय में ऐसा व्यवहाररत्नत्रय का राग हुआ तो उसका ज्ञान होने में कुछ सामर्थ्यपना है या नहीं? अपनी ज्ञान की क्रिया में—कर्तृत्व में उसका कुछ सहायपना है या नहीं? व्यवहाररत्नत्रय का निमित्त यहाँ कुछ सहायक है या नहीं? नहीं। आत्मद्रव्य स्वतन्त्ररूप से... समझ में आया? आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... व्यवहार आया तो उसकी जरा मदद मिली तो आत्मा उसका ज्ञान करनेवाला हुआ, ऐसा है नहीं। टीका कितनी (स्पष्ट की है)। समझ में आया?

आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... उसमें पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से, ऐसा कहा था। आत्मपरिणाम का... अर्थात् निर्मल निर्विकारी परिणाम का अर्थात् व्यवहार पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है... व्यवहार जो विकल्प है, उसके ज्ञान का कर्ता है, परन्तु द्रव्य स्वतन्त्ररूप से ज्ञान का कर्ता है। व्यवहार है तो कार्य का कर्ता आत्मा है, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? आत्मद्रव्य स्वतन्त्ररूप से व्यवहार जो पुद्गल परिणाम के ज्ञान का, द्रव्य स्वतन्त्र होकर कर्ता होता है। बिल्कुल किसी का वासना या किसी की गन्ध उसमें नहीं है। समझ में आया?

आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... व्यापक अर्थात् कर्ता होने से आत्मपरिणाम... पुद्गल परिणाम जो व्यवहार के जो परिणाम थे, उनका अपने में ज्ञान करने में, उनका अपना ज्ञान करने में आत्मद्रव्य स्वतन्त्ररूप से ज्ञान का कर्ता होता है। ओहोहो! पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है... पुद्गल परिणाम राग है न! परन्तु आत्मद्रव्य स्वतन्त्ररूप से आत्मपरिणाम का कर्ता है। निमित्त पहले कहा था। इसलिए किसी को और निमित्त घुस जाए कि उसका सहायपना है। ऐसा नहीं है। समझ में आया? पुद्गल परिणाम के ज्ञान का, परन्तु उस ज्ञान का आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से। अपनी ज्ञान की पर्याय का आत्मा स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर व्यापकरूप से परिणमता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा ही वस्तु का सत्य स्वरूप है। सत्य है, वह सत्य परमेश्वर है। ऐसे सत्य परमेश्वर का आदर किये बिना, असत्य का आदर करनेवाले को सत्य परमेश्वर की शक्ति की व्यक्तता नहीं होती। समझ में आया?

और पुद्गलपरिणाम का ज्ञान... अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय विकल्प आदि उठे, राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना, उनका ज्ञान, उस व्यापक से स्वयं व्याप्य होने से... वह ज्ञान, उस व्यापक द्वारा अर्थात् स्वतन्त्र व्यापक होनेवाला आत्मा, उसमें स्वयं व्याप्य होने से, पर्याय स्वयं व्याप्य होने से कार्य है। भाषा गजब। कर्ता व्यापकरूप से हुआ, व्यवहार का ज्ञान करनेवाला स्वतन्त्ररूप से कार्य करनेवाला हुआ और वह ज्ञान स्वयं व्याप्य होने से, स्वयं व्याप्य होने से। स्वयं व्याप्य का अर्थ? यह रागादि हैं, तो उनका ज्ञान हुआ, इसलिए उनकी मदद से व्याप्य हुआ, ऐसा नहीं है। स्वयं व्याप्य होने से आत्मा का व्यवहाररत्नत्रय का ज्ञान, जो अपना स्वतन्त्ररूप से कार्य हुआ, वह व्यापक आत्मा और निर्विकारी परिणाम का ज्ञान, स्वयं आत्मा के व्यापक का व्याप्य हुआ, स्वयं व्याप्य हुआ। उसमें स्वतन्त्र कहा था, यहाँ स्वयं व्याप्य हुआ ऐसा कहा। आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... कारण दिया था। आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है... यह तो कर्ता कहा। पुद्गल परिणाम का ज्ञान, वह व्यापक से स्वयं व्याप्य होता होने से। निर्मल ज्ञान की पर्याय हुई, वह स्वयं व्यापक की व्याप्य हुई है—स्वयं व्यापक की व्याप्य हुई है। राग के कारण से व्याप्य हुई है, किसी निमित्त के कारण से हुई है, ऐसा नहीं है। सब स्पष्टीकरण हो गया?

वाणी, दिव्यध्वनि है तो यहाँ ज्ञान का कार्य होता है या नहीं? एक व्यक्ति कहता था, अरे! भगवान की दिव्यध्वनि से ज्ञान नहीं होता, (ऐसा कहनेवाले को) जीभ नहीं मिलेगी। बात भी सत्य है, हों! अशरीरी को फिर जीभ कहाँ है? अररर! ऐसा कहता था। भगवान की वाणी से ज्ञान नहीं होता? अरे! सुन तो सही, प्रभु! यह वाणी सुनने का विकल्प आया, उससे

ज्ञान नहीं होता। नहीं तो विकल्प कर्ता और ज्ञान की पर्याय व्याप्य—कार्य हो। अथवा कार्य तथा वह व्यापक और यह कर्म, ऐसा है नहीं। विकल्प हुआ व्यापक—कर्ता और ज्ञानपर्याय वह व्याप्य, ऐसा तीन काल में नहीं है। समझ में आया? वाणी तो कहीं बाहर रह गयी। स्वयं सिद्धता पर्याय की, द्रव्य-गुण की अकृत्रिम पड़ी है, ऐसे अकृत्रिम द्रव्य-गुण हैं, ऐसे अकृत्रिम का आश्रय लेकर जो पर्याय स्वयं व्याप्य हुई है। स्वतन्त्ररूप से आत्मा व्यापक हुआ—कर्ता हुआ तो ज्ञान स्वयं व्याप्य होकर कर्म हुआ—ज्ञान स्वयं व्याप्य होकर कर्म हुआ, कर्म अर्थात् कार्य हुआ। तेरा निर्मल कार्य स्वयं व्याप्य होकर होता है, दूसरा कोई (करनेवाला) नहीं है। आहाहा! इतनी स्पष्टता आने के बाद दूसरा चाहिए क्या? तो भी अभी कहते हैं कि ऐसा होता है और वैसा होता है। राग होता है, पुण्य होता है, कषाय की मन्दता होती है। यह श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में कुछ तो, किंचित् तो मदद करते हैं! क्या करें? दुःख का कारण सुख के कार्य में मदद करे?

**श्रोता :** मदद करे तो सदा...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सदा त्रिकाल रहे। त्रिकाल पराधीनता और दुःखरूप दशा रहे। समझ में आया? भारी गाथाएँ! अलौकिक बात!

**पुद्गलपरिणाम का ज्ञान उस व्यापक से स्वयं व्याप्य होने से कर्म है। और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणाम का ज्ञान करता है इसलिए)... देखो!** अभी एक बात रह गयी है। इस प्रकार ज्ञाता—जाननेवाला भगवान, अपने परिणाम पुद्गल परिणाम का ज्ञान करता है। व्यवहार का ज्ञान करता है न, ज्ञान करता है। स्वयं स्वतन्त्र व्यापक होकर। स्वतन्त्र कर्ता होकर और स्वयं पर्याय व्याप्य होकर। उसमें उस पुद्गल परिणाम का ज्ञान करता है... समझे? **(ज्ञाता पुद्गलपरिणाम का ज्ञान करता है इसलिए)** ऐसा भी नहीं है कि **पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है;**... क्योंकि ज्ञान में वह निमित्त हुआ न? उसका ज्ञान किया न? तो पुद्गल परिणाम व्याप्य है या नहीं?—नहीं, वह तो अपनी पर्याय ही व्याप्य है। निर्मल पर्याय व्याप्य है, विकारी पर्याय व्याप्य नहीं। तो यह क्या (कहते हैं)? उनका ज्ञान, उनका ज्ञान (ऐसा कहते हैं)। यह तो समझाते हैं। ज्ञान उनका कहाँ है?

‘पुद्गल परिणाम का ज्ञान उस व्यापक द्वारा स्वयं व्याप्य होने से (व्याप्यरूप होता होने से) कर्म है और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्गल परिणाम का ज्ञान करता है इसलिए) ऐसा भी नहीं... कि अपने परिणाम करता है और अपने परिणाम में वह व्यवहाररत्नत्रय पुद्गल निमित्त हुआ



तो व्यवहाररत्नत्रय अपना व्याप्य हुआ, अपना कार्य हुआ, अपनी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी... देखो ! क्योंकि पुद्गल अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह पुद्गल और शरीर, वाणी, कर्म सब। और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी... राग, वह तो व्यवहार ज्ञेय है और उसे जाननेवाला ज्ञायक, यह सम्बन्ध भी व्यवहारमात्र होने पर भी। कहा था न व्यवहारमात्र। व्यवहारमात्र में और जोर देते हैं। व्यवहारमात्र तो ऐसा है कि अपना ज्ञायकभाव आत्मा अपने परिणाम व्यापक होकर करता है और ज्ञान की पर्याय स्वयं हुई। वह ज्ञायक और रागादि उसका ज्ञेय, इतना व्यवहारमात्र होने पर भी, पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है... देखो ! यह व्यवहार विकल्प ज्ञान का निमित्त है। ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है, परन्तु ज्ञाता का कार्य राग नहीं है। समझ में आया ? समझ में आया या नहीं ? जैचन्दभाई ! इसमें बहुत सूक्ष्म है। दुकान जैसा नहीं है। दो व्यक्ति लेकर शक्कर देकर दुकान ली, ऐसा होगा यह ?

बापू ! यह चीज इसने कभी अन्तर स्वतःसिद्ध प्रभु, द्रव्य से स्वतःसिद्ध, शक्ति से स्वतःसिद्ध और निर्मल पर्याय से स्वतःसिद्ध; राग की सहायता नहीं, भगवान की वाणी की सहायता नहीं, अन्दर उत्पन्न हुए व्यवहाररत्नत्रय की सहायता नहीं और उसका ज्ञान किया, इसलिए व्यवहाररत्नत्रय आत्मा का व्याप्य हो जाए, ऐसा तीन काल में नहीं। उसका ज्ञान जो हुआ, वह आत्मा का व्याप्य अर्थात् कार्य है। ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। (इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।) यह ज्ञानदशा, जो श्रद्धा, चारित्र पर्याय द्रव्य के आश्रय से हुई, वही ज्ञाता का कार्य है। यह कर्ता-कर्म। शुद्ध पर्याय, वह व्याप्य है, कर्म है, कार्य है, दशा है, परिणाम है, आत्मजन्य है; वह व्यवहारजन्य नहीं है।

शिष्य ने प्रश्न किया था, उसका उत्तर दिया। प्रभु ! ज्ञानी को किस प्रकार पहिचानना ? ऐसी दृष्टि होकर अपनी ज्ञान की पर्याय में व्याप्य और व्यापक होता है और राग को जानने पर भी राग व्याप्य-व्यापक नहीं होता, ऐसा ज्ञानी का लक्षण है। उससे पहिचाना जाता है, दूसरा उसका कोई विपरीत लक्षण नहीं है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

२४

श्री समयसार, गाथा-३०८ से ३११, प्रवचन - ३८३  
दिनांक - ०३-०२-१९८०

समयसार, ३०८ गाथा। फिर से लेते हैं। लोग नये आये हैं। प्रथम तो जीव... आत्मा। क्रमबद्ध में जाननेवाले को पहले लिया है। ज्ञात होता है अजीव और जीव परन्तु जाननेवाले को पहले लिया है। सर्वविशुद्ध है न? प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... जीव में क्रमबद्ध जिस समय में जो परिणाम होनेवाले हैं, वे क्रमसर वे ही आनेवाले हैं, वे ही होनेवाले हैं—ऐसा उनका स्वभाव है। क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,... भले कहे कि अपने परिणाम से क्रमसर उपजे परन्तु वह परिणाम, वह जीव ही है। जीव के हैं, वह जीव ही है। अभी यह सिद्ध करना है। परिणाम और परिणामी भिन्न, यह अभी सिद्ध नहीं करना है।

क्रमबद्ध बहुत सूक्ष्म वस्तु है। प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। उसे जिनेन्द्र भी बदल नहीं सकते। अपनी जो पर्याय जिस समय में जो होती है, उसे आगे-पीछे जिनेन्द्र भी नहीं कर सकते। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही यह है। क्रमसर, नम्बरवार जिस पर्याय का नम्बर आवे, वही पर्याय वह आती है। नम्बरवार एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह ऐसे जिस समय जिसकी पर्याय आनेवाली है, वह नम्बरवार में आती है। उल्टी-सीधी पर्याय करने जाए तो नहीं होती, मान्यता इसकी फेरफार हो जाए। आहाहा! यह कहेंगे कि अज्ञान कोई गहन विषय है, कि ऐसी चीज़ में भी जो अन्दर कर्तापना मानता है, उसे है वह कोई अज्ञान का गहन विषय है। बाकी तो आत्मा उसका जो समय है, उस समय की पर्याय में उस प्रकार की पर्याय से उपजता हुआ जीव है। दूसरे की पर्याय से उपजता हुआ, वह तो है ही नहीं। अपनी पर्याय भी क्रमसर में नम्बरवार आवे, वह आनेवाली है। जिसका नम्बर, उस पर्याय में आने का, वही आनेवाली है। आहाहा! परन्तु ऐसी प्रतीति करनेवाले को ज्ञायकभाव सत्स्वरूप जो त्रिकाली सत् सत्ता है, उसके ऊपर इसकी दृष्टि यदि होवे तो वह क्रमसर परिणाम हों, उसका यह जाननेवाला होता है।

पर्याय का निर्णय पर्याय से नहीं होता। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती

है परन्तु उसका निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। उसका निर्णय, अनुभव ज्ञायक जो सत्ता त्रिकाली है, उसकी सत्ता के स्वीकार में दृष्टि जाने पर क्रमबद्ध का निर्णय उसे अकर्तारूप से आता है। अर्थात् कि वह पर्याय होती है, उसका भी कर्ता नहीं है। होती है, उसे क्या करना? होती है, उसे क्या करना? है; है, उसे क्या करना? आहाहा!

इसलिए पहले जीव क्रमसर, नम्बरवार, क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, ... उसे परिणाम उपजने में परद्रव्य की कोई अपेक्षा है ही नहीं। जीव के नम्बरवार परिणाम उपजने में दूसरे किसी द्रव्य की अपेक्षा है ही नहीं, पहले यह सिद्ध करते हैं। पश्चात सिद्ध तो दूसरा करना है कि अजीव का कर्म उसका नहीं है। बात तो यह सिद्ध करनी है परन्तु पहले उसके ही परिणाम का स्वयं उस समय के परिणाम उपजे, वे जीव हैं, वे जीव हैं। वे-वे परिणाम उस-उस समय में उपजते हैं, उनकी दृष्टि ज्ञायक पर है, इसलिए वह जीव है। उल्टा-सीधा करने जाए तो वह जीव नहीं है तथा पर्याय का क्रमबद्ध का (निर्णय) पर्याय के लक्ष्य से करने जाए तो भी वह जीव नहीं है। आहाहा! त्रिकाली जीव जो स्वभाव है, उसकी दृष्टि करने से जो नम्बरवार पर्याय आती है, उसे वह जाननेवाला है। ऐसी कठिन बातें हैं।

**अजीव नहीं;**... वे परिणाम जो आवें, वह अजीव नहीं है। भले अशुद्ध हो परन्तु उनका जाननेवाले के रूप से जानने की पर्याय भी साथ में खड़ी होती है, उसे अजीव की अपेक्षा नहीं है तथा वास्तव में तो अशुद्ध परिणाम जो उपजते हैं और उनका जो जीव ज्ञायकरूप से जो निर्णय करके ज्ञान होता है, उस ज्ञान में भी उस अशुद्ध परिणाम की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

**इसी प्रकार अजीव भी...** जैसे जीव कहा, वैसे अजीव भी। शरीर, कर्म, परमाणु, बाहर की सब पुद्गल की चीजों, वह अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... वह भी नम्बरवार परिणाम आवें, उनसे वह उपजता है। इसलिए वह अजीव है। उस परिणाम को जीव की कोई अपेक्षा नहीं है। कर्मबन्धन जो होता है, वह यहाँ राग है, इसलिए कर्मबन्धन की पर्याय होती है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। कर्मबन्धन के समय भी उस परमाणु की पर्याय अजीव की कर्मरूप से होने के योग्य से हुई है, इसलिए वह अजीव है। जीव के राग की अपेक्षा हुई, इसलिए यहाँ कर्मबन्धन हुआ, ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानावरणीय आदि छह कारण से बँधता है। आता है

या नहीं ? ज्ञान का निहव करे, ढाँके, ज्ञान विपरीत करे, ऐसे भाव से ज्ञानावरणीय बँधता है— ऐसा आता है। यहाँ कहते हैं कि वह ज्ञानावरणीय जो बँधता है, वह अजीव अपने उस समय के उन परिणाम से उपजता हुआ कर्म होता है। साथ में राग है या मिथ्यात्व है, इसलिए यह कर्म की पर्याय ऐसी होती है, ऐसा नहीं है। वे परमाणु के उस समय के परिणाम नम्बर से आये हैं। जैसे पहले नम्बर का... लड़कों को कहे, पहला नम्बर ? कि हाँ। दूसरा, तीसरा, चौथा नम्बर से। आहाहा! इसी प्रकार टिकिट लेने जाए, वहाँ भी नम्बर से खड़े होते हैं न ऐसे ? उसे क्रमसर मिलता है। यहाँ तो अभी तो दूध लेने जाते हैं तो उसे लाईन में क्रमसर पहला, दूसरा (होवे) उसे वह मिले, आड़ा-टेड़ा होकर तीसरे नम्बर का पहले नम्बर में घुस जाए तो सिर पर मार पड़ती है।

उसी प्रकार इस जीव में भी क्रमबद्ध अपने परिणाम उसी समय में, उसी प्रकार, उसी जाति के परिणाम जो हुए, उसी जाति के होनेवाले, वे हुए हैं। इसलिए उन परिणामों से अजीव उपजता हुआ वह अजीव है। क्रमबद्ध अपने परिणामों से उपजता हुआ वह अजीव ही है। आहाहा! कर्मबन्धन होता है, उसे जीव के राग की अपेक्षा नहीं है, कहते हैं। वह तो उसका पर्याय का काल है। परमाणुओं का कर्मरूप से परिणामने की पर्याय का नम्बर से परमाणु में है, इसलिए वे-वे ज्ञानावरणीय आदि बँधते हैं। ऐसा कहे, छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधता है, छह प्रकार से दर्शनावरणीय बँधता है, ग्यारह प्रकार से वेदनीय बँधता है। आता है न बोल ? आहाहा! वह तो निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराया है। बाकी तो उस समय में अजीव के परिणाम उसी जाति के, उसी प्रकार के, उसी काल में, वही पर्याय होनेवाली थी। आहाहा!

यह प्रश्न हुआ था। जीव राग न करे, तो वहाँ कर्मबन्धन कहाँ बँधता है ? इतना अन्तर पड़ता है या नहीं ? यह प्रश्न हुआ था। राजकोट (संवत्) २००६ के वर्ष। खबर है ? खबर नहीं होगी। मूलशंकर ने प्रश्न किया था। २००६ के वर्ष, मन्दिर के समय। ऐसा कि आत्मा राग न करे तो वहाँ बँधता नहीं। इतनी अपेक्षा है या नहीं ? परन्तु यह अपेक्षा वहाँ है ही नहीं। न करे, करने का प्रश्न ही नहीं। उस समय में परमाणु की पर्याय कर्मरूप से होनेवाली है वह हुई, होनेवाली वह होगी ही, उसे राग की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! जब कर्मरूप पर्याय होती है, पश्चात् उसका प्रश्न क्या ? कि राग न करे तो नहीं होती, यह प्रश्न ही नहीं है, यह बात ही अत्यन्त असत्य और झूठी है। आहाहा! उस जिस समय में कर्म की पर्याय जिस प्रकार से होनेवाली है, वह होती है, इसलिए उसे अजीव कहा जाता है। **अजीव भी...** 'भी' अर्थात् पहले जीव कहा है, इसलिए **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता**

हुआ अजीव ही है, जीव नहीं;... उसे जीव की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का... सोना जो है, कुण्डल और अँगूठी आदि से उपजता है। वह आदि परिणामों के साथ (सुवर्ण) तादात्म्य है... अभी उन परिणाम को उस द्रव्य से तादात्म्य सिद्ध करना है। परिणामी परिणामरूप से आता नहीं, होता नहीं और परिणाम परिणाम से होता है, यह बात अभी सिद्ध नहीं करना है। अभी तो वे परिणाम तादात्म्य हैं। क्योंकि सुवर्ण के जो परिणाम कंकण आदि होते हैं, वे परिणाम स्वर्ण से तादात्म्य हैं। तादात्म्य अर्थात् तदस्वरूप, तदस्वरूप। तादात्म्य तदस्वरूप ही वह तो है। आहाहा! वह कंकण आदि की पर्याय सोना स्वरूप ही है, सोना उस रूप तादात्म्य है। आहाहा! वह कंकण आदि हुए, उसमें सोनी का अधिकार नहीं है। सोनी है; इसलिए कंकण हुआ या अन्तर नीचे... क्या कहा? लोहे की ऐरण, ऐरण है; इसलिए वहाँ सोने का गहना हुआ, ऐसी उसे अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! उस समय में उस सोने के परिणाम का नम्बर से कंकण होने का नम्बर था, इसलिए हुआ है। इसलिए वह परिणाम सोने के साथ तादात्म्य है। पर के साथ नहीं, ऐसा सिद्ध करने को तादात्म्य है, ऐसा कहा। नहीं तो तादात्म्य नहीं है। परिणाम और परिणामी भी भिन्न है। परन्तु पर से हुए नहीं और पर की अपेक्षा रखकर वे परिणाम हुए नहीं। आहाहा! सोनी है, हथौड़ा है, ऐरण है; इसलिए गहना हुआ—ऐसा नहीं है। उस काल में वह परिणाम सोने के परिणाम होने का वही परिणाम होने का काल (था); इसलिए वे परिणाम उस सोने के साथ तादात्म्य है, तद्रूप ही है। आहाहा! सोने का कंकण सोनेरूप ही है।

उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का... इसकी भाँति सर्व द्रव्यों को। जीव या अजीव, परमाणु या धर्मास्ति, कर्म का बन्धन या जीव के परिणाम का। सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। प्रत्येक द्रव्य को उसकी पर्याय के साथ वह द्रव्य नम्बरवार आता है और उसके साथ तादात्म्य है। आहाहा! पर के साथ कुछ उसकी अपेक्षा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! पानी शीतल है, अग्नि आकर गर्म होता है। वह अग्नि उसे स्पर्श नहीं करती। अग्नि से गर्म हुआ नहीं, अग्नि के कारण वह पानी गर्म हुआ नहीं। उस पानी के परिणाम उष्णरूप से होनेवाले (थे, इसलिए हुए हैं)। पानी के साथ तादात्म्य है, उस अग्नि से तादात्म्य है, नहीं। आहाहा! सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... अब क्या कहते हैं ? कि उपजने का कार्य तो करता है तो साथ में दूसरे का भी उपजने का कार्य करे, उसमें क्या बाधा है ? कि नहीं। अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... परिणामन से, परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ... आहाहा! कर्म के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,... अजीव के साथ कार्यकारणभाव (अर्थात्) जीव कारण और अजीव की पर्याय कार्य। आहाहा! सोनी ने अँगूठी घड़ी या कुण्डल बनाया, यह बात सिद्ध नहीं होती। आहाहा! और सत् है, उसे हेतु नहीं है, तथापि यहाँ द्रव्य को तादात्म्य के साथ सम्बन्ध कहा। वह तो तादात्म्य के साथ सम्बन्ध कहा। परन्तु द्रव्य से उत्पन्न होता है। अपने परिणाम उपजते हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध किया, इतना तो यहाँ सिद्ध किया है। आहाहा! अत्यन्त वीतरागभाव है। आहाहा! जगत के सब पदार्थों से उदास होकर स्वपरिणाम का कर्ता रहे, यह वीतरागपने का तात्पर्य है। आहाहा!

कोई भी पर को सुधार सके या बिगाड़ सके या व्यवस्थापक व्यवस्था कर सके, ऐसा होता नहीं। होशियार व्यवस्थापक होवे तो उसकी व्यवस्था बराबर हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है। शिक्षण शिविर। सिखावे शिष्य को। गुरु पढ़ानेवाला दूसरे को सिखावे। कहते हैं, कि इससे उसे पर्याय वहाँ हुई है, ऐसा नहीं है। अरे..! अरे..! और अभी यहाँ सुनते हुए भी शब्द कान में पड़ते हैं, इसलिए उसे उस प्रकार का ज्ञान उपजता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात है। घर में थे, तब यह परिणाम नहीं थे, यहाँ परिणाम होते हैं। परिणाम आने का अन्तर नहीं पड़ा ? दुकान में बैठा हो, वे परिणाम अलग और मन्दिर में जाए, वहाँ परिणाम अलग होते हैं। इतना कोई पर का असर है या नहीं ? आहाहा!

**श्रोता :** आप इनकार करते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा है ही नहीं, वस्तु के स्वरूप में ही यह नहीं है। जहाँ-जहाँ जो-जो द्रव्य हों, वहाँ-वहाँ उसके परिणाम उससे उपजे हुए, वे मन्दिर से उपजे नहीं। भगवान के दर्शन हुए, इसलिए शुभभाव हुआ, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! उन परिणाम को उत्पन्न होने का काल ही है। तब वह सामने चीज़ है, उसे निमित्त कहा। निमित्त अर्थात् कि दूसरी चीज़ है, इतना ज्ञान करने के लिये (कहा)। उससे होता है, भगवान के दर्शन से शुभभाव होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। (इसलिए) लोग तो फिर कहे ही न ? सोनगढ़ का एकान्त है। वह तो शिक्षण शिविर (में) सीखो, ऐसा करो, यह करो, दुनिया को मदद करो, एक दूसरे मिलकर रहो, सुगठित रहो, एक-दूसरे को सहायता हो। यहाँ कहते हैं

कि सहायक-फहायक कोई नहीं हो सकता। आहाहा! एक-दूसरे के साथ संगठन नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न है। आहाहा!

यह कहते हैं, इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... अर्थात् कार्य तो करता ही है, कहते हैं। जीव अपने परिणाम से उपजता तो है। उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,... भले अपना उपजने का कार्य करे परन्तु उसे पर के साथ कार्यकारण का सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ... सर्व द्रव्यों को, सर्व पदार्थ, छह द्रव्यों को, अनन्त को। अनन्त-अनन्तरूप से तब रह सकते हैं कि अपनी-अपनी पर्याय में तादात्म्य हों तो भी वे रह सकते हैं; नहीं तो अनन्तपना नहीं रहता। आहाहा! अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु वे कब रह सकते हैं? कि जिसे पर की अपेक्षा बिना अपने परिणाम अपने से होते हैं और अपने से टिकते हैं, तब वह अनन्तपना अनन्तरूप से रह सकता है। एक द्रव्य भी दूसरे द्रव्य को कुछ करे तो वह दूसरे को करे, दूसरा तीसरे को करे, ऐसा करके अनन्त द्रव्य सब अपने भिन्न अस्तित्व को गँवा बैठेंगे। आहाहा! बहुत कठिन बात।

क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य... अर्थात्? दूसरे द्रव्य के परिणाम उत्पन्न होने के योग्य और दूसरे द्रव्य उसे उत्पाद करनेवाले, ऐसा है नहीं। उत्पाद्य अर्थात् होने के योग्य, उत्पादक (अर्थात्) उसे करनेवाला, ऐसे भाव का अभाव है। आहाहा! उत्पाद्य और उत्पादकभाव का अभाव है। आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में लिखा है कि कोई भी एक भाव यदि पूरा समझे तो सब भाव बराबर समझे, जयसेनाचार्य की टीका में है। कोई भी एक बोल बराबर समझे—जैसा है, वैसा पर्याय समझे; जैसा है, वैसा द्रव्य समझे; जैसा है, वैसा गुण समझे, एक भाव बराबर समझे तो उसे सब भाव समझने में सरीखा आ जाए। ऐसा जयसेनाचार्य की टीका में है। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य... अर्थात् उत्पन्न होने की योग्यता और उत्पादक करनेवाला। कार्य और कारण (उसका) अभाव है। उत्पाद्य, वह कार्य और उत्पादक, वह कारण। उसका... है? अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर,... उत्पाद्य अर्थात् कार्य। उत्पादक अर्थात् कारण। उत्पन्न करनेवाला कारण, उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न हुआ कार्य। उत्पन्न हुआ कार्य और उत्पादक करनेवाला। ऐसा कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। उत्पाद्य शब्द से कार्य और उत्पादक शब्द से कारण। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है;... एक जीव कार्य और दूसरा जीव उसका कारण, इसका अभाव है। अजीव कार्य और जीव उसका कारण, इसका अभाव है। अजीव कारण और जीव कार्य, इसका अभाव है। आहाहा! (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, ... उत्पाद्य अर्थात् कार्य, उत्पादक अर्थात् कारण। उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के... सिद्ध तो यह करना है। जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता;... अजीव को जीव का कार्य, ऐसा सिद्ध नहीं होता। अजीव का कार्य जीव का कार्य है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। अजीव को जीव का कर्मपना, कर्मपना अर्थात् काय, अजीव को जीव का कार्यपना, अजीव को जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! इतने सब अजीव हैं, इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है। ऐसे देखनेवाला एक और दिखते हैं अनन्त पदार्थ, तो वह अजीव का कार्य जीव का कारण, ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! है?

**अजीव के जीव का कर्मत्व...** जीव को जीव का कार्यपना। आहाहा! अजीव का कार्य जीव का है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! पानी गर्म होता है, ठण्डा मिटकर कर्म होता है, वह अग्नि से गर्म नहीं हुआ, अग्नि ने पानी को स्पर्श नहीं किया, पानी को अग्नि ने छुआ ही नहीं। पानी का कार्य और अग्नि कारण, पानी गर्म (हुआ) वह कार्य, अग्नि कारण—ऐसा सिद्ध नहीं होता। अथवा कार्य उष्णता और जीव आकर अग्नि का संयोग कराकर गर्म हुआ, ऐसा जीव का, अजीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। जीव को अजीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। आहाहा! पूरे दिन यह सब किया करते हैं न?

**श्रोता :** वकील और डॉक्टर तो बहुत करते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वकील और डॉक्टर करे, अभिमान। इंजेक्शन लगाते हैं, यह करते हैं और अमुक करते हैं। वकील दलील करते हैं। आहाहा!

अजीव का किसी भी समय का कार्य अजीव के समय में होता है। उसमें जीव का कार्यपना—कर्मपना बिल्कुल नहीं है। आहाहा! सिद्ध तो ऐसा किया है, देखा? **अजीव के जीव का कर्मत्व...** अजीव का कार्य जीव करे, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! यह कोट पहनते हैं और टोपी ओढ़ते हैं, वह क्रिया अजीव का कार्य है, उसे जीव नहीं करता। अजीव का कर्म, जीव का कार्य है—ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! योगफल में वापस बात यह ली है। जीव का कार्य अजीव करे, यह बात नहीं है। परन्तु अजीव का कार्य जीव करे, यह बात



सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जीव होशियार मनुष्य बहुत गिना जाता है न? और सब जो व्यवस्थित काम करना हो तो बराबर करे। आहाहा!

सुई में ऐसे बराबर ध्यान रखकर डोरा पिरोना हो, डोरा पतला बारीक करके फिर खेंचे। कहते हैं कि (उसकी) सत्ता भिन्न है, ज्ञायक सत्ता भिन्न है। जड़ के कार्य बिना का कार्य है, जड़ का कार्य जीव का नहीं है। जीव स्वतन्त्र भिन्न सत्ता है, ऐसे अहम्पने की सत्ता की श्रद्धा उसे नहीं होती। आहाहा! क्षण में और पल में अजीव बदलता जाए, वस्त्र बदले, आँख बदले, शरीर बदले, उस बदलने में भी मेरा ध्यान नहीं रहा, इसलिए बदला; खाने में ध्यान नहीं रहा, इसलिए ऐसा हुआ। क्षण और पल में पर के कार्य के कारण का जीव में अभाव है। अजीव के कार्य में जीव के कार्य का अभाव है। शब्द देखा? **अजीव के जीव का कर्मत्व...** अजीव का कार्य वह जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। अजीव का कार्य वह जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। इस शब्द का यह अर्थ है। समझ में आया? आहाहा!

एक ही सिद्धान्त गजब करते हैं न! पूरी दुनिया को विभाजित कर डाला। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय को करे और वह पर्याय तादात्म्य द्रव्य के साथ भले हो। बस! बाकी पर के साथ उसका कुछ (सम्बन्ध नहीं है)। शब्द तो यहाँ अजीव का कार्य जीव करे नहीं, ऐसा कहा है। परन्तु दूसरे जीव का कार्य भी दूसरा जीव करे, ऐसा भी नहीं है। यह ऐसे अधिक लिया। क्योंकि अजीव बहुत अधिक हैं। जीव से अनन्तगुणे अजीव हैं। आहाहा! और अनन्तगुणे अजीव के कार्य समय-समय में भिन्न-भिन्न होते देखना मेरी व्यवस्था है, इसलिए यह भिन्न-भिन्न होते हैं, मेरा लक्ष्य बराबर वहाँ है, इसलिए वे व्यवस्थित जड़ के कार्य (होते) हैं, ऐसा माननेवाले को यहाँ झूठा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? आहाहा!

**अजीव के जीव का कर्मत्व...** जीव का कर्मपना अजीव के, ऐसा नहीं लिया। परन्तु अजीव का कार्य जीव का सिद्ध नहीं होता। आहाहा! है या नहीं अन्दर? देखो न! आहाहा! अब यहाँ कहे कि पर की दया पालो। जीव पर की दया पाल नहीं सकता। जीव को दया के भाव आवें, वह भी राग और जीव की स्वयं की हिंसा है। आहाहा! पर की (दया) कर सकता तो नहीं परन्तु पर जीव की दया का भाव आवे तो कहते हैं कि वह भी काम राग है। परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध नहीं करना किन्तु उसकी गौणता में यह सब आ जाता है। अजीव का कर्म जीव का नहीं, इतना यहाँ सिद्ध करना है क्योंकि अधिक अजीव हैं। सब ऐसे अनन्तगुणे दिखने में आते हैं और जहाँ हो, वहाँ उसे सवेरे उठे, मुँह साफ करे। क्या आता है वह? ब्रश। कहते हैं कि वह कार्य जीव का नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं।

**श्रोता :** जीव का नहीं परन्तु ब्रश का है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ब्रश का भी नहीं। यहाँ तो अजीव का कार्य जीव (का) नहीं, इतना सिद्ध करना है, परन्तु उसमें सब भाग आ जाते हैं। आहाहा! कंघा उन बालों को खेंचता नहीं, बाल को छूता भी नहीं और बाल पृथक् पड़ते हैं। आहाहा! अब पूरे दिन इस धन्धे में तो 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' यह गाड़ी चलती हो और नीचे ठूठ से, पीछे कुत्ता नीचे खड़ा हो तो उसे वह ठूठ स्पर्श करता हो (तो मानता है कि) उसके कारण गाड़ी चलती है। इसी प्रकार यह दुकान पर बैठा। नौकर व्यवस्थित काम नहीं कर सकता, ऐसा मैं बराबर व्यवस्थित काम कर सकता हूँ। ग्राहक को सम्हाल सकता हूँ, ले-दे सकता हूँ। आहाहा! ऐसे अजीव के काम को, अजीव की पर्याय को जीव कारण होकर करे, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! यह सब कारखाने चलाते हैं। ऐसे चांप दबाये, वहाँ चले, चांप ऐसे करे वहाँ बन्द हो जाए, लो! आहाहा!

यह बात सिद्ध करके सिद्ध इतना करना है। जीव का कार्य जीव करे परन्तु जीव अजीव का न करे, यह सिद्ध करना है। ऐसे अजीव का अजीव कर्ता और जीव का कर्म कर्म, ऐसा नहीं है। परन्तु जीव कर्ता और अजीव का कर्म, वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। आहाहा! क्योंकि अधिक तो पूरा चलता ही यह है न, इसलिए (ऐसा कहा है)। पूरे दिन हाथ-पैर हिले, ऐसे हिलाना, ऐसे हिलावे। खाने के समय भी रोटी को अंगुलियाँ ऐसे-ऐसे करे, टुकड़े करे, टुकड़े करे, वह अजीव का कार्य, जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। आहाहा! अँगुली को जैसे मोड़ना हो तो मुड़े, सब्जी को स्पर्श करे। क्या कहलाता है वह? चटनी। चटनी को ले, तब ऐसे ले; सब्जी को ले, तब ऐसे ले; रोटी लेते हुए ऐसे टुकड़े करे, रोटी के टुकड़े ऐसे करे, उसे तोड़े। वह अजीव की पर्याय का कर्म अर्थात् कार्य उस-उस समय में वह पर्याय उस अजीव में होती, उसका कर्म जीव को सिद्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। एकान्त है, ऐसा करके निकाल डालता है। लोग एकान्त है, अनेकान्त चाहिए। कथंचित निश्चय से कर नहीं सकता, व्यवहार से कर सकता है।

**श्रोता :** व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कहा जाता है, वह तो बोला जाता है। उसमें क्या है? बोले, वह कौन बोलता है? बोलता है दूसरा। आत्मा कहाँ बोलता है? आहाहा! वीतराग मार्ग इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सत् है ही नहीं। परमात्मा त्रिलोकनाथ... आहाहा! मुनि को भी यह दरकार नहीं है। मुनि तो भगवान करके बुलाकर (कहते हैं कि) प्रभु! तेरा कार्य अजीव का नहीं है, हों!

आहाहा! भगवान! अजीव अनन्त यह जो दिखते हैं, परमाणु, होंठ, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, दाल, भात, सब्जी, वस्त्र, कपड़े, गहने, मकान... आहाहा! उसके उस-उस समय का वह कार्य जीव का कर्म अर्थात् कार्य; जीव का नहीं है। आहाहा!

**श्रोता :** जीव अपने में अपनी पर्याय चाहे जैसी कर सकता है, पर में नहीं कर सकता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** चाहे जैसी नहीं। वह पर्याय आती है, उसे ही कर सकता है। चाहे जैसी नहीं। जिस समय की वह पर्याय आती है, उसी रूप परिणमता है।

**श्रोता :** उसके ऊपर जोर क्यों नहीं देते ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह आ गया अन्दर। सर्व द्रव्य आया न? सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। अपने-अपने परिणाम के साथ (तादात्म्य है), पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह पहले सामान्य आ गया। और यह अब अजीव का (कार्य) बहुत है, पूरे दिन अजीव का खाना, पीना, बोलना, चलना, पुस्तक लिखना, गहने, लेना-देना, ग्राहक, माल आया, माल दिया और माल रखा और इतना रखा तथा इतना दिया और इतना... ऐई! शान्तिभाई! इतने जवाहरात बिके और इतने काम करनेवाले पच्चीस व्यक्ति हैं और उनसे इतने गहने साफ हुए और इतने पैसे गये तथा इतने पैदा हुए। आहाहा! बहुत कठिन काम।

यहाँ यह शब्द लेना है। अजीव के जीव का कर्मत्व... आहाहा! समझ में आया? परमाणु से लेकर स्कन्ध। रोटी, दाल, भात, सब्जी, हाथ, दाढ़, जीभ किसी भी जड़ का कार्य जीव का सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अजीव में उस-उस समय में वह पर्याय उसमें उत्पन्न होती है। आहाहा! इसलिए अजीव को जीव का कार्यपना (सिद्ध नहीं होता)। वजन यहाँ दिया है। यह सब कहा सब। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का करता नहीं, ऐसी बात तो सब आयी, परन्तु अधिक वजन यहाँ दिया है। क्योंकि यह बाहर में सर्वत्र अजीव की चीज़ में क्षण-क्षण में इसे अभिमान होता है। आहाहा! लिखने में, बोलने में, खाने में, पीने में, बाँटने में, माल लाने में। ऐई! कान्तिभाई! जंगल में से लकड़ियाँ लाने में। आहाहा! इसका यह किया और इसका यह किया और इसका यह किया। आहाहा! यह तो स्थिर हो गये की बातें हैं, बापू!

तू तेरे परिणाम में रहे। उस परिणाम के साथ तादात्म्य तुझे है। दूसरे के परिणाम के साथ तादात्म्य नहीं। इसलिए उस परिणाम का कार्य तेरा नहीं है। वह अजीव का कार्य जीव का नहीं है। आहाहा! योगफल यहाँ लिया है। पहले सर्व द्रव्यों का लेकर अन्त में अजीव बहुत है (और) पूरे दिन इसकी नजरें वहाँ ही जाती है। आहाहा! श्वास ले सकता हूँ, श्वास छोड़

सकता हूँ, श्वास रोक सकता हूँ। आहाहा! ऐसे अजीव के कार्य को जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! अभी पाँच मिनट की देर है न? पौने नौ में पाँच... आहाहा!

और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... आहाहा! टीका तो टीका है। कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... पर का कार्य जीव की अपेक्षा बिना, इसी तरह जीव का कार्य पर की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से—अपेक्षा ही नहीं, कि यह है, इसलिए यह हुआ—ऐसी अपेक्षा ही नहीं है। आहाहा! यह लकड़ी अपने आप क्यों ऊँची नहीं होती? कहते हैं, अपने आप ऊँची होती है। इस ऊँची का कर्म जीव का कार्य नहीं है। आहाहा! उस समय का अजीव का कर्म जीव का नहीं है। जीव ने उस लकड़ी को ऊँचा किया नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

**श्रोता :** जीव को भावशक्तिरहित सिद्ध किया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** भावशक्तिवाला सिद्ध किया। अनन्त भावशक्ति है। पर का कार्य नहीं और उसका ज्ञाता-दृष्टा ( रहे ), ऐसी अनन्त शक्ति है। अनन्त-अनन्त आत्मा से विरुद्ध अनन्त अजीव, वे अनन्त-अनन्तगुणे अजीव के—कर्म के—कार्य को नहीं करता उस काल में, उस काल में उसे जानता हुआ, देखता हुआ अनन्त सामर्थ्यवाला भगवान है। जानने-देखनेवाला अनन्त सामर्थ्यवाला है। पर के काम करने के सामर्थ्यवाला नहीं है। पर के कार्य के लिये पंगु है। परन्तु पर और स्व को जानने के लिये... आहाहा! अनन्त पुरुषार्थ है, अनन्त पुरुषार्थी है।

यहाँ योगफल तो यह लिया न? (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... जड़ का कार्य जीव की अपेक्षा बिना होता है। यह हाथ हिलता है, वह आत्मा की अपेक्षा बिना हाथ हिलता है। आहाहा! 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया के प्रमाण।' यहाँ कहते हैं कि पर की दया का कार्य जीव का है ही नहीं। वह परजीव का कार्य इसका है ही नहीं। आहाहा! इसका शरीर जो निभा और टिका, तूने कुछ मदद की इसलिए टिका है—ऐसा है ही नहीं। आहाहा! एक-दूसरे के सहयोग से रह सके तो शान्ति रहे, एक-दूसरे को सहायक हो तो शान्ति रहे। यह यहाँ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शान्ति तो स्वयं से स्वयं में रहती है। पर का कार्य मेरा नहीं है। आहाहा! मेरा तो जानने-देखने का कार्य है। वह जानने-देखने के परिणाम के साथ तादात्म्य हूँ। उन जानने-देखने के कार्य का कर्ता हूँ, इतना यहाँ सिद्ध करना है। परन्तु पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। विशेष कहेंगे..... ( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )

२५

श्री बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-२३६-२३७, प्रवचन - ९२  
दिनांक - १२-०९-१९७८

२३६, है न?

**मलिनता टिकती नहीं...** बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आत्मा में जो विकृत पर्याय, शुभाशुभभाव होते हैं, वह मलिन है, वे टिकते नहीं, हमेशा नहीं रहते। आहा..हा..! शरीर-वाणी-मन की तो क्या बात करना, वे तो परवस्तु हैं, परन्तु अन्दर में भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उसकी वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में परलक्ष्यी, विकृतभाव, शुभ-अशुभभाव हों, वह मलिन है। आहा..हा..! और वह मलिनता हमेशा नहीं टिकती। है ?

**मलिनता टिकती नहीं...** एक बात। आहा..हा..! अन्दर भगवान आत्मा तो नित्य, निर्मलानन्द ध्रुव टिक रहा है। अरे रे! ऐसी बातें अब। धर्म को कहाँ लोगों ने (मान लिया है)। निर्मल, चैतन्यद्रव्यस्वरूप वस्तु जो है, वह तो निर्मल और हमेशा कायम ध्रुवरूप से टिक रहा है। आहा..हा..! और जो मलिनता है, वह टिकती नहीं; क्षण भर रहकर नाश हो जाती है। आहा..हा..!

**और मलिनता रुचती नहीं...** यह किसकी बात है ? जिसे अन्दर में ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर की झन्खना हुई है। मैं चैतन्यभगवान सच्चिदानन्द निर्मलानन्द हूँ, ऐसी अव्यक्तरूप से भी जिसकी जिज्ञासा हुई है, उसे मलिनता रुचती नहीं। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। पुस्तकें पढ़-पढ़कर पुस्तक के पत्र तो बहुत आते हैं। लोग ऐसे प्रसन्न होते हैं... ऐसे प्रसन्न होते हैं.. यह पुस्तक ऐसी!

**मुमुक्षु :** दूसरी आवृत्ति में.....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दूसरी आवृत्ति परन्तु कहाँ से दूसरी आवृत्ति ? यह वस्तु है। अब दूसरी बार कोई... वह की वही दूसरी आवृत्ति हो परन्तु कहीं... ये तो वचन निकले वे निकले। इसमें सब पूरा आ गया है। आहा..हा..!

तीन चीज़ है। एक परद्रव्य—शरीर, कर्म, लक्ष्मी आदि परद्रव्य। वह तो अपनी पर्याय

में भी नहीं। पर्याय अर्थात् अवस्था-हालत; और हालत में पुण्य तथा पाप के मलिन भाव होते हैं, परन्तु टिकते नहीं। एक समय रहते हैं। और जिसे ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर की जिज्ञासा हुई है... आहा..हा..! उसे मलिनभाव रुचते नहीं। आहा..हा..! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है? कठिन बात है।

**मुमुक्षु :** पुण्य तो अधर्मी की अपेक्षा धर्मी को अधिक होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वृत्ति का प्रश्न नहीं। उसकी रुचि नहीं। समझ में आया? शुद्ध उपयोग होता है, उसमें पुण्य का अनुभाग बढ़ता है, परन्तु रुचि नहीं। आहा..हा..! कठिन बातें, भाई! परम सत्य चीज़ कोई ऐसी है। आहा..हा..! आज एक जगह से पत्र आया है। अरे! हम आत्मधर्म पढ़कर, चैतन्य के नूर का पूर पढ़कर तो हमें अन्दर कुछ हो गया। अन्दर चैतन्य के नूर के तेज का पूर। पूर समझे? जैसे पानी का प्रवाह बहता है, वैसे यह ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. चैतन्य के तेज के नूर का पूर... आहा..हा..! वह तो निर्मल और टिकती चीज़ है। समझ में आया? गज़ब मार्ग बापू! सूक्ष्म बात बहुत। अभी तो बाहर का ऐसा हो गया है। अरे..! भाई!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आहा..हा..! अब लोगों को रुचता है, सुहाता है। भाई! मार्ग तो यह है। भले महँगा पड़े, परन्तु बापू! इसे करने से ही तेरा छुटकारा है, भाई! आहा..हा..! और यह चीज़ है न? ध्रुव.. ध्रुव.. भगवान, यह टिकती चीज़ है, निर्मल है। पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव टिकते नहीं और रुचते नहीं। आहा..हा..! किसे? जिसे अन्दर में जाना है उसे। समझ में आया? आहा..हा..! ऐसी बातें अब।

मूल चीज़ ही यह है। क्यों? कि मोक्ष के पूर्णानन्द की प्राप्ति का कारण चारित्र; और चारित्र का पहला कारण सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता और सम्यग्दर्शन का कारण, वह त्रिकाली नित्य निर्मलानन्द प्रभु, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। आहा..हा..!

पर्याय में मलिनता है, परन्तु टिकती चीज़ नहीं, प्रभु! आहा..हा..! ज्ञातादृष्टा... योगसार में तो ऐसा लिया है, भाई! आत्मा को उपयोग लक्षणवाला क्यों कहा? आत्मा अनन्त गुणवाला है, ऐसा क्यों नहीं कहा? जड़, अनात्म गुणवाला है, ऐसा क्यों नहीं कहा? तो (समयसार गाथा २४ में) ऐसा कहा कि 'सव्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं' सर्वज्ञ भगवान, परमेश्वर, त्रिलोकनाथ ने ऐसा कहा, प्रभु! 'उवओगलक्खणो' उपयोग—जानना-देखना, वह लक्षण है। ये गुण तो अनन्त हैं, तो अनन्त गुण को एक-एक गुण से पकड़ने में काल चला

जाता है। समझ में आया ? जो उपयोग है, जानने-देखने का व्यापार उपयोग, वह चैतन्य का लक्षण है। आहा..हा.. ! 'उवओगलक्खणो णिच्चं' ऐसा शब्द है न ? आहा..हा.. !

जो जानन-देखन, उपयोगस्वभावस्वरूप नित्य है, परन्तु उसका निर्णय करनेवाली पर्याय, वह अनित्य है। आहा..हा.. ! यह वास्तविक लक्षण है। जानन-देखना जो पर्याय में दिखता है। उससे आत्मा लक्ष्य करने योग्य है। आहा..हा.. ! जानन-देखन उपयोग स्व को जानता है, लक्ष्य अर्थात् द्रव्य को जानता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? तो वह लक्षण, जिसका लक्ष्य करना है, वह चीज़ नित्य है। आहा..हा.. ! नित्य पर दृष्टि करने से सत्यदर्शन, सम्यग्दर्शन, धर्म की पहली सीढ़ी उत्पन्न होती है। आहा..हा.. !

कहते हैं कि पर्याय में जो मलिनता दिखती है.. जिसे आत्मा की शोध करते-करते.. आहा..हा.. ! यह क्या चीज़ है ? ऐसी शोध करनेवाले को शुभ और अशुभभाव टिकते नहीं - ऐसा दिखता है और रुचते नहीं, ऐसा दिखता है। समझ में आया ? पैसे-वैसे की यहाँ बात नहीं है। पैसा तो धूल कहीं बाहर रह गयी।

**मुमुक्षु :** मुनिराज कहीं पैसे की बात करें ? वह तो व्यापारी हो वह करे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पैसा भी था कब ? पैसे का तो चैतन्य में अभाव है। यहाँ तो भाव है, उसकी बात करते हैं। पैसा, शरीर, कर्म वह तो स्वद्रव्य में; जैसे एक अंगुली में दूसरी अंगुली का अभाव है; वैसे भगवान आत्मा अपने रूप से अस्ति है, स्व से मौजूद है और परपदार्थ से अभावस्वरूप है। आहा..हा.. ! उसकी बात यहाँ की ही नहीं। मात्र इसकी पर्याय में मलिनता का अस्तित्व उत्पन्न होता है... आहा..हा.. ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, परन्तु बहुत मुद्दे की रकम है। आहा..हा.. !

भगवान आत्मा चैतन्य के नूर का पूर। चैतन्य के तेज का पिण्ड, प्रभु! पूर.. आहा..हा.. ! वह तो निर्मल और टिकती चीज़ है। पुण्य और पाप की शुभ-अशुभ की जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वह तो मलिन है, टिकती नहीं, रुचिकर नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? ऐसी बातें ! चौरासी के अवतार करके, भाई ! आहा..हा.. ! बड़ा सेठिया अरबोंपति, वह मरकर ढेर होता है, भाई ! आहा..हा.. ! समझ में आया ? आहा..हा.. ! क्योंकि माँस आदि न हो और धर्म / सम्यग्दर्शन की तो खबर भी नहीं। अरे रे ! उसमें आत्मा की बात वीतराग कहते हैं, वह सुनने का समय भी चौबीस घण्टे में चार घण्टे, पाँच घण्टे निकाले नहीं... आहा..हा.. ! उसकी क्या गति होगी ? भाई ! बाईस घण्टे, इक्कीस घण्टे ये पाप। यह कमाया और यह कमाया और अमुक। आहा..हा.. !

यह कहते हैं कि प्रभु! सुन न एक बार। तेरे अस्तित्व में त्रिकाली अस्तित्व, वह त्रिकाली चीज़ है और तेरी वर्तमान दशा में शुभ और अशुभराग उत्पन्न होता है, वह मलिन है, टिकती चीज़ नहीं। एक क्षण रहकर दूसरे क्षण में नाश हो जाता है और उसकी रुचि नहीं। रुचती नहीं। दुःख-दुःख (लगता है)। यह तो जिसे अन्तर में जाना है, उसकी बात है। आहा..हा..!

वह मलिनता रुचती नहीं है; इसलिए मलिनता वस्तु का स्वभाव हो ही नहीं सकता। आहा..हा..! तीन टुकड़े में (बात की है)। मलिनता टिकती नहीं, मलिनता रुचती नहीं, इस कारण मलिनता वस्तु का स्वभाव नहीं। लॉजिक से, न्याय से इसे पकड़े। आहा..हा..! वीतरागमार्ग (ऐसा है)। वस्तु का स्वभाव हो ही नहीं सकता।

शुभ-अशुभभाव, चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, काम, क्रोध हो या चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव हो, वह भाव कायम रहनेवाली चीज़ नहीं है। एक समय टिकती चीज़ है, तो वह टिकनेवाली चीज़ नहीं है। आहा..हा..! और वह रुचती नहीं, क्योंकि जिसे अन्दर जाना है, उसे वह रुचती नहीं। आहा..हा..! और इसलिए वे पुण्य और पाप के मलिन भाव, वस्तु का स्वभाव नहीं हैं। तीन सिद्धान्त हुए। आहा..हा..! समझ में आया?

लोगों को पढ़कर इतना प्रमोद आता है। कितनों के ऐसे पत्र आते हैं। आहा..हा..! दूसरी आवृत्ति, अब बहिन बोले तो प्रकाशित करना, ऐसा लिखा है। आहा..हा..! लोग तो बेचारे... यह वस्तु ऐसी आ गयी है। आहा..हा..! बेचारे ने लिखा है। सादी भाषा, सरल भाषा और एकदम तत्त्व (आ गया है)। समझ में आया? क्या कहा?

भगवान ज्ञायक चैतन्य है, वह तो त्रिकाली ध्रुव है। यह अब कहेंगे। और पर्याय में मलिनभाव, शुभ-अशुभ लगनी-वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे टिकती नहीं, मलिन चीज़ है और उसमें रहना रुचता नहीं। आहा..हा..! इस कारण से वे रुचती नहीं। इस कारण वे पुण्य-पाप के मलिनभाव वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता। आहा..हा..! आहा..हा..! कठिन काम। अन्दर इसे कुछ पड़ी नहीं कि अरे! मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा? २३६।

२३७वाँ बोल। बड़ा है।

हे आत्मा!.. सम्बोधन किया है। हे आत्मा! यदि तुझे विभाव से छूटकर... पहले मलिनता की बात की। उस मलिनता के भाव से छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो... तेरे आत्मा की शान्ति, आनन्द (प्राप्त करना हो और) दुःख की पर्याय से मुक्त होना हो... आहा..हा..! वह



मलिनपर्याय दुःखरूप है। उससे मुक्ति चाहता है, आहा..हा..! विभाव से छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो... आहा..हा..! यहाँ तो यह लिया है कि विभाव से छूटकर मुक्तदशा प्राप्त... अर्थात् विभाव का व्यय और परमानन्दरूपी मुक्ति का उत्पाद। आहा..हा..! ऐसा मार्ग प्रभु का है, भाई!

तो चैतन्य के अभेद स्वरूप को ग्रहण कर। आहा..हा..! वस्तु जो कायम की चीज़ अन्दर एकरूप पड़ी है, उसमें पर्याय और गुण-गुणी का भेद भी नहीं। आहा..हा..! यह क्या (वस्तु है)? ध्रुव, अनन्त गुण का एकरूप, प्रभु! एक स्वरूप... आहा..हा..! उसका जो अभेदस्वरूप है, उसे ग्रहण कर। उस पर दृष्टि लगा। आहा..हा..! राग को ग्रहण किया है, वह तो मलिन है, नहीं टिकनेवाली चीज़ है और अरुचिकर है। तो भगवान आत्मा टिकती चीज़ नित्य चैतन्य को पूर अन्दर है। आहा..हा..! चैतन्य के तेज से भरा हुआ पूर है, उसे ग्रहण कर। यह बात...! अर्थात् उस चैतन्य ज्ञायक निर्मलानन्द प्रभु की दृष्टि कर। आहा..हा..! उसे ध्येय बना। 'विषय कुरु' तेरी वर्तमान श्रद्धा का विषय उसे बना। आहा..हा..! ऐसी बातें अब। समझ में आया?

चैतन्य के अभेद स्वरूप को ग्रहण कर। आदर कर। आहा..हा..! द्रव्यदृष्टि... यह द्रव्य अर्थात् वस्तु जो त्रिकाली भगवान है, उसकी दृष्टि सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर... आहा..हा..! सर्व प्रकार की पर्याय को... अवस्था को दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूप को ग्रहण करती है;... दृष्टि, वर्तमान पर्याय। दूसरी पर्याय को दूर करके। आहा..हा..! ये तो मन्त्र हैं, प्रभु! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। आहा..हा..! यह अनादि काल से दुःखी... दुःखी... दुःखी है। आहा..हा..!

(किसी को) फाँसी पर चढ़ावे और जीव न जाये, तब तक चार-चार, छह-छह घण्टे तक ऐसा का ऐसे (लटकाये रखते हैं)। वह कैसी पीड़ा होगी, भाई! समझ में आया? आहा..हा..! हम राजकोट थे। कैदियों ने नाम सुना। नाम तो बहुत बाहर आया है। इसलिए कैदियों ने भी सुना कि महाराज यहाँ हैं, हमें दर्शन करना है। जेल-जेल में। अब उन्हें दर्शन किस प्रकार हों? ऊपर से हुकम न आवे तब तक। अहमदाबाद से उनके जेल के बड़े प्रमुख का हुकम आया कि महाराज हैं, उनके मुझे दर्शन करना हैं। वे जेल में आवें। हमें भले बाहर न निकालो। आहा..हा..! हम गये थे। लोग बाहर आये। जेलर लोग दर्शन को चाहते हैं। हम गये। आहा..हा..! उन लोगों का ऐसा रिवाज होता है। बड़ी जेल होती है, इसलिए बड़े दो

दरवाजे होते हैं। बीच में तीन-चार हाथ की दूरी होती है, एक दरवाजा यहाँ, एक दरवाजा यहाँ। इसलिए यह दरवाजा खुले, तब यह दरवाजा बन्द रखे और वह दरवाजा अन्दर जाने के लिये खुले, तब यह दरवाजा बन्द कर दे। नहीं तो कोई कैदी (भाग जाये)। ऐसे खोलकर गये। आहा..हा..! उनका बड़ा जेलर था, वह बेचारा बोलता था। अरे! बेचारे ने आवेश में सब पाप किये और यह जेल है। ऐसा बेचारा कहता था।

उससे कहा, भाई! इसमें लिखा हुआ है, हों! अज्ञान से दुःख उत्पन्न होता है। जेल में लिखा है। मुझे तो दूसरा कहना है। बाहर निकलने के बाद उनका बड़ा जेलर था, उसने ऐसा कहा कि हम यहाँ फाँसी देते हैं। वह बताया। ऊपर गये। खूनी को यहाँ लाते हैं और फिर उसे टोपी पहनाते हैं और फिर डोरी बाँधकर पैर बाँधते हैं, पीछे हाथ बाँधते हैं, इसमें ले जाते हैं। इस जगह खड़ा रखते हैं। फिर डोरी बाँधकर ऊपर लटकावे। नीचे से लकड़ी ले लेवे - खींच लें। पैर बँधे हुए, हाथ बँधे हुए, इसलिए पूरा काँप उठे। ये दो-चार घण्टे कम्पित हो। आहा..हा..! फिर देह छूट जाये। आहा..हा..! ऐसा तो अनन्त बार हुआ है, हों! अरे! प्रभु! तू भूल गया, प्रभु! आहा..हा..! इस समय उसे चितार तो सही।

एक तो खूनी कैद में था। उसे फाँसी देनी थी। बीस-पच्चीस वर्ष की उम्र का था। उसने एक लड़की को काट डाला था, मार डाला था। अन्दर पड़ा था। मैं वहाँ से निकला, बेचारा पैर लगा (चरण छूए) परन्तु फाँसी निश्चित हो गयी थी। जवान व्यक्ति था। उसने फिर कहा कि देखो, इस प्रकार से इसे फाँसी देनी है। आहा..हा..! फाँसी समझे? आहा..हा..! एक खूनी मनुष्य तो ऐसा आया कि रात्रि में भजन किया। ऐसे मानो कि यह सब... दो-तीन घण्टे थोड़ी देर सो गया। सबेरे फाँसी देनी है। आहा..हा..! परन्तु वह हिम्मत रखता था, किन्तु जहाँ अन्दर गया और बाँधा, कंपकपी... कंपकपी... कंपकपी... कंपकपी... कंपकपी... आहा..हा..! फिर जिस दरवाजे में से डाला हो, वहाँ नहीं निकालना। अन्दर दूसरा दरवाजा होता है, वहाँ से मुर्दे को निकाले। आहा..हा..!

इसी प्रकार अनादि से राग की एकता की फाँसी इसे लगी है। यह दुःखी होकर जीता है, हों! आहा..हा..! इसे खबर नहीं। यह दया, दान का रागादि हो, यह राग मेरा स्वभाव है (- ऐसा मान लिया है)। पहले तो यह कहा कि मलिनता है, वह टिकती नहीं, रुचती नहीं; इसलिए वस्तु का स्वभाव नहीं। आहा..हा..! उसमें जिसे प्रेम है... आहा..हा..! भगवान अखण्डानन्द प्रभु को उसने फाँसी दी है। आहा..हा..! उस फाँसी से छूटना हो तो,

विभाव से छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो तो.. आहा..हा..! चैतन्य के अभेद स्वरूप को ग्रहण कर। द्रव्यदृष्टि सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर... सर्व प्रकार की (अर्थात्) वर्तमान पर्याय तो (स्वरूप को) ग्रहण करती है, उस पर्याय को दूर रखकर, ऐसा नहीं। समझ में आया? क्या कहा? यह तुम्हारे उस स्टील की बहियाँ नहीं हैं। ये तो दूसरी प्रकार की बहियाँ हैं। आहा..हा..!

भगवान अनन्त आनन्द की मूर्ति द्रव्य / वस्तु, उसकी दृष्टि करने से सर्व प्रकार की पर्याय... वर्तमान के अतिरिक्त (सभी पर्यायों को) दूर रखकर... वर्तमान पर्याय तो वहाँ उसे ग्रहण करती है। आहा..हा..! ऐसी बातें कहाँ (सुनने को मिले)? समझ में आया? पहले तो द्रव्यदृष्टि कहा न? तो दृष्टि, वह पर्याय है। द्रव्य की दृष्टि वह पर्याय है। आहा..हा..! भाई! यह तो अध्यात्म की अनमोल चीज है। आहा..हा..! द्रव्यदृष्टि ज्ञायक चिदानन्द नित्यानन्द प्रभु, जो एकरूप अभेद है, जो पर्याय में भी भेदरूप होकर नहीं आता... आहा..हा..! वह दृष्टि सर्व प्रकार की पर्याय को... व्यंजनपर्याय कहो या दूसरे अनन्त गुण की पर्याय कहो, सबको दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्यस्वरूप को ग्रहण करती है;.... यह दृष्टि। दृष्टि है पर्याय। आहा..हा..!

एक निरपेक्ष सामान्यस्वरूप को ग्रहण करती है;.... एकरूप ज्ञातादृष्टा, सामान्य अर्थात् सादृश्यस्वरूप, जिसमें भेद नहीं, जिसमें परिणमना नहीं, जिसमें कोई पर्याय नहीं। पर्याय उसे ग्रहण करे। द्रव्यदृष्टि उसे ग्रहण करे। द्रव्यदृष्टि है तो पर्याय, आहा..हा..! वह पर्याय, द्रव्य को ग्रहण करे परन्तु दूसरी सभी पर्यायों को दूर करके। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। अब इसमें कहाँ। इस दुनिया की होंश और हर्ष में यह मर गया है। आहा..हा..!

जिसका चैतन्य का नूर और तेज का पूर, प्रभु! उसका अनादर करके पर में उत्साह और हर्ष करे, वह तो जीव का अनादर करता है। आहा..हा..! वह जीव की अपनी हिंसा करता है। मैं तो ऐसा ज्ञाता, अनन्त गुण का पिण्ड ध्रुव सामान्य, वह नहीं; मात्र पुण्य और पाप के प्रेम में यह मैं, वह चैतन्य सामान्य स्वरूप का इसने अनादर किया। इसने सामान्य नहीं, ऐसा माना। वह नहीं माना, यह हिंसा है। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। आहा..हा..!

(संवत्) १९८४ के वर्ष में एक बार हम राणपुर थे। फिर एक हरिजन ढेढ़ पलंग भरता (बुनता) था। साधारण गरीब मनुष्य था। ऐसे उपाश्रय के सामने वोरा की शेरी थी। फिर उसे खाने का समय आया तो बैठा, वहाँ काली-कुबड़ी ऐसी उसकी स्त्री आयी, और एक छाछ

का एक दोना लायी और बाजरे की रोटी। लड़का, लड़की और स्त्री और सब बैठे, परन्तु मानो चक्रवर्ती का राज हो, ऐसे भोजन करने बैठे। आहा..हा.. ! सब ऐसा कहे अपना परिवार, अपने ये। अरे रे! क्या करता है ? कहा। यह। यह संवत् १९८४ के वर्ष की बात है। उपाश्रय के सामने। अरे रे! क्या करता है यह ? ऐसे यह स्त्री, पुत्र, परिवार और उसमें नौकर, मुनीम, पाँच-पचास लाख आमदनी इसे कराता हो, ऐसे सब एकसाथ बैठें और दीवाली के दिन हों, धड़ाका और फाड़ाका। आहा..हा.. ! इस हर्ष के जोश में बैठा, प्रभु! तूने तेरे चैतन्य का खून कर दिया। नाथ! आहा..हा.. ! आनन्द का सागर है, उसका तूने नकार किया और इसमें मुझे सुख है, उसका तूने हकार किया। आहा..हा.. ! धर्मी की दृष्टि.. आहा..हा.. ! पर्याय का नकार करके... आहा..हा.. ! यह तो बोलने की अपेक्षा से है और त्रिकाली ज्ञायक का हकार करता है। वह जीवते जीव को जीवता उसने रखा। आहा..हा.. ! ऐसी बातें हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? आहा..हा.. !

**सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्यस्वरूप को ग्रहण करती है;**... दृष्टि, वर्तमान पर्याय। भूत, भविष्य की पर्याय और दूसरी पर्याय को दूर करके, अपना त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. प्रवाह जो वस्तु पड़ी है, उसे ही ग्रहण करती है। **द्रव्यदृष्टि के विषय में...** उस वस्तु की दृष्टि जो है, उस दृष्टि के विषय में, उस दृष्टि के ध्येय में गुणभेद भी नहीं होते। पहले पर्याय को दूर करके, ऐसा कहा। अब उसमें गुणभेद भी नहीं ( -ऐसा कहते हैं )। ऐसी बातें हैं, भाई! अहो! जगत का भाग्य कि ऐसी चीज़ बाहर आ गयी। आहा..हा.. ! थोड़े शब्द में... समझ में आया ?

**द्रव्यदृष्टि के विषय में...** त्रिकाली ज्ञायक भगवान पूर्णानन्द प्रभु की दृष्टि में गुणभेद भी नहीं कि यह आत्मा द्रव्य है और इसमें अनन्त गुण हैं, ऐसा भेद भी नहीं। आहा..हा.. ! **ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर।** मुक्ति प्राप्त करनी हो, संसार के दुःख की पीड़ा का नाश करना हो तो यह कर, प्रभु! इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? आहा..हा.. ! **ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर।** आहा..हा.. ! पहले करने योग्य हो तो यह है। बाकी सब बातें हैं। आहा..हा.. !

वस्तु है न ? तो कायम रहनेवाली चीज़ है या नहीं ? अनुत्पन्न / उत्पन्न हुई नहीं, नाश हुई नहीं, वह तो ऐसी चीज़ है। इसकी पर्याय पलटती है, उसमें यहाँ जो राग-द्वेष के भाव कहे, वे तो नहीं टिकनेवाली चीज़ है। अब ? जब टिकती चीज़ पर तेरी दृष्टि करनी हो, विभाव से

मुक्त होकर पूर्ण आनन्द प्राप्त करना हो तो प्रथम दृष्टि द्रव्य पर दे। जिसमें अनन्त-अनन्त गुण के रत्न के भण्डार भरे हैं। आहा..हा..! ऐसा गुणभेद भी जिसकी दृष्टि में नहीं। आहा..हा..! ऐसा कहाँ? सर्वज्ञ परमात्मा... आहा..हा..!

बारोठ होता है न बारोठ? बारोठ नहीं बारोठ? इसके बाप की बातें करे। तेरे बाप आठ पैढ़ी से यहाँ थे, पाटन में ऐसे थे, वाव करायी थी, पचास हजार खर्च किये थे। अमुक-अमुक। यह सुने वहाँ। वयावचा, यह बारोठ कहते हैं न, क्या कहते हैं? भाट। बड़ा गृहस्थ होता है। लाखोंपति, बड़े भाट होते हैं। राणपुर में देखा था न। एक भावसार के यहाँ आता था। लाखोंपति। देखो तो बड़ा नागर जैसा। वह भावसार साथ में पढ़ता था। खत्री-खत्री। वह खत्री नहीं वहाँ? है न पोपट खत्री। अपने यहाँ आता है, वहाँ भी आता है। उसका घर उपाश्रय के साथ है, वहाँ वह एक बार आया था परन्तु उस नागर जैसा और रूपवान और शरीर बड़ा। परन्तु सब उसके वे बारोट-भाट सही न, सुनने बैठे।

यहाँ तेरे सर्वज्ञ बारोठ है, तेरे इतिहास की बात करते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! तेरा इतिहास तो यह है कि मलिनता के दुःख में तूने अनन्त काल व्यतीत किया, प्रभु! आहा..हा..! अब तो निर्मलानन्द प्रभु! आहा..हा..! जो वस्तु का स्वभाव है। पुण्य-पाप के भाव तो वस्तु का स्वभाव नहीं, क्योंकि मलिन, अरुचिकर और नाशवान है। आहा..हा..! अविनाशी भगवान अन्दर है, उसकी दृष्टि कर। पर्याय और गुण के भेद की दृष्टि छोड़ दे। आहा..हा..! विभाव से तो छोड़ दे परन्तु पर्याय और गुणभेद की दृष्टि छोड़ दे। अरे! ऐसी बातें हैं ये। आहा..हा..!

**ऐसी दृष्टि के साथ...** अब ज्ञान लिया। क्या कहा यह? कि ऐसी द्रव्यस्वरूप की दृष्टि हुई, उसके साथ में वर्तता हुआ ज्ञान... उसके साथ वर्तता हुआ ज्ञान वस्तु में विद्यमान गुणों... उस वस्तु में रहे हुए विद्यमान गुणों को भी ज्ञान जानता है। दृष्टि के विषय में गुणभेद नहीं है। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! सम्यग्दर्शन-दृष्टि जो है, वह तो त्रिकाल सामान्य को ही स्वीकार करती है। तब अब अन्दर गुणभेद है, पर्याय है। तो कहते हैं, उस दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान... आहा..हा..! वस्तु में विद्यमान गुण, अनन्त-अनन्त गुण, पर्याय - उसकी अवस्थायें, **अभेद तथा भेद को,**... अभेद को भी ज्ञान जानता है और गुणभेद तथा पर्याय को भी ज्ञान जानता है। समझ में आया? आहा..हा..!

दृष्टि अभेद द्रव्य पर है। उसमें कोई गुणभेद भी नहीं और पर्यायभेद भी नहीं परन्तु वह

दृष्टि सम्यक् हुई, उसके साथ सम्यग्ज्ञान की दशा हुई, वह गुणभेद को भी जानती है, पर्याय को भी जानती है... आहा..हा.. ! अभेद और भेद दोनों को जानती है। **विविध प्रकार से जानता है।** आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बातें। अब इसमें कहाँ कहीं... मार्ग यह है, भाई!

वस्तु जो एकरूप सामान्य, अभेद है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय तो अकेला अभेद ही है। बस। परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह ज्ञान तो आत्मा में अनन्त गुण हैं, उन्हें भी जानता है; पर्याय को भी जानता है; अभेद को भी जानता है; भेद को भी जानता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? ऐसी बातें अब सुनने को नहीं मिलती, बेचारे क्या करें ? आहा..हा.. ! **लक्षण...** जाने। आहा..हा.. ! चैतन्य, उपयोग लक्षण है; जड़, अनुपयोग लक्षण है। आहा..हा.. ! ऐसा ज्ञान जानता है। ज्ञान लक्षण को जानता है। दृष्टि लक्षण को नहीं देखती। दृष्टि तो द्रव्य / ध्रुव पर है। आहा..हा.. ! दृष्टि-श्रद्धा-सम्यग्दर्शन-है, वह तो अभेद ध्रुव पर अन्दर पड़ी है। ध्रुव को ग्रहण करके वहाँ एकाकार है। आहा..हा.. ! उसके साथ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान अनन्त गुण के भेद को भी जाने, पर्याय को जाने, अभेद को भी जाने, भेद को भी जाने। आहा..हा.. ! **विविध प्रकार से जानता है।** वह तो ज्ञान का स्वभाव है। अब ऐसा उपदेश! इसमें घर से कोई सुनने न आया हो और पूछे कि क्या कहा ? कौन जाने क्या कहते थे कुछ। इसका-उसका। सामान्य पर दृष्टि करना, फिर सामान्य के साथ ज्ञान हो, गुणभेद को दृष्टि देखती नहीं, परन्तु ज्ञान सबको जानता है। युगलजी! महिलायें कदाचित् सुनने न आयी हों। क्या सुना ? कौन जाने ? कुछ कहते थे। अन्दर। ऐसा है और ऐसा है। अरे! भाई! सुन, भाई! आहा..हा.. !

अरे रे! दुनिया के उत्साह में तेरी जिन्दगी पाप में गयी, नाथ! अरे! आहा..हा.. ! 'होंशिड़ा मत होंश न कीजे'। एक सज्जाय आती है। हमने तब सज्जाय पढ़ी थी न। (संवत्) १९६६-६७ के साल की बात है। तुम्हारे जन्म के पहले की बात है। दुकान पर स्वाध्याय (करते थे)। चार सज्जायमाला। श्वेताम्बर की, हों! एक-एक स्वाध्यायमाला में २००-२५० सज्जाय। एक-एक सज्जाय में १०-१५ श्लोक। दुकान पर ऐसी चार मँगायी थी। पढ़ते थे, उसमें यह आया। 'होंशिड़ा मत होंश न कीजे'। ए होंशिड़ा! पर में होंश (उत्साह) मत कर, नाथ! तेरा खून हो जाता है। आहा..हा.. ! पुत्र का जन्म हुआ और मेरा उत्तराधिकार रहेगा। पैसा मिला और मैं इज्जतदार गिना जाऊँगा। अरे! किसका तुझे उत्साह आता है ? प्रभु! ऐई! शान्तिभाई! क्या है यह ? यह तो सब तुम्हारे शून्य रखे जाते हैं। आहा..हा.. !

यहाँ कहते हैं, ज्ञान है, वह लक्षण को भी जानता है। दृष्टि तो लक्षण को नहीं देखती।

दृष्टि तो अभेद पर है। आहा..हा..! दृष्टि के साथ जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह लक्षण को जानता है। 'उपयोग लक्षण जीव' अनन्त गुण से जीव को पहिचानना, वह नहीं। क्योंकि अनन्त – अनन्त गुण हैं, उनमें सामान्य अनन्त गुण, विशेष अनन्त गुण हैं। आहा..हा..! तो उनकी पहिचान करने में 'उपयोग लक्षण जीवो' बस। आहा..हा..! यह जानन-देखन जो उपयोग लक्षण है, वह आत्मा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान, लक्षण को भी जानता है। आहा..हा..! अभेद को भी जानता है, लक्ष्य को भी जानता है। अरे.. अरे..! ऐसी बातें हैं।

**प्रयोजन इत्यादि अपेक्षा से गुणों में भिन्नता है...** लक्षण और प्रयोजन आदि से गुण में भिन्नता है। ज्ञान का लक्षण उपयोग, श्रद्धा की प्रतीति इत्यादि प्रत्येक गुण के लक्षण भिन्न हैं। समझ में आया? प्रयोजन भिन्न है। ज्ञान का जानना, श्रद्धा में प्रतीति करना, स्थिरता (चारित्र) में रमणता करना इत्यादि। **इत्यादि अपेक्षा से गुणों में भिन्नता है...** भगवान आत्मा एकरूप द्रव्यदृष्टि से होने पर भी उसमें अनन्त गुण हैं। आहा..हा..! तो अनन्त गुणों में लक्षण और प्रयोजन आदि से भिन्नता है। प्रत्येक गुण के लक्षण और प्रयोजन की भिन्नता है। आहा..हा..! ऐसी बातें कहाँ है! इसमें निवृत्ति कहाँ?

इसलिए यहाँ तो कहा न? जिसे विभाव से छूटना हो और अपनी मुक्ति-आनन्द की प्राप्ति करनी हो, दुःख से छूटना हो और सुख की प्राप्ति करनी हो तो उसे पहले अभेद की दृष्टि करना। आहा..हा..! सभी भेद को लक्ष्य में से छोड़कर। आहा..हा..! परन्तु साथ में जो ज्ञान हुआ, उसका लक्षण अलग चीज़ है। ज्ञान तो स्व अभेद को भी जाने, भेद को भी जाने, प्रयोजन आदि गुण के भेद जाने। वस्तु अपेक्षा से अभेद है। **ऐसा ज्ञान जानता है।** गुणभेद की अपेक्षा से गुण भिन्न है, ऐसा जानता है। वस्तु अपेक्षा से अभेद है। आहाहा! ऐसी बातें।

**इस आत्मा की यह पर्याय प्रगट हुई,...** यह ज्ञान जानता है। सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहा..हा..! सम्यग्दर्शन का विषय तो द्रव्य सामान्य अभेद ध्रुव है, परन्तु साथ में जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान जानता है कि **इस आत्मा की यह पर्याय प्रगट हुई,...** सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, यह ज्ञान जानता है। आहा..हा..! अरे रे! दुनिया को कहाँ से हटना पड़ेगा? भाई! भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ जाना पड़ेगा, भाई! अन्तर में अन्तरात्मा, अन्तर में अन्तरात्मा (विराजमान है)। बाह्य में राग और पर्याय को छोड़कर... आहा..हा..! अभेद अन्तर आत्मा को पकड़ना... आहा..हा..! यह तो दृष्टि का विषय अकेला अभेद ही है। तथापि दृष्टि के साथ जो ज्ञान सम्यक् हुआ, वह ज्ञान यह पर्याय प्रगट हुई, उसे भी जानता है। सम्यक् प्रगट हुआ, शान्ति प्रगट हुई, ऐसा ज्ञान जानता है। समझ

में आया ? क्योंकि ज्ञान का तो स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। आहा..हा.. ! दृष्टि का वह स्वभाव नहीं। आहा..हा.. ! दृष्टि का अभेद स्वभाव और ज्ञान के भेद-अभेद स्वभाव सबको जानना, यह तो एक गुण की यह (पर्याय) और दूसरे गुण की पर्याय यह। आहा..हा.. !

परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो यह वस्तु देखी, उसका वर्णन वाणी द्वारा आया। जाना, उससे तो अनन्तवें भाग आया। आहा..हा.. ! वाणी द्वारा कितना आवे। अन्दर अरूपी भगवान है। उसमें यह आया, कि प्रभु! तू द्रव्यदृष्टि कर। यदि तुझे मुक्ति और दुःख से छूटना हो तो (द्रव्यदृष्टि कर)। इस दृष्टि के विषय में तो अकेला अभेद ही है परन्तु जो सम्यग्दर्शन हुआ, पर्याय उत्पन्न हुई, अनन्त गुण हैं, ऐसा साथ में ज्ञान जानता है। आहा..हा.. ! ऐसा कहीं जयपुर-फयपुर में नहीं सुनने मिले ऐसा नहीं है। हैरान... हैरान के सब मार्ग हैं। जवाहरात के, हीरा के, माणिक और अमुक... अरे! प्रभु! यह तेरा हीरा-माणिक अन्दर। चैतन्यरूपी हीरा, जिसके अनन्त गुण के पासा पड़े हैं, प्रभु! यह दृष्टि तो अनन्त गुण के पासा को भी नहीं देखती। आहा..हा.. ! समझ में आया ? यह हीरा होता है न हीरा ? उसमें पासा होते हैं न ? पहेल-पहेल।

एक बार अस्सी हजार का हीरा देखा था। राजकोट लाये थे। अस्सी हजार का हीरा। इतनी डिब्बी थी। मखमल का वह.. अस्सी हजार का हीरा। अन्दर पासा में जरा निर्मलता कम थी, वरना तो उसकी कीमत बड़ी। बेचरभाई लाये थे एक बार बताने को लाये थे। आहा..हा.. !

यह हीरा भगवान ! अनन्त गुण के पासा से शरीर से भिन्न विराजता है। उसकी डिब्बी होती है। मखमल की डिब्बी होती है। (गुजराती में) डाबली कहते हैं। उसमें गड्डा होता है, उसमें हीरा रखा होता है। ऊपर डिब्बी सरीखी दबती है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा शरीर और कर्म के रजकण, उसके खड्डे में भगवान भिन्न विराजता है। आहा..हा.. ! उसकी मौजूदगी त्रिकाल एकरूप है। पहले उसकी दृष्टि कर। उसके बिना तेरे जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा, भाई ! व्रत-तप करोड़ों-अरबों रुपये का दान की लाख क्रिया कर न तू, उससे कहीं भव का अन्त नहीं है। यह राग है, वह तो संसार है। शुभराग, वह संसार है। आहा..हा.. ! गजब बात है।

ज्ञान इस आत्मा की यह पर्याय प्रगट हुई, यह सम्यग्दर्शन हुआ,... ऐसा जानता है। है ? ज्ञान जाने। सम्यग्दर्शन (न जाने)। यह सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा ज्ञान जानता है। यह मुनिदशा हुई,... अन्तर में आनन्द की धारा बही। आहा..हा.. ! ज्ञाता.. ज्ञाता.. ज्ञाता का अनुभव



करते-करते.. आहा..हा..! भगवान हो गया। मुनिदशा हो गयी। आहा..हा..! अन्तर में ज्ञाता दृष्टा के ध्रुव प्रवाह में रमते-रमते.. आहा..हा..! मुनिदशा हुई, ऐसा ज्ञान जानता है। सम्यग्दर्शन का विषय... मुनिदशा और समकित की पर्याय (नहीं है)। सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं। अरे! ऐसी बातें। समझ में आया? सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं। आहा..हा..! सम्यग्दर्शन का विषय अभेद चिदानन्द प्रभु! आहा..हा..! जो शरीर से, लक्ष्मी से तो भिन्न, राग से भिन्न, पर्याय से भिन्न, गुण-भेद से भिन्न है। आहा..हा..! यहाँ तक जाना इसे। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। आहा..हा..! ऐसी दृष्टि होने पर जो दृष्टि उत्पन्न हुई, उसे सम्यग्दर्शन नहीं जानता, परन्तु साथ में ज्ञान हुआ, वह जानता है। अरे.. अरे! ऐसी बात है। समझ में आया?

यह मुनिदशा हुई, यह केवलज्ञान हुआ.... यह ज्ञान जानता है। इस प्रकार सब महिमावन्त... ऐसी सब महिमावन्त पर्यायें। सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, केवलज्ञान। इस प्रकार सब महिमावन्त पर्यायों को तथा अन्य सर्व पर्यायों को ज्ञान जानता है। आहा..हा..! अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें एक समय में हैं, उन सबको ज्ञान जानता है। ऐसी बात है। ऐसा होने पर भी शुद्ध दृष्टि ( सामान्य के सिवा ) किसी प्रकार में नहीं रुकती। ऐसी पर्याय में दृष्टि नहीं रुकती। ज्ञान में सब ज्ञात होता है, तथापि दृष्टि तो सामान्य पर ही पड़ी है। बस! आहा..हा..! यह सामान्य क्या और विशेष क्या? कहीं इसकी बहियों में नहीं आया होगा। वाड़ा में कहीं नहीं मिलता। सामान्य अर्थात् एकरूप रहनेवाली चीज़ अन्दर त्रिकाल, उसे यहाँ सामान्य और दृष्टि का विषय कहते हैं। भाषा तो सादी है। आहा..हा..! अरे रे! इसने कभी दरकार नहीं की। इसकी स्वयं की दया नहीं आयी। यह लोग नहीं कहते? छह काय की दया पालो। परन्तु छह काय में तू एक है या नहीं। आहा..हा..! पहले तू तेरी दया पाल तो सही।

**मुमुक्षु :** दूसरे की तो पल जाती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दूसरे की तो कहाँ बात। राग न हो, इसलिए फिर पर की दया सहज पल जाती है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में आ गया है न? सबेरे अपने आया था। 'जीव रखम' जीव रक्षा कर सकता नहीं। परन्तु सहज राग का अभाव और स्वभावसन्मुख की दशा (हो), वहाँ पर की दया सहज पल जाती है। उसे पालना नहीं पड़ता। आहा..हा..! ऐसी बातें। क्या करे?

ऐसा होने पर भी शुद्ध दृष्टि ( सामान्य के सिवा ) किसी प्रकार में नहीं रुकती। आहा..हा..! दृष्टि में तो त्रिकाली ज्ञायकभाव जो पड़ा है, वह कायम रहता है। फिर साथ में ज्ञान

हुआ, वह सबको जानता है। समझ में आया ? साधक जीव को भूमिकानुसार.... चौथी, पाँचवीं, छठवीं (गुणस्थान की) भूमिकानुसार देव-गुरु की महिमा के,.... विकल्प आते हैं। देव-गुरु की महिमा का विकल्प आता है। वे भाई गये लगते हैं ? तारणपंथी थे वे। नहीं। उन्होंने जरा प्रश्न किया था। वह आया था न ? भाई ! सम्यग्दृष्टि को ही विकल्प का व्यवहार पूजा, प्रतिमा की भक्ति का होता है।

सम्यग्दर्शन हुआ। युगलजी ! हमारे सम्प्रदाय में एक प्रश्न हुआ था। एक स्थानकवासी के सेठ थे। वे कहते थे कि भाई ! मिथ्यादृष्टि है, तब तक प्रतिमा की पूजा है, परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् भगवान की प्रतिमा की पूजा नहीं; तो मैंने उनसे कहा, उनसे नहीं परन्तु दूसरों को कहा। वे तो अभिमानी थे। देखो भाई ! सम्यग्दर्शन हुआ, त्रिकाली ज्ञायक के भान के साथ ज्ञान हुआ। यह आया न ज्ञान, भावश्रुत। भावश्रुत ज्ञान हुआ, उसके दो भेद। एक निश्चय और व्यवहार। श्रुतज्ञान के दो नय—निश्चय और व्यवहार; अतः जिसे व्यवहारनय है... सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसे निश्चय और व्यवहारनय है और उस व्यवहारनयवाले को प्रतिमाजी के सामने ज्ञेय का नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव भेद, यह निक्षेप है, वह ज्ञान का विषय है, वह व्यवहारनय का विषय है; अतः उसे ही प्रतिमा यथार्थ है। युगलजी ! है व्यवहार परन्तु उसे राग आता है तो ऐसा ही आता है।

एकदम आत्मा का ध्यान करके निर्विकल्प होकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करे, उसे तो कोई व्यवहार नहीं है। वह व्यवहार है, परन्तु अन्दर आत्मा का ध्यान और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ। अभी केवलज्ञान हुआ नहीं। लाखों वर्ष रहनेवाले हैं तो उन्हें तीन लोक के नाथ की प्रतिमा, 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' का शुभभाव आये बिना रहेगा नहीं। व्यवहार है और व्यवहार का विषय वह है।

विशेष कहेंगे.....

( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव ! )